

श्री३म्

आर्यसमाज स्थापना शताब्दी का उपहार

ब्रह्ममुनि ग्रन्थ माला सं० ७५

अथर्ववेद मुनिभाष्य
[तीन काण्ड]

भाष्यकार और प्रकाशक

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

आर्यवानप्रस्थ आश्रम (हरिद्वार)

प्रथम संस्करण
१०००

कार्तिक २०३१ वि० संवत्
नवम्बर १९७४ ई०

मूल्य

पढ़ना प्रचार करना

पुस्तक विक्रेता से १) रु० भेंट देने पर

मुद्रक

सतीश चन्द्र शुक्ल

प्रबन्धकर्त्ता,

वैदिक यन्त्रालय अजमेर, (राज०)

पुस्तक प्राप्ति-स्थान

१. सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
दयानन्द भवन (रामलीला मैदान), नई दिल्ली
२. प्रकाशन विभाग, वैदिक यन्त्रालय
आर्यसमाज मार्ग केसरगंज-अजमेर
३. आर्य वानप्रस्थ आश्रम
(ज्वालापुर जिला सहारनपुर)
४. गोविन्दराम हासानन्द नई सड़क दिल्ली

सम्मति

श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी महाराज आर्य समाज के एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों और उनके द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के सिद्धान्तों में 'स्वामी ब्रह्ममुनिजी महाराज की गहन श्रद्धा और आस्था है। आपने ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों की पुष्टि करते हुए वेद, दर्शन और उपनिषदादि पर संस्कृत और हिन्दी में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। आप ऋषि दयानन्द की शैली पर वेदों का भाष्य करने के पवित्र कार्य में भी लगे हुए हैं। आपका यजुर्वेद के दस अध्यायों का भाष्य प्रकाशित हो चुका है पिछले दिनों आपने सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य भी लिखा है। इस क्रम में स्वामी जी महाराज ने अथर्व वेद का भाष्य भी लिखना प्रारम्भ कर दिया है। इस भाष्य के प्रथम काण्ड के कुछ स्थलों को बीच-बीच में मैंने देखा है। स्वामी जी के अन्य ग्रन्थों की भान्ति यह अथर्ववेद भाष्य भी उनकी प्रतिभा और विद्वत्ता का परिचायक है। यह भाष्य पूर्ण हो जाने पर उन द्वारा वैदिक साहित्य में एक भारी योगदान होगा और स्वाध्यायशील जनता के लिए यह एक बड़े काम की चीज होगी।

आचार्य प्रियव्रत
भूतपूर्व उपकुलपति
गुरुकुल काङ्गड़ी
विश्व विद्यालय हरिद्वार

मैंने आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री स्वामी ब्रह्ममुनिजी परिव्राजक कृत अथर्ववेद प्रथम काण्ड के भाष्य के अनेक अंशों को प्रारम्भिक प्राक्कथन सहित पढ़ा । मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता है कि उन्होंने अथर्ववेद के मन्त्रों पर गम्भीरता पूर्वक मनन करके उनके भाव को स्पष्ट करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है और कठिन शब्दों के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ, निघण्टु, निरुक्तादि के प्रमाण दिये हैं । यदि संस्कृत में भी यह भाष्य होता तो इस की प्रामाणिकता और उपयोगिता बढ़ जाती किन्तु इस से प्रकाशन व्ययादि दुगना हो जाता । ऐसी अवस्था में जब कि ८० वर्ष की वृद्धावस्था में हस्तनिर्बलता के कारण दूसरों से स्वलिखित की प्रति करवानी पड़ती है इसमें कठिनाई अत्यधिक बढ़ जाती अतः वर्तमान परिस्थिति में उन के भाष्यादि क्रम को मैं उचित समझता हूँ । आर्षग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा वे उस संस्कृत भाष्य के अभाव की कमी को बहुत अंश तक पूरा कर रहे हैं । मैं आशा करता हूँ कि सर्वशक्तिमान् भगवान् की कृपा से वे इस अथर्ववेद भाष्य को पूर्ण करने में समर्थ होंगे और उन्हें धनी मानी वेदप्रेमी तथा सभाओं का सहयोग इसे प्रकाशित करने के लिये मिलेगा जिससे सब लाभ उठा सकें । इस निर्बलता तथा वृद्धावस्था के होते हुए भी श्री स्वामी ब्रह्ममुनिजी का वेद भाष्यादि विषयक यह परिश्रम अभिनन्दनीय है जिसके लिये उनको सब प्रकार की नैतिक तथा आर्थिक सहायता सब धर्म प्रेमियों को देनी चाहिये ।

धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

(देवमुनिवानप्रस्थ)

वक्तव्य

सामवेद का भाष्य कर देने के पश्चात्—जो कि छप चुका था, “अथर्व-वेद” का भाष्य करना आरम्भ किया था, तीन काण्ड का भाष्य कर चुका था। “सावैदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा दिल्ली” को श्री पं० घर्मदेवजी विद्यामार्तण्ड तथा श्री आचार्य प्रियव्रतजी की प्रदर्शित सम्मतियों के सहित पत्र लिखा था कि आपके समय से बहुत पहिले मैं “अथर्व वेद” का पूरा भाष्य करके देदूंगा आप छपा लेना मुझे कुछ भी उस का पुरस्कार या प्रतीकार नहीं चाहिए। उक्त सभा का कोई उत्तर नहीं आया। पुनः “परोपकारिणी सभा अजमेर” का पत्र आया कि हम आप से ऋग्वेद दशम मण्डल का संस्कृत और आर्य भाषा में भाष्य कराना चाहते हैं हम उसे छपवायेंगे, तब मैंने निश्चय किया जो छपाना चाहते हैं उनका कार्य करना चाहिए, वह मैंने पूरा कर दिया है बिना किसी प्रतीकार के वह छप रहा है। अब सोचा था कि यह अथर्ववेद के तीन काण्डों का भाष्य छप जावे, आर्य जनता को आर्यसमाज की स्थापना शताब्दी पर बिना मूल्य उपहार भेंट करदूँ एतदर्थ सेवा में अर्पित कर रहा हूँ अब मेरे हाथ और आँखें भाष्य आदि लिखने में असमर्थ हो गए हैं।

स्वामी ब्रह्ममुनि

परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

धन्यवाद

रायसाहब चौधरी प्रतापसिंह जी मॉडल टाउन, करनाल वालों का मेरे प्रति बड़ा स्नेह और श्रद्धा है, उन्होंने इस भाष्य के लेखन और प्रेस कॉपी के लिए एक हजार रुपये प्रदान किए हैं उनका हार्दिक धन्यवाद है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ कागज, छपाई और जिल्दबंदी के लिये निम्न महानुभावों ने धन प्रदान किया है, उनका भी अत्यन्त धन्यवाद है।

मेरे भतीजे (बुआ के पौत्र) श्री अग्रम प्रकाश सिंगल डायरेक्टर इंजिनियर सिंचाई विभाग राजस्थान की प्रेरणा से—

श्री गुलाबसिंह जी आर्य भरतपुर	१०००)
श्री तीर्थराज जी भरतपुर	१०००)
श्री कन्हैयालाल जी बंसल भरतपुर	१०००)
श्री मनमोहन प्रकाश (भतीजे) एकजीक्युटिव इंजिनियर, चित्तौड़ ने अपने तथा अन्य के पास से	८५०)
श्री सेठ चानन शाह जी कपूर धनवाद	५००)
श्री हंसराज जी गुह आयरन सिंडीकेट दिल्ली	५००)
श्री त्रिजय कुमार जी, १७ बारह खम्भा रोड़, नई दिल्ली	३००)
श्री कृष्ण दत्तजी पुत्र श्री नारायण दत्तजी, १३, बारह खम्भा रोड़, नई दिल्ली	२००)
श्री ओ३मप्रकाश जी धीमाव रुड़की	२००)
श्री बंसीलाल जी रुड़की	१००)
श्री किशनलाल जी रुड़की	१००)
श्री चाननलाल जी आहूजा, वानप्रस्थ आश्रम	१००)

❀ ओ३म् ❀

अथर्व वेद मुनिभाष्यम्

प्राक्कथन

❀—❀—❀

ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद नाम से चार संहितारूप हैं ।
इन्हें कहीं चार वेद न कहकर तीन कहा है ।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

(मनु० १।२३)

अग्नेऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः ।

(शतपथ ११।५।८।३)

उक्त मनु और शतपथ ब्राह्मण के वचनों में तीन वेद कहे हैं अथर्ववेद का नाम नहीं दिया है ।

यज्ञ में विनियोगार्थ तीन वेद कहे हैं 'यज्ञसिद्धयर्थम्' शब्द से स्पष्ट है ।
ऋग्वेदीय अनुक्रमणी के षड्गुरुशिष्यभाष्य में कहा है कि यह तीन का कथन विनियोक्तव्य दृष्टि से है—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्शयते ।

ऋग्यजुसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ॥

(ऋ० अनुक्रमणी षड्गुरुशिष्य)

शतपथ ब्राह्मण में जो ऋग्यजुः साम तीन कहे हैं वे त्रयीविद्या या विद्यात्रयी की दृष्टि से कहे वहाँ भी चार वेद बतलाए हैं अथर्ववेद का नाम दिया है ।

वेदों में अथर्ववेद की गणना—

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ।

(शत० १४।५।४।१०)

तथा—

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य

निःश्वसितमेतद्ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ।

(शत० १४।५।५।१०)

अथर्ववेद में भी—

यस्माद्दृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।

सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः सिवदेव स ॥

(अथर्व० १०।७।२०)

न केवल अथर्ववेद में ही अपितु ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी अथर्ववेद का सङ्केत है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि ह जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥

(ऋ० १०।९०।९, यजु० ३१।९)

यहां 'छन्दांसि' शब्द अथर्ववेद के लिये प्रयुक्त है जैसे बृहदारण्य-कोपनिषद् में छन्दांसि अथर्ववेद के लिये आया है ।

यदिदं किंचर्चोयजूंषि सामानिच्छन्दांसि ।

(बृह० १।२।५)

अतः अथर्ववेद भी ऋग्वेदादि के समकालीन सिद्ध है ।

(५)

पितु अथर्व का अन्य नामों से वर्णन—

वेद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।

हरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥

(अथर्व० ११।८।२३)

तमृचश्च सामानि च यजूषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ॥

(अथर्व० १५।६।८)

इन दोनों अथर्व वेद वचनों में अथर्ववेद को-ब्रह्मवेद भी कहा है ।

तथा गोपथ ब्राह्मण में भी अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहा है ।

चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः ।

(गोपथ पू० २।१६)

ऋग्वेद एव भर्गो यजुर्वेद एव महः सामवेद

एव यशो ब्रह्मवेद एव सर्वम् ।

(गोपथपू० ५।१६)

अथर्ववेद का पांचवां नाम ब्रह्मवेद भी हुआ । अतएव यज्ञ में अथर्ववेद

का ऋत्विक् नाम ब्रह्मा ब्रह्मवेद अध्ययन या पाठ करने वाला हुआ । जैसे—

ऋग्वेद का पाठक होता यजुर्वेद का पाठक अध्वर्यु सामवेद का पाठक उद्गाता

ऋत्विक् कहलाता है ।

अथर्वाकावेद अथर्ववेद । अथर्वा ब्रह्मा अतः अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहा

है । तथा अथर्व भेषज को कहा है अतः उसे भेषज वेद भी कह सकते हैं,

जैसे—

तद्यदब्रवीदथर्वाङ्गनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत् ।

(गो० ५।१।४)

शलों में भेषज है—

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।

(अथर्व० १।६।२)

(६)

भेषजं ही अथर्वा है “येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्” ।

(गो० २।६।४)

शारीरिक एवं बाह्य प्रतिकूल गतियों के प्रतीकार साधन को भेषज कहते हैं, अथर्वा भी इसी आशय को रखता है ।

“थर्वतिश्चरति कर्मा तत्प्रतिषेधः” ।

(निरु० ११।१६)

जैसे अथर्वा का अर्थ भेषज है एवं ब्रह्मा का अर्थ भी भेषज है ।

“ऋचः सामानि भेषजा यजूंषि” ।

(अथर्व० ११।६।१४)

जैसे अथर्ववेद के स्थान पर ब्रह्मवेद का प्रयोग है एवं ब्रह्मवेद के स्थान पर यहाँ ‘भेषजा भेषजवेद है । और भी स्पष्ट रूप में देखें ।

येऽथर्वाणस्तद् भेषजं यद् भेषजं तदमृतं यदमृतं तद् ब्रह्म ।

(गो० पू० ३।४)

इस वचन में अथर्ववेद भेषजवेद अमृतवेद ब्रह्मवेद नामों से भी कहा जा सकता है । ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ में ब्रह्मा ऋत्विक् को भिषक्-भेषजकर्ता कहा है ।

यज्ञस्य हैषभिषग् यद् ब्रह्मा यज्ञायैव तद् भेषजं कृत्वा हरति ।

(ऐ० ५।३४)

और भी अथर्ववेद में खगोल वेत्ता ज्योतिषी ब्रह्मा—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम् ।

सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्यांश्नाति पार्थिवः ॥

(अथर्व० १४।१।३)

(५)

पीने वाले सोम उसे कहते हैं । जिस औषधि को पीसते हैं परन्तु सोम जिसे कोई नहीं खा पी सकता उसे ब्रह्मा जानता है जो चन्द्रमा है ।

ब्रह्मा वैज्ञानिक विश्वकर्मा—

(इंजीनीयर)

ब्रह्मणा शालां निर्मितां कविभिर्निर्मितां मिताम् ।

(अथर्व० ९ । ३ । १९)

ब्रह्मा के द्वारा निर्मित रूपरेखा में लाई हुई शाला को कवि-मिस्री बनाते हैं ।

औषधि चिकित्सक के लिये ब्रह्मा शब्द—

देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माणं उत वीरुधः ।

चीतिं ते विश्वे देवा अविदन् भूम्यामधि ॥

(अथर्व० २ । ९ । ४)

भिषक् ब्रह्मा है औषधियों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट किया है । पशु-चिकित्सक शल्यचिकित्सक ब्रह्मा—

उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥

(अथर्व० ३ । २८ । २)

यहाँ यमिनी युगल बच्चे देने वाली गौ को ब्रह्मा को सौंपे, जिससे वह स्वस्थ अच्छी हो जावे ।

शल्य द्वारा चिकित्सा करने वाला ब्रह्मा—

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् ।

तेर्न ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्चवानयमस्तु प्रजावान् ॥

(अथर्व० ६ । ६८ । ३)

❀ ओ३म् ❀

प्रथम काण्ड

❀—❀—❀

प्रथम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर-स्थिर मनवाला)

देवता—वाचस्पतिः (वेद वाणी का स्वामी परमात्मा^१ वाक्-
विद्या का रक्षक आचार्य^२ वाक्-शक्ति का रक्षक
प्राण^३)

वक्तव्य—सूक्त में 'त्रिषप्ताः' शब्द महत्त्वपूर्ण और सन्दिग्ध है सूक्तार्थ इस पर निर्भर है इसके स्पष्ट हो जाने से सूक्तार्थ स्पष्ट हो जाता है अतः इसका विवेचन करते हैं। भाष्यकार सायण ने अथवा-अथवा करके तीन प्रकार के अर्थ किए हैं। अन्य भाष्यकारों ने भी अनेक अर्थ किए हैं। 'त्रिषप्ताः' शब्द संख्यावाचक बहुव्रीहि समास है जो अन्यपदार्थ में होता है। इसमें 'त्रि' और 'सप्त' ये दो शब्द हैं। सायण आदि विद्वानों ने 'त्रि' शब्द से जितने भी त्रिक हैं वे लिये हैं जैसे—पृथिवी अन्तरिक्ष, द्युलोक। अग्नि, वायु, आदित्य। सत्त्व, रजः, तमः,। ब्रह्मा, विष्णु, महेश,। भूत, वर्तमान, भविष्यत्। ईश्वर, जीव, प्रकृति। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय। बाल्य, यौवन, जरा। स्त्री, पुरुष, नपुंसक। वात, पित्त, कफ। अ, उ, म्। भूः भ्रुवः, स्वः। एक वचन,

१ "ब्रह्म वै वाचस्पतिः" (काठक, २७।१)

२ "यो वै वाचोऽध्यक्षः स वाचस्पतिः" (मै० २।२।५३)

३ "प्राणो वै वाचस्पतिः" (शत० ४।१।१।९१)

द्विवचन, बहुवचन । और सप्त शब्द से जितने भी सप्तक हैं वे सब लिये हैं । जैसे—सप्तचि, सप्तग्रह, सप्त मरुद्गण, सप्त छन्द, सप्त दिशाएं सप्त ऋत्विक्, सप्त आदित्य, सप्त सिन्धु, पृथिवी-जल-अग्नि-वायु-आकाश, पञ्च-तन्माबाएं-ग्रहङ्कार । सप्तलोक, रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र । भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम्, सप्तस्वर, सप्तविभक्तियां, सप्तरंग इत्यादि अर्थ 'त्रिषप्ता' के उन उन विद्वानों ने किये हैं । परन्तु इतने अर्थों की एक प्रकरण में सङ्गति नहीं हो सकती ।

'त्रिषप्ताः' का अर्थ 'त्रयो वा सप्त वा' ऐसा विग्रह करके कुछ त्रिक और कुछ सप्तक लिये जाएं परन्तु विग्रह में सांशयिक अर्थ की सम्भावना नहीं क्योंकि 'त्रि' और 'सप्त' संख्या में बहुत अन्तर है जो परस्पर समीप की संख्या में ही सम्भव है जैसे 'द्वित्राः, त्रिचतुरः'—दो तीन या तीन चार । निश्चित न दो न तीन, या निश्चित न तीन न चार । और एक पक्ष में तीन और एक पक्ष में उन्हें सात कह सकें यह समास शास्त्र के विरुद्ध है क्योंकि इस में अन्य पदार्थ की हानि है यह मार्ग भी उपादेय नहीं है ।

अथवा कुछ पदार्थ हैं उन्हें एक दृष्टि में तीन भी कह सकते हैं और उन्हें ही दूसरी दृष्टि से सात भी कह सकते हैं ऐसे पदार्थ भौतिक जगत् में लोक हैं जो लोकत्रय 'भूः भुवः-स्वः' (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक हैं) तथा उन्हें सप्त लोक भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः-सत्य' भी कह सकते हैं । शरीर के अन्दर वात, पित्त, कफ, धातुत्रय भी कह सकते हैं और रस रक्त मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र सप्त भी कह कहते हैं, यह कथन प्रथम मन्त्र में तो कुछ अच्छा लगता है परन्तु पूरे प्रकरण में ठीक नहीं बैठता है ।

'त्रिषप्ताः' में तीन और सात मानकर दश संख्या लेने का तो अवकाश ही नहीं यह द्वन्द्व समास का विषय है, परन्तु यहाँ तो बहुव्रीहि समास है, त्रिगुणित सात करके एककीस होते हैं, सो यह ठीक नहीं गुणित शब्द साक्षात् नहीं है इसका लोप मानकर समास बनाना अशास्त्रीय है अविहित है । अतः 'त्रिषप्ताः' में महाभाष्य व्याकरणानुसार मुजर्थ लेना चाहिये । जो तीन आवृत्ति

करके तीनों स्थानों में सात प्रगति करते हैं । कोई विद्वान् 'सत्त्व, रजः, तमः' तीन गुणों में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, पञ्चतन्मात्र, अहङ्कार को लेते हैं परन्तु यहाँ पञ्चतन्मात्र एक नहीं सांख्य सूत्र में "पञ्चतन्मात्राणि" (सांख्य० १ । ६१) बहुवचन में हैं । इससे तो अच्छी कल्पना यह है कि प्रकृति की साम्यावस्था के सत्त्व, रजः तमः गुणों में उसके विकार-महत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राणं ये सात ले लेना साक्षात् घटते हैं, परन्तु यह अर्थ भी प्रकरण को पूरा नहीं करता है । अस्तु ।

हम पूरे अनुवाक को एक शृङ्खला में बँधा हुआ देखना चाहते हैं, इस प्रथम अनुवाक में छः सूक्त हैं, पिछले ४-६ सूक्तों में तो 'आपः' (जलों) का वर्णन है, उनका देवता 'आपः' दिया भी है । तृतीय सूक्त में प्रधानता से मूत्र का वर्णन है जो कि मूत्र जल का ही रूप है, द्वितीय सूक्त में 'शर' और उसके पिता पर्जन्य आदि देवताओं का विचार है यों तो 'शर' भी जल है "उर्ग वै शरः" (तै० ६ । १ । ३ । ३ ।) "अङ्गिरो वै स्वर्गं लोकं यन्तस्ते मेखलाः संन्यविकरन् ततः शर उदतिष्ठत्" (कपिष्ठल० ३६ । १) 'शर जलम्' (मोदनी कोषे) पर्जन्य मेघ स्वयं जल रूप है ही तथापि छद्मो दिशाओं के पर्जन्य आदि देवताओं पृथिवी को कोटियां (धनुष-दण्ड के शिरो) तथा उनके मध्य 'आपः' अप् तत्त्व धारा ज्या—(धनुष् डोरी) के रूपक में आकर भिन्न-भिन्न दिशाओं के 'शर' अर्थात् शर की भांति प्रगतिशील या वेगशील पदार्थों को हम तक (पृथिवी तक) प्रेरित करते हैं । रहा प्रथम सूक्त इसमें 'त्रिषताः' शब्द का अर्थ 'आपः' लिया जावे तो यह सारा अनुवाक एक शृङ्खला में बँध जाता है । इस प्रकार अथर्ववेद का प्रधान विषय भी निर्धारित हो जाता है 'आपः' देवता । ऋग्वेद में पृथिवी-स्थानी अग्नि, यजुर्वेद में अन्तरिक्ष स्थानी विद्युन्मय वायु, सामवेद में द्युस्थानी आदित्य देवता है । उन तीनों अग्नियों का अधिष्ठान या अभिव्यंजक सर्वस्थानी 'आपः' का वर्णन अथर्ववेद का महत्त्वपूर्ण विषय है, जलों से अग्नि प्रकट होता है यह प्रमाणित है, "अद्भुवो वा एषोऽग्निः प्रथममाजगाम" (शत० ६ । ७ । ४ । ४) इस प्रकार प्रथम अनुवाक में

‘आपः’ का वर्णन हो जाने से द्वितीय अनुवाक में वर्णित अग्नि से एकसूत्रता भी हो जाती है ।

मन्त्र में ‘त्रिषताः’ शब्द का सुजर्थ व्युत्पत्ति से “सुजभावोऽभिहितार्थ-त्वात्समासे” (महाभाष्य० २।२।२) तीन आवृत्ति में आने वाले सात, तीन स्थानों में होनेवाले सात । जैसे “द्विदशाः” (महाभाष्यव्याकरण ३।२।२) दो आवृत्ति में आने वाले दश-दो स्थानों में विद्यमान दश । इस लक्षण के अनुसार ‘त्रिषताः’ आपः है “प्रसुव आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सद्ने विवस्वतः । प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः” (ऋ० १०।७५।१) इस मन्त्र में स्पष्ट रूप में ‘आपः’ (जलों) को ‘आपः.....सप्त सप्त त्रेधा प्रचक्रमुः’ कहा है, तीन स्थानों में सप्त सात प्रगति करते है ‘आपः’ तीनों लोकों में । सायणाचार्य ने भी इसका ऐसा ही अर्थ किया है “त्रेधा पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि च” आपः तीनों लोकों में है “इयं पृथिवी वा अपामयनमस्यां ह्यापो यन्ति” (श० ७।५।२।५०) “अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम्” (श० ७।५।२।५७) “द्वौ वा अपां सदनम्” (श० ७।५।२।५६) इन प्रमाणों में पृथिवी को ‘आपः’ जलों का अयन गतिस्थान, अन्तरिक्ष को ‘आपः’ जलों का सधस्थ, द्युलोक को ‘आपः’ जलों का सदन बतलाया है, इसी अनुवाक के चतुर्थ सूक्त में भी कहा है “अभूयां उपसूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह “जो ‘आपः’ अप्तत्त्व-सूर्य में है अथवा जिनसे सूर्य प्रकाशमान होता है कहा है । इस प्रकार तीनों लोकों में प्रगति करने वाले ‘आपः’ अप् तत्त्वों का स्थूल रूप द्युलोक में सात रश्मियां (किरणें) अन्तरिक्ष में सप्त मरुद्गण (वायु-प्रतिधियां-वायुस्तर) और पृथिवी पर सप्त जलप्रवाह हैं । इन त्रिस्थानी अप्तत्त्वों से क्रमशः द्युलोक में सूर्य अन्तरिक्ष में विद्युत् या विगुन्मय वायु, और पृथिवी पर अग्नि, ये तीनों अग्नियां प्रकट होती हैं । तथा ब्रह्म पाती हैं । इन से ‘आपः’-अप्तत्त्वों से समस्त जगत् में परमात्मा आंत व्याप्त है, कहा भी है “तद्यदन्नवीदब्रह्म-आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्यामि मदिदं किञ्चेति तस्मादापोऽभवत्” (गो० पू० १।२) “अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्” (श० १।१।१)

१।१४) वे ये ऐसे 'आपः' त्रिषता नाम से यहां कहे है। अब मन्त्रार्थ करते हैं—

आधि दैविक दृष्टि में सूक्तार्थ—

ये त्रिषताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।

वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥

(ये त्रिषताः) जो कि तीनों-पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में सात सात भेद से वर्तमान हुये 'आपः' अप् तत्त्व-द्युलोक में सात रश्मियां, अन्तरिक्ष में विद्युन्मय सात वायुस्तर, पृथिवी पर सात जलप्रवाह, सात, प्रकार की नदियां (विश्वा रूपाणि) सब रूपवानों या निरूपण करने योग्य उत्पन्न वस्तुओं को (बिभ्रतः) धारण और पोषण करते हुये (परियन्ति) परिक्रमण करते हैं—सब ओर गति करते हैं। (तेषां बला) उन के बलों सामर्थ्य को (मे तन्वः) मेरे शरीर में^१ (अद्य) आज-अब-निरन्तर (वाचः-पतिः) वेदवाणी का स्वामी परमात्मा (दधातु) धारण करावे-प्रविष्ट करावे।

सृष्टि में उत्पन्न 'आपः-अप् तत्त्व' द्युलोक में सात रश्मियों के रूप में समस्त ग्रह तारों को गति प्रदान करते हैं, अन्तरिक्ष में विद्युन्मय वायुस्तरों के रूप में सूक्ष्म कणों, तरङ्गों, मेघदलों और शब्द आदि को स्थानान्तर में जाने को मार्ग प्रदान करते हैं। पृथिवी पर वे जल-प्रवाहों के रूप में पृथिवी को सींचते हुए प्राणियों को चलने के लिये मार्ग दशति हैं। इन त्रिषथानी अप्तत्त्वों के रहते हुए परमात्मा की आराधना, शरीर में तेज स्फूर्ति और जीवनीयशक्ति बनती है ॥ १ ॥

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।

वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥

१ "सुपां सुपो भवन्तीति" सप्तमीस्थाने षष्ठी ।

(वाचः-पते) हे वेदवाणी के स्वामिन् परमात्मन् ! (देवेन मनसा सह) सत्य^१ मन से या यथार्थ मनन के द्वारा (पुनः-एहि) पुनः पुनः या बारम्बार हमारे मन का अवलम्बन या लक्ष्य बन (वसोः-पते) हे सृष्टि यज्ञ के पालक^२ (मयि) मेरे शरीर में (एव) ही-निश्चय (निरमय) उन 'आपः' अप्तत्त्वों के बलों को निरन्तर सात्म्य कर अङ्गीभूत कर (मयि) मेरे अन्तःकरण में (श्रुतम्) उनका श्रवण ज्ञान (अस्तु) हो-स्थिर हो ॥ २ ॥

इहैवाभि वि तनुभे आर्त्नी इव ज्यया ।

वाचस्पतिर्नियच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

(इह-एव) इसी मेरे जीवन में (उभे) पूर्वोक्त अप्तत्त्वों के बल और ज्ञान दोनों (ज्यया) धनुष में लगी डोरी (आर्त्नी-इव) जैसे दोनों ओर दण्ड सिरों को (अभि वितनु) सङ्गत करती है वैसे सङ्गत करे-संयुक्त करे । तथा (वाचस्पतिः) परमात्मा (मयि-एव) मेरे में अवश्य (नियच्छतु) नियन्त्रित करे, और (मयि) मेरे में (श्रुतम्) ज्ञान हो ॥ ३ ॥

उपहृतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्ययताम् ।

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥ ४ ॥

(वाचः-पतिः) वेद वाणी का स्वामी परमात्मा (उपहृतः) जब भी हमारे द्वारा अपनाया गया हो-जब भी हमने उसे अपनाया हो, (वाचः-पतिः) वह परमात्मा (अस्मान्-उपह्वयताम्) हमें अपनाता है, ऐसे अपनाते वाले को (श्रुतेन) श्रवण से-श्रवण चतुष्टय से श्रवण मनन निदिध्यासन साक्षात्कार से (सङ्गमेमहि) सङ्गति में लावें सम्प्राप्त करें (श्रुतेन मा विराधिषि) मैं श्रवण से विमुक्त न होऊँ ॥ ४ ॥

१ "सत्यमेव देवाः" (श० १।१।१।४)

२ "यज्ञो वै वसुः" (श० १।७।१।९)

मनसा
: यां
यज्ञ
उन
कर
(
वु)

आध्यात्मिक अर्थात् शरीरान्तर्गत दृष्टि में सूक्तार्थ 'त्रिषप्ताः' वात-पित्त-कफ में संसक्त होने वाले रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र पदार्थ समस्त प्राणियों को धारण पोषण करते हुए रचनाक्रिया में परिवर्तित होते रहते हैं आत व्यात रहते हैं उनके बलों को मेरे शरीर में निरन्तर शरीरयन्त्र का चालक हृदयस्थ प्राण "प्राणो वै वाचस्पतिः" शरीर में धारण करावे ॥ १ ॥

हे प्राण तू दिव्य मन के साथ शरीर में पुनः पुनः गति कर, हे शरीरयज्ञ को बसाने वाले चालक मेरे अन्दर मेरे शरीर में धातुओं के बलों को निरन्तर रमण करा तू भी रमण कर, तेरा श्रवणीय शब्द 'लुप् डप्' ध्वनि ठीक बनी रहे, हृदयगति भङ्ग न हो ॥ २ ॥

इसी शरीर धनुष् में बन्धी डोरी द्वारा कोटियों की भांति हृदय के दोनों सिरों को रक्त प्रवेश और रक्त-निकास के भागों को दोनों और फैला सज्जतकर, आप प्राण मेरे शरीर में अवश्य नियन्त्रण करता रहे, मेरे शरीर में श्रवण ध्वनि रहे ॥ ३ ॥

प्राण हमारे द्वारा श्वासोच्छ्वासों से सेवित हुआ हमें भी प्राण उपयुक्त करता है स्वस्थ बनाता है उसके सुनने योग्य गति ध्वनि के साथ जीवन चले उससे मैं विमुक्त न होऊँ ॥ ४ ॥

आधि भौतिक (व्यावहारिक) दृष्टि में सूक्ताशय—

जो वेदत्रयी-विद्यात्रयी में ज्ञान कर्म उपासना में गायत्री आदि सात छन्द दिव्यवचन सारे रूपों-निरूपणीयतत्त्वों विषयों को धारण करते हुए परिबद्ध करते हैं परिप्राप्त करते हैं उनके बलों को-लाभों को मेरे शरीर में-ज्ञानद्वारा मन में आज-इस जीवन में-वाक्पति आचार्य धारण, करावे-समझावे ॥ १ ॥

हे आचार्य ! तू अपने दिव्य मन के साथ बार बार आ निरन्तर आ, हे बसाने वाले विद्यातत्त्वों के स्वामिन् ! तू अवश्य उन वेद विद्याओं को मेरे अन्दर रमण करा मेरे में श्रवण किया हुआ वचन स्थिर हो ॥ २ ॥

इसी मेरे जीवन में धनुष् में बन्धी डोरी द्वारा कोटियों की भाँति इस लोक में तथा परलोक अभ्युदय और निःश्रेयस को सङ्गत-विस्तृत कर मेरे में सुना हुआ स्थिर रहे ॥ ३ ॥

विद्वाप् आचार्य हमारे द्वारा स्वीकृत किया हुआ अपनाया हुआ वह आचार्य हमें भी अपनाता है, पुनः श्रवण किए विषय से हम संयुक्त हों उस श्रवण से मैं विमुक्त न होऊँ ॥ ४ ॥

द्वितीय और तृतीय सूक्त

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवता—पर्जन्यादयः (मेघ आदि मन्त्रों में कहे)

विद्वा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।

विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्षसम् ॥ १ ॥

ज्या के परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि ।

वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषास्या कृधि ॥ २ ॥

वृक्षं यद्गावः परिस्वणाना अनुस्फुरं शरमर्वन्त्युभुम् ।

शरुमसद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेर्जनम् ।

एवा रोगं चास्त्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

विद्वा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्णयम् ।

तेना ते तन्वेऽं शं करं पृथिव्यां

ते निषेचनं बहिष्ठे अस्तु बालिति ॥ १ ॥

विद्या शरस्य पितरं मित्रं शतवृण्यम् ।

तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां

ते निषेचनं बहिष्ठे अस्तु बालिति ॥ २ ॥

विद्या शरस्य पितरं वरुणं शतवृण्यम् ।

तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां

ते निषेचनं बहिष्ठे अस्तु बालिति ॥ ३ ॥

विद्या शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृण्यम् ।

तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां

ते निषेचनं बहिष्ठे अस्तु बालिति ॥ ४ ॥

विद्या शरस्य पितरं सूर्यं शतवृण्यम् ।

तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां

ते निषेचनं बहिष्ठे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

यदान्त्रेषु गर्वीन्योर्यद्वस्तावाधि संश्रितम् ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥

प्र ते भिनक्षि मेहनं वत्रै वेशन्त्या इव ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ७ ॥

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ९ ॥

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि घन्वनः ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ८ ॥

वक्तव्य—पूर्व सूक्त में वर्णित 'आपः' अप् तत्त्व के रूप में परिभ्रमण करते हुए छत्रों दिशाओं के देवताओं और हमारी पृथिवी के मध्य ज्या

(धनुष् की कोटियों में डोरी) बनकर 'शर' (इषु-वाण) फँकते हैं। वे शर (इषु) उन उन दिशा सम्बन्धी देवताओं की दिव्यशक्ति के फलस्वरूप हैं उनका वर्णन (अथर्व० ३। २७। १-६। "प्राची दिग्गनिरधिपतिरसिती रक्षिताऽऽदित्या इषवः" इत्यादि मन्त्रों में आता है। इनको फँकने वाली डोरी 'आपः'-अप् तत्त्व धाराएं दिशा के भेद से किस किस को कोटि बनाते हैं यह रूपक द्वितीय तृतीय सूक्त में है द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र के पूर्वाद्ध से समस्त मन्त्रों के पूर्वाद्ध का प्रथम सूक्त के द्वितीय आदि मन्त्रों के साथ सम्बन्ध रखते हैं तथा तृतीय सूक्त के मन्त्रों के उत्तराद्ध भी पुनः पुनः पढ़े हैं पुनरावृत्ति न कर एकीकरण बनाकर अर्थ करते हैं पुनः शिष्ट मन्त्रों का अर्थ करेंगे—

विद्वा शरस्य पितरं^१ पर्जन्यं भूरिधारयम् । [अथर्व० १। २। १]

” ” ” पर्जन्यं शतवृण्यम् । [अथर्व० १। ३। १]

मित्रं शतवृण्यम् । [अथर्व० १। ३। २]

वरुणं शतवृण्यम् । [अथर्व० १। ३]

चन्द्रं शतवृण्यम् । [अथर्व० १। ४]

सूर्यं शतवृण्यम् । [अथर्व० १। ३। ५]

विद्वाो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्षसम् । [अथर्व० १। २। १]

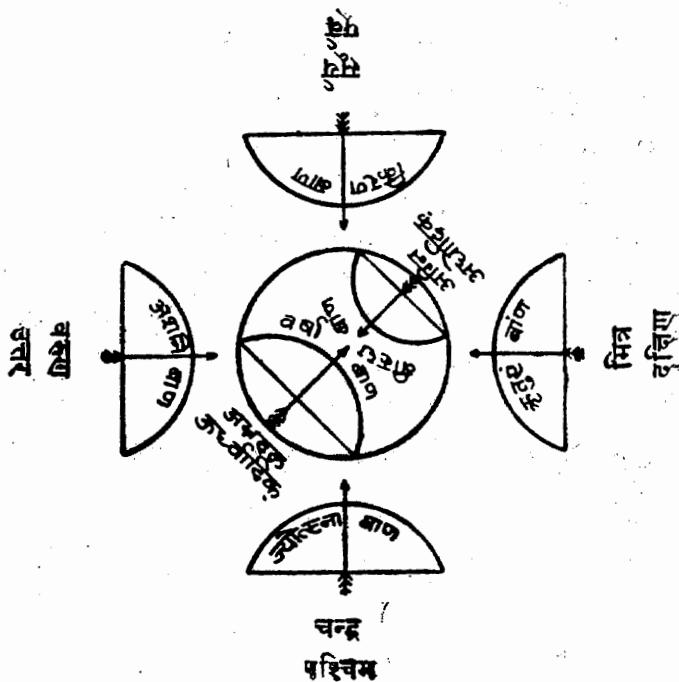
(शरस्य पितरम्) अधोदिशा से आने वाले वीरुध-ओषधि रूप शर-इषु^१ को (भूरिधारयसं पर्जन्यम्) ओषधि आदि प्रजा के धारक पृथिवी के अन्दर वर्तमान अग्नि को^२ एवं (शतवृण्यं पर्जन्यम्) ऊर्ध्व दिशा के^३ बहुत

१. "ध्रुवादिक्".....वीरुध इषवः ।

२. "पर्जन्यो वा अग्निः" [श० ४। ९। १। १३]

३. "ऊर्ध्वं दिक्".....वर्षमिषवः" ।

बरसाने वाले स्तनयित्नु नामक गर्जने वाले अभ्रमण्डल को^१ (मित्रम्)
दक्षिण दिशा में प्राप्त होने वाले ऋतुरूप शर के जनक वायु को^२ (वरुणम्)
उत्तर दिशा से व्याप्त होने वाली विद्युद्धारारूप शर के जनक ध्रुव अर्थात्



१. "पर्जन्यो मे मूर्ध्निश्रितः" [तै० २।१०।८।८। "ऋन्दतीव पर्जन्यः"
[श० ६।७।३।२] "पर्जन्यः स्तनयन्" हन्ति दुष्कृतम्
[ऋ० ५।८३।२]
२. "दक्षिणादिक्.....पितर इषवः" ऋतवः पितरः [श० २।४ २।
१४] "अयं वै वायु मित्रः योऽयं पवते" [श० ६।५।४।१४]

आकर्षक विद्युद्भण्डार को^१ (चन्द्रम्) पश्चिम दिशा से उठने वाले चन्द्रिका रूप शर के जनक चन्द्र को^२ (सूर्यम्) पूर्व दिशा से आने वाले किरण रूप शर के जनक सूर्य को^३ (विद्यु) हम जानते हैं, तथा (अस्य मातरम्) इसकी धारण-करने वाली माता (भूरिवर्षसं पृथिवीम्) बहुरूपा^४ पृथिवी को (सु) भली प्रकार (उ) अवश्य (विद्यु) हम जानते हैं ॥

ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वे कृधि ।

वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषास्यां कृधि ॥ [अथर्व० १।२।२]

(ज्याके) हे ज्यासदृश-धनुष् डोरी के समान* अप् तत्त्व धारा तू (नः) हमारे लिये (परि-नम) मृदु सुख साधिका के रूप में परिणत हो-सर्वथा झुक (तन्वम्) हमारे शरीर को (अश्मानम्) सुदृढ रोग आदि से अबाध्य (कृधि) कर (वीडुः) बल-बलवती होती हुई† (अरातीः) सुख न देने वाली बाधाओं को, और (द्वेषांसि) द्वेष करने योग्य रोगों को (वरीयः) अत्यधिक-बहुत ही (अप-आकृधि) पृथक् कर ॥ १।२।२ ॥

वृक्षं यद्गावः परिष्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्युभुम् ।

शरुमस्सद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

(यत्) कि जिसप्रकार (गावः) ज्या-धनुष् की डोरियों के समान अप्तत्त्व धाराएं (वृक्षम्) धनुर्दण्ड को-कोटियों को धनुष् के दोनों सिरों

१. “उदीची दिक्.....अशनिरिषवः”

२. “प्रतीची दिक्.....अन्नमिषवः “अन्नं वै चन्द्रमाः” [श० ८ । ६।११]

३. “प्राची दिक्.....आदित्या इषवः” ।

४. “वर्ष इति रूपानाम” [निघ० २।७]

* “इवार्थे क्व” [अष्टा० ५।३।९६]

† “वीडु बलवाम्” [निघ० २।९]

को-उनके समान द्यावापृथिवी को धुलोक पृथिवी लोक को^१ (परिष्वजानाः)
 आलिङ्गन करती हुई (ऋभुं शरम्) तीक्ष्ण वाण को (अनुस्फुरम्)
 प्रेरणानुकूल (अर्चन्ति) फेंक सकें, वैसे (इन्द्र) हे दोष दूर करने वाले
 परमात्मन् (दिद्युम्) चमचमाते हुए (शरम्) हिंसक को (अस्मत्)
 हमारे लिये^२ । (यावय) जोड़^३ ।

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।

एवा रोगं चास्त्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥

(यथा) जैसे (द्यां च पृथिवीं च-अन्तः) धुलोक और पृथिवी के
 बीच (तेजनम्) उनका प्रेरक अणु तत्त्व (तिष्ठति) रहता है (एव) वैसे
 ही (रोगं च-आस्तवं च- अन्तः) ऊर्ध्व रोग और अघो अङ्गगत कष्ट के बीच
 (मुञ्जः इत्) उनका प्रेरक ओषधिरूप अणु तत्त्व^४ (तिष्ठतु) रहे ॥ ४ ॥

तेना ते तन्वे^३ शं करं पृथिव्यां

ते निषेचनं बहिष्ठे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

(अथर्व० १ । ३ । १-५ पञ्चकृत्वः)

(तेन) उस ओषधि वर्षा आदि रूप वाण से (ते तन्वे) हे पात्र !
 या यजमान ! 'तेरे जरीर में (शङ्करम्) सुख पहुँचाता हूँ (पृथिव्याम्)
 पृथिवी पर (ते निषेचनम्) तेरा दोष आवे (ते बालिति बहिः-अस्तु) वह
 तेरा शीघ्र बाहर आवे ॥ १-५ ॥

१ "ज्यापि गौर च्यते वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद् गौः, वृक्षे वृक्षे धनुषि-धनुषि"

[निरू० २ । ६]

२ "सुपां सु लुक्....." (अष्टा० ७ । ३ । ३९) इति लुक् । चतुर्थीविय
 क्तलुक् ।

३ "युमिश्रणामि श्रणयोः" (अदादि)

४ "ऊर्ध्वा मुञ्जाः" (तै० ३ । ५ । १ । १)

आशय—इन मन्त्रों में धनुष् का सुन्दर रूपक है; सर्वान्तर्यामी विभुदेव परमात्मा वाण वर्षक है—इस पृथिवी पर वह अपने वाण छत्रों दिशाओं से फेंकता है और दिशाओं के सूर्य आदि देवता और पृथिवी छः धनुष कोटियां हैं, इन कोटियों के मध्य में ईश्वर के रचे पूर्व सूक्त में कहे “आपः” अप् तत्त्व धाराएं “उक्त छत्रों धनुषों की ज्याएं डोरियां हैं, इन डोरियों के द्वारा प्रेरित किये जाने वाले-फेंके जाने वाले छत्रों दिशाओं से आने वाले ओषधि, वर्षा, ऋतुएं, चुम्बकीय विद्युद् धाराएं, चन्द्रिकाएं, और किरणें ये छः वाण हैं, इन वाणों के जनक उन छत्रों दिशाओं के अग्नि, अभ्रमण्डल, मित्र (वायु-केन्द्र); वरुण (ध्रुव-आकर्षक विद्युत्केन्द्र) चन्द्र, सूर्य देवता हैं । उक्त वाणों को धारण करने वाली पृथिवी है वाण फेंकने वाली इन्द्रशक्ति है इस रूपक से ध्वनित होता है कि माता पिताओं के अन्दर भी इन्द्र-शक्ति (जीवात्मत्वशक्ति) होती है और सन्तति बीज की प्रेरक है । यदि माता पितृरूप कोटियों के मध्य ज्या रूप अप् तत्त्व धाराएं शरीर गत रस धाराएं शरीरगत रस धाराएं एवं परस्पर दोनों को बान्धने वाली-एक दूसरे को खींचने वाली शक्तियां और गुण हों तो उत्तम सन्तान का जन्म होता है । दूसरी बात रूपक में यह बताई है कि उक्त छत्रों दिशाओं में ओषधि, वर्षा आदि वाणों को फेंकने वाली ‘आपः सर्वत्रव्याप्त’ अप् तत्त्व धाराएं यथावत् ज्ञान से हमारे शरीर को पुष्ट करती हैं, रोग तथा रोगजन्तुओं को हटाती हैं उन अप् तत्त्वों को मानो ये ओषधि आदि गण एक प्रकार से उनका तेज है । जो शरीर के अन्दर से दोष शीघ्र दूर करके ऊपर नीचे के दोनों प्रकार के रोगों को हटाता है ॥ अथर्व० १ । ३ । १-५ ॥

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्दुस्तावाधि संश्रितम् । एवा ते० ॥ ६ ॥

प्र ते भिनद्धि मेहनं वत्रै वेशन्त्या इव । एवा ते० ॥ ७ ॥

विषितं ते वस्ताबिलं समुद्रस्योद्धेरिव । एवा ते० ॥ ८ ॥

यथेषुका परापतद्वसृष्टाधि धन्वनः ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिबोलिति सर्वकम् ॥ ९ ॥

(आन्त्रेषु) अन्त्रों-आन्तों के समीप अर्थात् गुदा के नाडीतन्तुओं में (गवीन्योः) दोनों मूत्र प्रणालियों-में (वस्तौ) मूत्राशय में (अधिसंस्तुतम्) क्षिर-क्षिर कर आया हुआ तथा (वेशन्त्याः) रुके जलाशय-झील के (वत्रम्- इव) बहने से रोकने वाले बान्ध की भांति (ते महनम्) तेरे रुके हुए मूत्राशय द्वार को (प्रभिनन्धि) धिक्कित करता हूँ—खोलता हूँ, और (समुद्रस्य) उत्प्लुत अर्थात् भरभूर किनारों से बाहिर निकलने को उद्यत् (उदधेः-इव) तालाब की भांति (ते वस्तिबिलम्) तेरा मूत्रपात्र-मूत्राशय मुख (विषितम्) आवरण रहित-रुकावट रहित हो, और (यथा) जैसे (अधिधन्वनः) नमाई हुई धनुष् से (अवसृष्टा-इषुका) छुटा हुआ वाण (परापतत्) अति वेग से दूर गिरता है (एव) ऐसे ही (ते मूत्रम्) तेरे जितना मूत्र है (सर्वकम्) प्रायः सब ही (बालिति) वेग से स्फुरित ध्वनि करता हुआ (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) छूट जावे ॥

आशय—रुके मूत्र को निकालने के लिये, प्रथम जल भरी झील के बान्ध को तोड़ने के समान भरे मूत्राशय द्वार का भेदन करना सूए या पिचकारी से खोल मूत्र निकाल लेना । द्वितीय भरे हुए किनारों से बाहिर आने को उद्यत् जलाशय के समान मूत्राशय की मांस पेशियों को नरम बना कर ऊपर से मालिश कर या जल बरसाकर मूत्र निकालना । तृतीय जैसे धनुष् द्वारा वेग भरा वाण वेग से दूर गिर पड़ता है ऐसा गुदा और मूत्राशय नालियों को गरम वाष्प दे उत्तेजित कर मूत्र बाहिर निकालना । चतुर्थ मूत्राशय को ओषधि से तरङ्गित कर मूत्र बाहिर निकालना । किन् वस्तुओं उपचारों के द्वारा मूत्र बाहिर निकाला जा सकता है सो ऊपर कहे मन्त्रों से पूर्व द्वितीय सूक्त में दिए दिशाओं से प्राप्त होने वाले 'अग्नि, मेघ, वायु,

विद्युत्, सूर्य, चन्द्र इन छः देवताओं से प्रेरित हुए ओषधि, वर्षा, ऋतुएं, विद्युत्-धाराओं, किरणों, चान्दनी के विशेष उपयोग मूत्र बन्ध को दूर करना कहा, उनका उपयोग विशेष यन्त्रों साधनों द्वारा होना चाहिए ॥ ६-९ ॥

आधिभौतिक-व्यावहारिक दृष्टि में द्वितीय सूक्त तथा तृतीय सूक्त के पञ्च मन्त्र में एक सांग्रामिक विषय है आगे छठे सूक्त तक पूर्ववत् ।

विद्वा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूर्विर्षसम् ।

पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।

मित्रं शतवृष्ण्यम् ।

वरुणं शतवृष्ण्यम् ।

चन्द्रं शतवृष्ण्यम् ।

सूथं शतवृष्ण्यम् ।

विद्वा ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूर्विर्षसम् ।

(शरस्य) हिंसित करने वाले वाण, गोली यन्त्र आदि अस्त्र साधन के (पितरम्) जनक-प्रेरक अग्नि, सूर्य, विद्युत् को हम जानते हैं और उनकी जननी पृथिवी को भी जानते हैं ।

ष्याके परि णो नमाश्मानं तन्वे कृधि ।

वडुवरथोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥

वृक्षं यद्गावः परिष्वज्जाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यभुम् ।

शरमस्मद् यावय पिद्युमिन्द्र ॥

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेर्जनम् ।

एवा रोगं चास्त्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥

तेनां ते तन्वेऽं शं करं पृथिव्यां तै निषेचनं ।

बहिष्ठे अस्तु बालिति ॥

हे प्रिय ज्या या ज्या के समान अस्त्र फेंकने वाली स्प्रिग आदि कला ! तू बाण गोली आदि को परिणत हो स्प्रिग ज्या हमारे शरीर को पत्थर जैसा अचल करदे-बनादे, तू बलवती होती हुई हमें सहायता न देने वाले विघ्न कारियों को तथा द्वेष करने वाले शत्रुओं को तिरस्कृत कर ।

कि जैसे धनुष् की डोरियों के समान स्प्रिग आदि धनुर्दण्ड को-स्प्रिग दण्ड को आलिङ्गन करती हुई शुभ्र बाण गोली आदि को प्रेरणा के अनुकूल फेंक सके, जो विद्युत् शक्ति-साक्षात् बल की मूर्ति ! तू तडतडाते हुए वज्र को^२ हमारे लिये हमारे प्रयोजन के लिये युक्त कर और छोड़ दे, अथवा हमारे^३ से छुड़ा ।

जैसे द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य में उनका प्रेरक सूर्य तेज रहता है ऐसे ही परपक्ष के फैंके बाण आदि की पीडा और उससे निकले रक्त प्रवाह के मध्य प्रेरक संशोधन उपचार^३ अवश्य रहे ।

उस संशोधन साधन से हे हमारे सैनिक ! तेरे-शरीर के लिये सुख पहुँचाता हूँ—स्वास्थ्य प्रदान करता हूँ पृथिवी पर बाहिर तेरा दोषकारक बाण आदि तेरे स्वास्थ्य के लिये शीघ्र बाहिर आवे ॥

आशय—बन्दूक तोप आदि अस्त्र अग्नि आदि से बनाने और छोड़ने चाहिए तथा विद्युत्-शक्ति उन्हें फेंकती है ॥

१ “दिद्युद् वज्रनाम” (निघ० २ । २०) ।

२ “सुपां सुलुक्” (अष्टा० ७ । ३ । ३९) विभक्तेर्लुक् ।

३ “सुञ्जशुद्धी” []

आगे पूर्ववत् ।

चतुर्थ सूक्त

ऋषिः—सिन्धुद्वीप-कृतिर्वा (स्यन्दमान है दोनों और लोक परलोक-भोग अपवर्ग-अभ्युदय निश्चयेस जिसके ऐसा विद्वान् या कर्म करने में समर्थ ।

देवता—आपः (अप्तत्त्व धाराए) जलप्रवाह धाराएं ।

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।

पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥

(अध्वरीयताम्) सृष्टि यज्ञ चाहने वालों के (अम्बयः) शब्द करने वाले^१ (जामयः) आपः-प्रवाहित-जल नदियां^२ (मधुना) स्वजल से^३ (पयः) पृथिवी पर अन्न को^४ (पृञ्चतीः) संयुक्त करती हुई (अध्वभिः) स्व स्व मार्गों से (यन्ति) चलती-बहती है ॥ १ ॥

अमूर्या उप सूर्य याभिर्वा सूर्यः सह ।

ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

(-याः) जो (अमूः) वे आपः-अप्तत्त्व (उप सूर्य) सूर्यमण्डल में (वा) और^५ (याभिः सह) जिन किरणरूप अप्तत्त्वों के साथ (सूर्यः) प्रकाशमान है । (ताः) वे अप्तत्त्व (नः) हमारे (अध्वरम्) शरीरयज्ञ या अहिंसनीय आत्मतत्त्व को (हिन्वन्तु) प्रेरित करें-उत्कृष्ट करें ॥ २ ॥

१ "अभि शब्दे" [भ्वादि०]

२ "जामि-उदकनाम" [निघ० १।१२]

३ "मधु-उदकनाम" [निघ० १।१२]

४ "पयः-अन्न नाम" [निघ० २।७]

५ "वा समुच्चयार्थे" [निरू० १।५]

अपो देवीरुपं ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः ।

सिन्धुभ्यः कर्त्वे हविः ॥ ३ ॥

(यत्र) जहाँ (नः) हमारे (गावः) गौ आदि पशु (पिबन्ति) जल पीते हैं उन पृथिवीस्थ (अपः-देवीः) उत्तम जलों को (उपह्वये) उपाहारित करता हूँ—उद्धाटितकरता हूँ (सिन्धुभ्यः) बहने वाले जलों के लिये या बहने वाले जलों से (हविः कर्त्वम्) होम दान संशोधन करना चाहिए ॥ ३ ॥

अप्स्वः१न्तरमृतमप्सु भेषजम् ।

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो

गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

(अप्सु-अन्तः) जलों के अन्दर (अमृतम्) दीर्घ जीवन है (अप्सु) जलों में (भेषजम्) रोगनिवारक गुण है-अौषध है-चिकित्सा कर्म है (उत) और (अपाम्) जलों के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से (अश्वाः) घोड़े, (वाजिनः) बलवती (भवथ) होओ बनो (वाजिनीः) बलवती (भवथ) होओ-बनो (गावः) गौओ ॥ ४ ॥

पञ्चम सूक्त

ऋषि देवते-पूर्ववत् ।

आपो हि द्या मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।

महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

(ताः) वे तुम (आपः) जलों (मयः-भुवः) सुख सम्पादक (हि) निश्चय (स्थ) हो (नः) हमें (ऊर्जे) जीवन बल के लिये (महेरणाय-चक्षसे) महान् रमणीय दर्शन के लिये (दधातन) धारण करो ॥ १ ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।

उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

(वः) हे जलों ! तुम्हारा (यः) जो (शिवतमः) कल्याणसाधक (रसः) रस है (तस्य नः) उसका हमें (इह) इस शरीर में (उशतीः-इव मातरः) चाहती हुई माताओं के समान (भाजयत) सेवन कराओ ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।

आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

(यस्य) जिस रस के (क्षयाय) हमारे अन्दर संस्थापन करने के लिये (आपः) हे जलों ! (जिन्वथ) हमें तृप्त करते हो (तस्मै) उस उसके लिये-उसकी प्राप्ति के लिये (वः) तुम्हें (अरं गमाम) पूर्ण रूप से सेवन करें, (च) और (नः) हमें आपः- (जनयथ) जहाँ उत्पन्न भी करते हो ॥ ३ ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।

अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

(वार्याणाम्) वरणीय-उत्तम गुणों के (ईशानाः) स्वामी रूप (चर्षणीनाम्) मनुष्य आदि प्राणियों के (क्षयन्तीः) बसाने वाली (अपः) जल (भेषजम्) आँषध को (याचामि) चाहता हूँ उपयुक्त करता हूँ ॥ ४ ॥

षष्ठ सूक्त

ऋषि देवते-पूर्ववत् ।

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतमे ।

शं योरभि स्रवन्तु नः ॥ १ ॥

(देवीः) दिव्यगुण वाले (आपः) जल (नः) हमारी (अभिष्टये) स्नान क्रिया के लिये एवं अभिकांक्षा के लिये तथा (पीतये) पान क्रिया एवं तृप्ति के लिये (शं भवन्तु) कल्याण कारी हों (शंयोः) सुख की वृष्टि या वर्तमान रोगों की शान्ति और भावी रोग भयों के अभाव निवृत्ति को (नः) हम पर (अभिस्रवन्तु) सब ओर से रिसावें बहावें वर्षावें ॥ १ ॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।

अग्निं च विश्वशम्भुवम् ॥ २ ॥

(सोमः) उत्पादक परमात्मा ने (मे) मेरे लिये (अब्रवीत्) उपदेश दिया है कि (अप्सु-अन्तः) जलों के अन्दर (विश्वानि भेषजा) समस्त औषध हैं (विश्वशम्भुवम्) संसार, के कल्याणसाधक (अग्निं च) और अग्नि को गरम जल में भाप में प्रयुक्त करना भी बताया है (आपः-विश्व भेषजाः) स्वयं जल समस्त औषधें हैं ॥ २ ॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे ३ मम ।

ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥

(आपः) हे जलों ! (मम तन्वे) मेरे शरीर के लिये (वरूथ भेषजम्) रोग निवारक औषध को (पृणीत) दो-सम्पादन करो (ज्योक् च) चिरकाल तक (सूर्यं दृशे) सूर्य को देख सकू ॥ ३ ॥

१ "शंयोः शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्" [निरु० ४।२२]

२ "पृणाति दानकर्मा" [निघ० ३।२०]

शं न आपो धन्व॒न्याः॑ शम् सु॒ सन्त्वनु॒प्याः ।

शं नः खनि॒त्रिमा॒ आपः शम् याः कुम्भ आभृ॒ताः

शि॒वा नः सन्तु॒ वार्षि॑कीः ॥ ४ ॥

(धन्व॒न्याः-आपः) मरुदेशवाले जल (नः) हमारे लिये (शं सन्तु) कल्याणकारी हों (खनि॒त्रिमाः-आपः) खोदे हुए कूप बावड़ी के जल (नः शम्) हमारे लिये सुखसाधक हों (याः) जो जल (कुम्भे-आभृ॒ताः) घड़े पात्र में भरे हैं वे (शम्-उ) अवश्य सुखसाधक हों (वार्षि॑कीः) वर्षा से प्राप्त जल (नः) हमारे लिये (शि॒वाः सन्तु) शान्ति प्रद हो ॥ ४ ॥

सप्तम से दशम सूक्त का विषय

वक्तव्य—गत षष्ठ सूक्त में “अप्सु मे सोमो अन्नवीदन्तविश्वानि भेषजा । अग्नि च विश्वशम्भुवम्” [अथर्व १।६।३] जलों में सब भेषज हैं अग्नि भी है यह चिकित्सा को सूचित करता है एवं सप्तम से दशम सूक्त तक का विषय इसी प्रकार का है कारण कि आगे एकादश सूक्त में “वष्टते पूषन्नस्मिन् सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः” प्र सूति रोग की चिकित्सा का वर्णन है इन बीच के सूक्तों का विषय चिकित्सा जानना चाहिए । होमाग्नि और होमवायुः चिकित्सा में उपयुक्त है अन्यत्र वेद में कहा है “मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कम् । अज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् । ग्राही जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम् ॥” [ऋ० १० । १६१ । १] चिकित्सक कहता है हे रोगी ! मैं तुझे हवि-होम द्वारा जीवन के लिये अज्ञात रोग से तथा राजयक्ष्म से छुड़ाता हूँ और यदि ग्राही मन को पकड़ने वाली व्याधि हिस्टीरिया उन्माद आदि ने पकड़ा है तो इन्द्र (होम वायु) अग्नि (होमाग्नि) छुड़ा देते हैं । दोनों अग्नि और इन्द्र का यहाँ भी वर्णन है, तथा हवि का भी इस सूक्त में “अथेदमग्ने नो हविः” [अथर्व० १।७।३] कथन है और अगले अष्टम सूक्त में “इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्”

[अथर्व० १।८।१] में भी 'हविः' शब्द प्रयुक्त है साथ ही दशम सूक्त में मुञ्चामि शब्द का प्रयोग भी है "मुञ्चामि वरुणादहम्" [अथर्व० १।१०।३] वरुण जलोदर रोग से छुड़ाता है। अतः ये सप्तम से दशम सूक्त का वर्णन होम चिकित्सा का है। अन्य अग्नि आदि के विशेषण आलङ्कारिक है तथा रोगों के नाम भी विशेषण निर्वचनीय हैं। अब क्रमशः सूक्तों के अर्थ देते हैं।

सप्तम सूक्त

ऋषिः—चातनः (नाशक-अस्वास्थ्यनाशक^१ चिकित्सक)

देवता—१, २, ४ (अग्निः ३ इन्द्रः (होमाग्निः, होमवायुः) ।

स्तुवानमग्ने आ वह यातुधानं किमीदिनेम् ।

त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥ १ ॥

(अग्ने) हे होम में प्रयुक्त अग्नि ! तू (यातुधानं-किमीदिनेस्तुवानम्-आवह) यातना-पीड़ा के आधान-पीड़ा पहुंचाने वाले 'किम्-इदानी चरते' क्या इस समय चरण करने जीने को निःसत्त्व करने वाले या क्या यह क्या यह होगया जीवन से निराश करने वाले^२ या 'किमदिने' सब कुछ खाकर क्या खाऊँ ऐसे रोग जन्तु के लिये^३ होमताप से गिड़गिड़ाते हुए रोग जन्तुओं को शरीर से बाहिर ले आ-निकाल, (वन्दितः, देव) हे वन्दनीय प्रशंसनीय देव (त्वं हि) तू ही (दस्योः-हन्ता बभूविथ) शरीर के क्षीण करने वाले उस रोग जन्तु को नष्ट करने वाला है । १ ॥

१ "चातयति नाशनकर्मा" [निरु० ६।३०]

२ "किमीदिने किमीदानीमिति चरते किमिदं किमिदमिति त्रा" [निरु० ६।११]

३ "अकारस्य स्थाने छान्दस इकारः"

आज्यस्य परमेष्ठिञ्जातवेदस्तनूवशिन् ।

अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥

(परमेष्ठिन् तनूवशिन् जातवेदः-अग्ने) हे परमश्रेष्ठ यज्ञस्थल में रहने वाले समस्त तनुओं को ताप से स्ववश करने वाले जात-उत्पन्न प्रकट होते ही जाने वाले अग्नि देव ! (यातुधानान्-विलापय) पीड़ा धारण कराने वाले रोग जन्तुओं को विनष्ट कर (तौलस्य-आज्यस्य प्राशान) तुला तुलना में प्रतीकार में समर्पित किए घृत-घृताहुति को खा सेवन कर ॥ २ ॥

विलयन्तु यातुधाना अत्रिणा ये किमीदिनः ।

अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥

(यातुधानाः) पीडा धारण कराने वाले (ये-अत्रिणः किमीदिनः) जो हमारा मांस आदि खाने वाले सब खाकर क्या इस समय खाएं या क्या क्या खाएं या निःसत्त्व बनाकर क्या खाएं करने वाले रोगजन्तु (विलयन्तु) विलाप करें-तड़पें (अथ) बस अब (अग्ने-इन्द्रः-च) तू अग्नि और इन्द्र-वायु^१ (नः-हविः) हमारे अग्निहोत्र को^२ (प्रति हर्यतम्) तुम दोनों स्वीकार करो^३ ॥ ३ ॥

अग्निः पूर्वं आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् ।

ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥

(पूर्वः-अग्निः-आरभताम्) प्रमुख अग्नि रोगजन्तुनाशन कार्य आरम्भ करे ताप द्वारा (बाहुमान्-इन्द्रः-प्र-नुदतु) बाहक-दूरी करण शक्तिमान् इन्द्र-वायु रोग जन्तु को अत्यन्त दूर फेंके (सर्वः-यातुमान्) सब यातना वाला-पीड़ा देने वाला रोगजन्तु (एत्य-ब्रवीतु) बाहिर आकर-शरीर

१ “यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः” [काठ० ३३।४]

२ “हविर्वा एतदग्निहोत्रम्” [काठ० ६।४]

३ “हर्य गतिकान्त्योः” [भ्वादि०] प्रति पूर्वं हर्यधातुः स्वीकारार्थः ।

से बाहिर आकर बोले-कहे (अयम्-अस्मि-इति) कि यह मैं शरीर से बाहिर ताड़ा हुआ आ गया हूँ ॥ ४ ॥

पश्याम ते वीर्यं] जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः ।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात्
त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥ ५ ॥

(नृचक्षः-जातवेदः) मनुष्यों को दिखाने-मार्ग दिखाने वाले प्रकट होते ही जानने योग्य हे अग्नि ! (ते वीर्यं पश्याम) तेरे तापबल को हम देखते हैं (नः यातुधानान् प्रब्रूहि) हमारे पीडक रोगजन्तुओं को फटकार दे (त्वया सर्वे परितप्ताः प्रब्रुवाणाः) तेरे से सब परितापित हुये गिडगिडाते हुए (पुरस्तात्) तेरे सामने (इदम्-उप-आयन्तु) इस अग्निहोत्र धूम को प्राप्त हों ॥ ५ ॥

आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे ।

दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि विलापय ॥ ६ ॥

(जातवेदः-अग्ने) हे प्रसिद्ध होते ही जानने योग्य अग्नि ! तू (आरभस्व) अग्निहोत्र को आरम्भकर (अस्माक-अर्थाय) हमारे प्रयोजन के लिये (जज्ञिषे) तू प्रसिद्ध हुआ या प्रसिद्ध किया गया है (दूतः-भूत्वा) रोग दूरकर्ता बनकर (यातुधानान्-विलापय) पीडा के आक्षार पीडा देने वाले रोगजन्तुओं को विलापित कर ॥ ६ ॥

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह ।

अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥ ७ ॥

१ "अन्तलोपश्छान्दसः"

२ "दूतो वारयतेर्वा" [निरु० ५।१]

(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उपबद्धान् यातुधानान्) उपबद्ध-
उपरुद्ध-निःसत्त्व हुए मूर्च्छित हुए पीडक रोग जन्तुओं को (इह-आवह) यहाँ
बाहिर लेआ (अथ) पुनः (इन्द्रः) वायु (वज्रेण) अपने वेग रूपवज्र
से या अपने भोजरूप वेग से^१ (एषां शीर्षाणि वृश्चतु) इनके प्रधान अङ्गों
या प्राणों को^२ नष्ट करे^३ ॥ ७ ॥

अष्टम सूक्त

ऋषिः—घातनः (रोगजन्तुनाशक जन) ।

देवता—१, २ बृहस्पतिरग्नीषोमौ च (सूर्य अग्नि और चन्द्रमा,
३, ४ अग्निः (होमग्नि) ।

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा बहत् ।

य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

(इदं हविः) यह अग्निहोत्र (यातुधानान्) पीडा के आधान-पीडा
देने वाले रोग जन्तुओं को (नदी-फेनम्-इव-आवहत्) जैसे नदी फेन को
समन्त रूप से बहाकर ले जाती है ऐसे कहीं से कहीं दूर-अदृश्य रूप में विनष्ट
करदे (स्त्री-पुमान्-यः इदम्-अकः) स्त्री पुरुष इस अग्निहोत्र को करे (सः-
जनः-इह-स्तुवताम्) वह जन इस रोगजन्तु ग्रस्त के पास में अग्निहोत्र का
सेवन करे ॥ १ ॥

अथं स्तुवान् आगमादिमं स्म प्रति हर्यत ।

बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥ २ ॥

१ "वज्रो वा भोजः" [श० ८।४।१।२०]

२ "तदायतनो वै प्राणो यच्छिरः" ! जै० २।१८]

३ "वृश्चति वधकर्मा" [निघ० २।१९]

(अयं स्तुवानः) यह रोगजन्तुओं से विमुक्त हुआ प्रशंसा करता हुआ (आगमत्) अपने पूर्व स्वास्थ्य को पहुँच गया (इमं-स्मप्रति-हर्यत) इसको तुम सूर्य अग्नि चन्द्र अपनी शरण में स्वीकार करो यह सुख शान्ति धैर्य को प्राप्त करता रहे (बृहस्पते-वशे-लब्ध्वा) हे ऊर्ध्वदिशा के देव सूर्य ! तू रोगजन्तुओं को अपने वश में प्राप्त करले सामान्य करले किरणों द्वारा, पुनः (अग्नीषोमा-विविध्यताम्) हे अग्नि और चन्द्रमा तुम इन्हें उष्णशीतधाराओं से अग्नि जल के मिश्रण गरम जल तथा भाप से ताडित करो-निर्बल बनाओ । सूर्य की अरुण किरण, अग्नि द्वारा गरम जल और भाप के प्रयोग वाष्प ताप और चन्द्रमा को चान्दनी से रोगजन्तु को नष्ट करो ॥ २ ॥

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च ।

नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥ ३ ॥

(सोमप) हे सोम औषध को पीने वाले अग्नि (यातुधानस्य-जहि-च) यातुधान-पीडक रोगजन्तु को मार (प्रजां-नयस्व) और उसकी प्रजा अल्प बच्चों को भी ले जा-बाहिर निकाल (स्तुवानस्य) गिडगिडाते हुये पीडक रोग जन्तु की (परम्-उत-अवरम्-अक्षि-निपातम्) दाहनी और वाम आंख को निकाल दे घृणं से अन्धी करदे-नष्ट करदे ॥ ३ ॥

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहां सतामत्त्रिणां जातवेदः ।

तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने ॥ ४ ॥

(जातवेदः-अग्ने) हे प्रकट होते ही जानने योग्य होम-अग्नि ! तू (यत्र गुहा) जिस गुप्त स्थान में रहते हुये (एषां-सताम्-अत्त्रिणाम्) इन मांस आदि के खाने वाले रोग-जन्तुओं के (जनिमानि वेत्थ) जन्मी वंशो स्थानों को तू जानता है, वहाँ (त्वं-ब्रह्मणा-वावृधानः) तू मन्त्र द्वारा होममन्त्र विधान द्वारा बड़ा हुआ प्रज्वलित हुआ (एषां-ताम्) इन^१ उनको (शततर्हं-जहि) बहुतेरे छिन्नभिन्न करने वाले ज्वाला समूहों से नष्ट कर ॥ ४ ॥

१ "विभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः" 'एतान्' स्थाने एषाम् ।

नवम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर जन) ।

देवता—१, २ वस्वादयो मन्त्रोक्ताः (वसु, इन्द्र, पूषा, वरुण, मित्र, अग्नि, आदित्य, विश्वेदेव, सूर्य) ।

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः ।
इममादित्या उत् विश्वे च देवा उत्तरस्मिन् ज्योतिषि
धारयन्तु ॥ १ ॥

(अस्मिन्) रोग जन्तुओं से विमुक्त इस मानव के अन्दर (वसवः-वसु-धारयन्तु) वसाने वाले प्राणों^१ वसाने वाले जीवन स्वास्थ्य-जीवनतत्त्व को धारण करो-स्थापित करो, तथा (इन्द्रः) वैद्युत तेज (पूषा) पोषणपदार्थ दाता पृथिवी^२ (वरुणः) जल (मित्रः) जीवन प्रेरक वायु^३ (अग्निः) अग्नि (आदित्याः) बाह्य मास (च) और (विश्वे-देवाः) सूर्य किरणों^४ (इमम्) इस स्वस्थ जन को (उत्तरस्मिन्-ज्योतिषि-धारयन्तु) उत्कृष्ट जीवनज्योति में स्थापित-पूर्ण आयु में स्थापित करो ॥ १ ॥

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अन्निरुत वा हिरण्यम् ।
सपत्ना अस्मद्धरे भवन्तुत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ २ ॥

(देवाः) हे देवो-विद्वानों चिकित्सकों ! (अस्य-प्रदिशि) इस रोगजन्तुमुक्त स्वस्थ मनुष्य की अनुकूलता में या इसकी सीमाओं में-सब ओर में रक्षार्थ (ज्योतिः सूर्यः-अग्निः-उत वा हिरण्यम्-अस्तु) ज्योति अर्थात्

१ "प्राणा वै वसवः" [तै० ३।२।३।३]

२ "पूषा पृथिवी नाम्" [निघ० १।१]

३ "अयं वै वायुमित्रोयोऽयं पवते" [श० ६।५।४।१४]

४ "एते वै रश्मयो विश्वे देवाः" [श० १२।४।४।६]

सूर्य, अग्नि, अपि च चन्द्र हो^१ अग्नि सत्कार्यार्थं उपचारार्थं सूर्यं दोष-
निवारणार्थं चन्द्रं शान्तिप्रदानार्थं हो । (सपत्नाः-अस्मत् अघरे-भवन्तु) पाप-
पापचारी अहितकर^२ इसके^३ नीचे होवें-इस पर आक्रमण न कर सकें
(इदम्-उत्तमं-नाकम्-अधि रोहय) इसे-उत्कृष्ट नाक-न-अक-नितान्त सुख
स्थान मोक्ष की ओर ले जाओ^४ ॥ २ ॥

येनेन्द्राय समभरः पर्यास्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।

तेन त्वमग्न इह वर्धयेम संज तानां श्रेष्ठयः आ धेहोनेम ॥३॥

(जातवेदः-अग्ने-त्वम्) हे प्रसिद्ध मात्र हुआ-जानने योग्य अग्नि !
तू (येन-उत्तमेन-ब्रह्मणा) जिस उत्तम मन्त्र से (इन्द्राय) इन्द्र-वायु के लिये
(पर्यासि) दूध घृत आदि हव्यपदार्थों को सम्यक् होम कर सम्यक् आभरित
करता है (तेन) उस मन्त्र-विधिवचन से (इह-इमं-वर्धय) इस जीवनःमें
इसे बढा (एनं सजातानां श्रेष्ठये धेहि) समान जातों के श्रेष्ठता में समन्त
रूप से धारण करावे ॥ ३ ॥

पेषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चिन्तान्यग्ने ।

सपत्ना अस्मदघरे भवन्तुत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

(एषां-यज्ञम्-उत वर्चः-अहम्-आददे) इन पापियों पीडा दायक
रोगजन्तुओं के सङ्गतिकरण एकसाथ आक्रमण को और दुःखतम प्रभाव को मैं
अपने स्वाधीन करता हूँ (रायः-पोषं-चिन्तानि) ऐश्वर्य के पोष को और
मनोभावों को भी अपने वश में लेता हूँ (सपत्नाः) पापीजन (अस्मत्-अघरे-

१ "चन्द्रं हिरण्यम्" [तै० १ । ७ । ६ । ३]

२ "पाप्मा वै सपत्नः" [श० ८ । ५ । १ । ६]

३ अस्मात् स्थाने अस्य-छान्दसः ।

४ "व्यत्ययेन-बहुचन-एकवचनम् ।

भवन्तु) इसके नीचे होवे (इमम्-उत्तमं-नाकम्-अग्ने-रोह्य) इस रोग जन्तु मुक्त को हे अग्नि तू उत्तम स्वर्ग उत्तम सुख धाम की ओर लेजा ॥ ४ ॥

दशम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा । (स्थिर मनवाला)

देवता—१ असुरः (कान्ति का फेंकने वाला) ३-४ वरुणः ।

अथं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयानि ॥१॥

(वरुणस्य-राज्ञः-हि सत्या-वशा नयामि) वरुण सबको बरने घेरने वाले राजमान शरीर में राजमान जलोदर रोग के सदृ लक्षणों के स्ववश करता हूँ (अयं-देवानाम्-असुरः) यह जलोदर रोग दिव्य गुणों शरीर कान्तिआदि का फेंकने वाला है (विराजति) मनुष्य प्रजा में हो जाता है (ब्रह्मणा-शाशदानः) चिकित्सा मन्त्र-विचार से क्षीण होता हुआ रोग है (ततः परि) उससे परे (उग्रस्य मन्योः) उग्र तीक्ष्ण जलोदर रोग के प्रकोप से (इमम्-उन्नयामि) इस रोगी को ऊपर उठाता हूँ मैं चिकित्सक निकालता हूँ ॥ १ ॥

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र

निचिकेषि दुग्धम् ।

सहस्रमन्यान् प्र सुवामि साकं शतं जीवाति

शरदस्तवायम् ॥ २ ॥

१ "अयं देवानाम्" इति सूक्तेन जलोदर रोग निवृत्तये (सायणः) ।

(उग्र-वरुण-राजन्) हे तीव्र शरीर में राजमान जलोदर रोग !
 (ते-मन्यवे-नमः-अस्तु) तेरे प्रभाव-वेग के लिये-नमः-वज्र प्रतीकार हो^१
 (विश्वं-द्रुग्धं-निचिकेषि) सब दूषित शरीर को संवेदन करवा है पीड़ित
 करता है (अन्यान्-सहस्रं-साकं-प्रसुवामि) अन्य बहुत सारे तेरे साथ होने
 वाले रोगों को बाहिर निकालता हूँ मैं चिकित्सक (तव-अयं-शतं-शरदः-
 जीवाति) तेरा यह रोगी रोगमुक्त होकर सौ वर्ष तक जीवेगा ॥ २ ॥

यदुक्त्वथानृतं जिह्वया वृजिनं बहु ।

राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥ ३ ॥

(जिह्वया) जिह्वा सेः (यत्-बहु) जो बहुत (वृजिनम्-अनृतम्)
 वर्जनीय^२ अनृत-प्रयुक्त पाप (उक्त्वा) कहा है (सत्यधर्मणः-वरुणात्-राज्ञः-
 त्वा-अहं-मुञ्चामि) सत्य धर्म-यथावत् प्रभाव वाले राजमान-शरीर में राजमान
 जलोदर रोग से तुझे मैं चिकित्सक छुड़ाता हूँ ॥ ३ ॥

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरार्दणवाग्महतस्परि ।

सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चापं चिकीहि नः ॥ ४ ॥

(त्वा) हे रोगी तुझे (वैश्वानरात्-महतः-अर्णवात्-परि मुञ्चामि)
 विश्वानर-जठराग्नि सम्बन्धी जल वाले महान् रोग से छुड़ाता हूँ । (उग्र) हे
 तीक्ष्ण औषध (सजातानु-इह-ब्रह्म वद) समान रोगों को यहाँ मन्त्र कह
 (नः-व-अपचिकीहि) और हमें रोग से पीडा से पृथक् रखा ॥ ४ ॥

एकादश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर मन वाला) ।

१ “नमः वज्रनाम” [निघ० २१ २०]

२ “वृजिनानि वर्जनीमानि” [निरु० १० । ४०]

देवता—पूषादयो मन्त्रोक्ताः (पूषा,-परमात्मा,-अर्यमा,-सूर्य-,-होता,
अग्नि, वेधाः, इन्द्र) ।

वषट् ते पूषन्नस्मिन्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः ।

सिञ्चतां नार्युतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥ १ ॥

(पूषन्) हे पोषण कर्ता परमात्मन् ! (ते) तेरे रचे (अर्यमा)
सूर्य^१ (होता) अग्नि^२ (वेधाः) इन्द्र-विद्युन्मय वायुः^३ (अस्मिन् सूता)
इस सन्तानप्रसव में^४ (वषट् कृणोतु) प्राण सम्पादन करे-प्राण शक्ति दे^०
(ऋतजाता) ऋत-प्रसव लक्षण जल्ल^५ प्रसव से कुछ पूर्व जलस्त्राव आगया
जिसका वह ऐसी^७ (नारी) स्त्री (सूतव-उ) प्रसव होने के लिये ही
सन्तान जनने के लिये अवश्य (सिञ्चताम्) प्रवाहण करे-आन्तरिक गतिप्रसार
नीचे करे-किन छें^८ (पर्वाणि) योनिजोड़ों को (विजिहताम्) ढीला
करदे ॥ १ ॥

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ।

देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्ण्वन्तु सूतवे ॥ २ ॥

१ “अर्यमा-आदित्यः” [निरु० ११ । २३]

२ “अग्निरेव होता” [जै० ३ । ३७४]

३ “इन्द्रो वै वेधाः” [ऐ० ६ । १०]

४ “व्यत्ययेन पुल्लिङ्गम्” ।

५ प्राणो वै वषट्कारः” [श० ४ । २ । १ । २९]

६ “ऋतमुदक नाम” [निघ० १ । १२]

७ “प्रसिच्यते योनिमुखात् श्लेष्मा च” [सुश्रुतशरीरस्थान० १० । १४]

“प्रसेकश्च गर्भोदकस्य” [चरकः० शरीर स्थान ८ । ३४]

८ “सुभगे प्रवाहस्व” [सुश्रुतः शरीरस्थान अ० १० । १७]

(दिवः) द्युलोक की (चतस्रः प्रदिशः) चारों सीमाएं (उत) और (भूम्याः) भूमि-पृथिवी की चारों दिशाएं, तथा (देवाः) इन दोनों स्थानों के अर्थात् द्युलोक की सूर्य-किरणें और पृथिवी के वनस्पति आदि दिव्य पदार्थ (गर्भम्) गर्भ को (समैरयन्) नीचे की ओर प्रेरित करते हैं (तम्) उसे (सूतवे) प्रसव के लिये-जन्मने के लिये (व्यूर्णुवन्तु) आवरणरहित कर दें ॥ २ ॥

सूषा व्यूर्णोऽतु वियोनिं हापयामसि ।

श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज ॥ ३ ॥

(सूषा) गर्भ को-सन्तान को उत्पन्न करने वाली (व्यूर्णोऽतु) अपने शरीर को-आवरणरहित करदे (योनिं विहापयामसि) सन्तान के बाहिर निकालने वाले स्थान को हम खोलते हैं (सूषणे) हे सन्तान को प्रसूत करने-जन्म देने वाली देवी ! (त्वम्) तू (श्रथय) अङ्गों-योनि-सम्बन्धी नस नाडियों को ढीलाकर (बिष्कले) हे विश्व-प्रजा सन्तान को उत्पन्न करने वाली देवी ! (त्वम्) तू (अवसृज) सन्तान को नीचे छोड़ ॥ ३ ॥

नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम् ।

अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम् ॥४॥

(जरायु) गर्भावरण (न-इव) न ही (मांसे) गर्भमांस में (न) न (पीवसि) मेद में (न-इव) नहीं (मज्जसु) मज्जाओं में (आहतम्) सटा हुआ हो, किन्तु (पृश्नि) ऊपर ऊपर छूने वाली (शेवलम्) काई की भांति गर्भ के ऊपर होने वाला (जरायु) गर्भावरण (अवैतु) नीचे आवे (शुनवे-आत्तवे) कुत्ते के खाने के लिये (अवपद्यताम्) गर्भ से पृथक् हो जावे ॥ ४ ॥

१ "शकारस्य षकारश्छान्दसः" ।

वि त्ति भिनाद्यिमे ह॒नं वि योनिं वि ग॒वीनि॒के ।

वि मा॒तरं च पु॒त्रं च वि कु॒मारं

ज॒रायु॒णाव॑ ज॒रायु॑ प॒द्यताम् ॥ ५ ॥

(जरायुणां) हे प्रसव करने वाली देवी जरायु से^१ (ते मेहनम्) तेरे मूत्रस्थान को (विभिनसि) विभिन्न करता हूँ-अलग करता हूँ (योनिम्) योनि को (वि०) विभिन्न करता हूँ-अलग करता हूँ (गवीनिके) मूत्राशय के दोनों ओर वर्तमान तालियों को (वि०) विभिन्न करता हूँ (मातरं च) और माता को (वि०) विभिन्न करता हूँ-अलग करता हूँ (कुमारं पुत्रं च) कुमार पुत्र को भी (वि०) विभिन्न करता करता हूँ-अलग करता हूँ (जरायुअवपद्यताम्) जरायु नीचे आवे ॥ ५ ॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।

सन्ना त्वं दशमास्य साकं जरायुणा

पताव जरायु पद्यताम् ॥ ६ ॥

(यथा) जैसे (वातः) झंझावात-‘अध्याव’ वेग से आता है (यथा) जैसे (मनः) मन वेग से गति करता है (यथा) जैसे (पक्षिणः) पक्षी (पतन्ति) उड़ते हुये नीचे-गिरते हैं (एव) ऐसे (दशमास्य) हे-दशमास पूर्ण-गर्भ-बालक ! (त्वम्) तू (जरायुणा साकम्) जरायु के साथ (पत) वेग से नीचे आ-बाहिर आ (जरायु) जरायु भी (अवपद्यताम्) नीचे गिर जावे ॥ ६ ॥

द्वादश सूक्त

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः (तेजस्वी प्राणोंवाला)

देवता—यक्ष्मनाशनम् (रोगदूरीकरण)

जरायुजः प्रथम उल्लिया वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या ।

स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन्

य एकमोजखेधा विचक्रमे ॥ १ ॥

(प्रथमःजरायुजः) सृष्टि के आरम्भ में प्रथम या प्रथम-प्र कृतम (उल्लियाः) किरणोंवाला (वृषा) प्रकाशवर्षक या वृषशक्तिप्रद (वाताभ्रजाः) वातमिश्रित भ्रज-भेषों का जन्मदाता (वृष्ट्या) वृष्टि के हेतु (स्तनयन्-एति) मैं आ रहा हूँ-घोषणा करता हुआ सा आता है-उदय होता है (सः) वह सूर्य (नः-तन्वे मृडाति) हमारे शरीर के लिये-रोगनिवृत्त करके सुख पहुंचाता है (ऋजुगः-रुजन्) सरल गतिवाला रोगों को भङ्ग करता हुआ (यः) जो (एकम्-ओजः) अकेला ओज-तेज स्वरूप है (खेधा-विचक्रमे) तीनों द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक पर प्रकाश प्रताप प्रसारित करने का विक्रम करता है ॥ १ ॥

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम ।

अङ्कान्तसमङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत्

पर्वास्या ग्रभीता ॥ २ ॥

(अङ्गे अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में (शोचिषा) दीप्ति से-तेज से (शिश्रियाणम्) श्रयण करते हुए (त्वा) तुझ सूर्य को (हविषा) प्राणरूप से प्राण मान कर (नमस्यन्तः) परिचरण करते हुए-सेवन करते हुये (अङ्कान् समङ्कान्) रोग के बाहिरी चिह्नों को अन्दर के चिह्नों से लक्ष्य कर प्राणरूप से (विधेम) सेवन करें (यः-अस्य-पर्व-अग्रभीत्-ग्रभीता) जो इस रोगी के जोड़ को पकड़ रहा है पकड़ने वाला रोग, उसके दूर करने के लिये इसे बाहिरी भीतरी लक्षण को लक्ष्य कर तुझे-सेवन करे ॥ २ ॥

१ "प्राणो हविः" [मै० १।९।१] "प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः"

[प्रनो० १।८]

२ "नमस्यति परिचरणकर्मा" [निघ० ३।५]

मुञ्च शीर्षक्तया उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य ।
 यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो
 वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥

(शीर्षक्तयाः) शिर को प्राप्त होने वाली उन्माद-अपस्मारिका से (मुञ्च) हे वैद्य छुड़ा (उत) तथा (यः) जो (वातजाः) वातप्रकोप से उत्पन्न वातिक (शुष्मः) शोषक-पित्तप्रकोप से उत्पन्न पैत्तिक (च) और (यः) जो (अभ्रजाः) घनरूप कफप्रकोप से उत्पन्न श्लैष्मिक (कासः) खांसी रोग-क्षयरूप खांसी रोग (यः) जो (अस्य) इस रोगी के (परुष्परुः) जोड़ जोड़ में (आविवेश) घुसा हुआ है या घुस बैठा है, उससे (एनम्) इस रोगी को (मुञ्च) छुड़ा, वह रोगी (वनस्पतीन्) वनस्पतियों (च) और (पर्वताम्) पर्वतों को (सचताम्) सेवन करे ॥ ३ ॥^१

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे ।

शं मे चतुर्भ्यो अङ्गैर्भ्यः शमस्तु तन्वे ३ मम ॥ ४ ॥

(मे परस्मै गात्राय शम्) रोगमुक्त-स्वस्थ जन कहता है मेरे पर-उत्कृष्ट गात्र शिर के लिये कल्याण हो, (मे-अवराय शम्-अस्तु) मेरे नीचे के गात्र-कटि जङ्घा के लिये कल्याण हो (मे चतुर्भ्यः-अङ्गैर्भ्यः शम्) मेरे ऊपर नीचे की दिशा से अतिरिक्त चारों दिशाओं वाले अङ्गों सामने पीछे उत्तर दक्षिण वाले अङ्गों के लिये कल्याण हो (मम तन्वे शम्-अस्तु) मेरे शरीर अन्दर शरीर के लिये कल्याण हो ॥ ४ ॥

१ "षच सेवने च" [भ्वादि०] ।

२ तथा-इस मन्त्र का विशेष विवरण देखो हमारी लिखी 'अथर्ववेदीय मन्त्र-विद्या' पुस्तक में ।

त्रयोदश सूक्त

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः (तेजस्वी प्राणवाला) ।

देवता—विद्युत् ।

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्त्वै ।

नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥ १ ॥

(विद्युते नमस्ते-अस्तु) विशेष द्योतनशील मेघों में चमकने वाली तुझ विजुली के लिये स्वागत हो (स्तनयित्त्वै ते नमः) तुझ कड़क करने वाले विद्युत् तत्त्व के लिये स्वागत हो (ते-अश्मने नमः-अस्तु) तुझ मेघरूप के लिए स्वागत हो^१ (येन) जिससे कि तू विद्युत् स्तनयित्त्तु और मेघ (दूडाशे-अस्यसि) दुष्काल को^२ हटाता है ॥ १ ॥

नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि ।

मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ २ ॥

(प्रवतः-नपात् ते नमः) आकाश से प्रगति करने वाले नीचे वृष्टिरूप में आने वाले जल प्रवाह को न गिरने देने वाली पदार्थ सम्भालने-थामने वाले तुझ गुप्त विद्युत् के लिये स्वागत हो (यः-तपः समूहसि) जो तेज को सम्यक् ऊहन करती है-तर्कना में चमक लाती है पुनः वृष्टि होती है-जल बरसता है (नः-तनूभ्यः-मृडय) हमारे अङ्गों के लिये-सुखदायक हो (तोकेभ्यः-मयः-कृधि) पुत्रपौत्रों के लिये सुख कर ॥ २ ॥

प्रवतो नपाञ्जम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः ।

विद्य ते धाम परमं गुह्यं यत्

समृद्धे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥ ३ ॥

१ "अश्मा मेघनाम" [निर्ध० १ । १०]

२ "द्वितीयार्थे सप्तमी 'सुपां सुपो' भवन्तीति प्रमाणात् ।

(प्रवतः-नपात् तुभ्यं नमः-एव-अस्तु) हे आकाश के जलप्रवाह को धामने वाली विद्युत् तेरा स्वागत हो (तें हेतयें तपुषे च नमः कृष्णः) तेरे वज्र और तापक बल के लिये स्वागत है (ते परमं धाम विद्म) तेरे परम धाम को हम जानते हैं (यत् समुद्रे-गुहा-अन्त-असि निहिता नाभिः) जो अन्तरिक्ष में अन्तर्निहित गुप्त नाभि है-जलों को बान्धने वाली है ॥ ३ ॥

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व ईषु कृण्वाना असनाय धृष्णुम् ।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥४॥

(यां त्वा) हैं विद्युत् जिस तूझ की (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् यां विद्या के प्रवेश में कुशल विद्वान् जन (ईषु कृण्वानाः-असृजन्त) शत्रु यां रोग पर प्रहार-साधन वाणादि करने के हेतु निष्पादन करते हैं-आविष्कृत करते हैं (सा) वह तू (नः-मृड) हमें सुखीकर (विदथे गृणाना) दुःख संवेदन-संग्राम में प्रशस्त-उपयुक्त की हुई (देवि तस्मै ते नमः-अस्तु) हे देवी ! उस तेरे लिये स्वागत है-उपयोग है ।

चतुर्थदश सूक्त

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवता—यमः (यमनशील-संयमी गृहस्थ जन) ।

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।

महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥ १ ॥

(अस्याः) इस अपनी वधू का (भगं वर्चः) सुखैश्वर्य और आत्मिक स्नेह तेज को (आदिशि) मैं संयमी षति ग्रहण करता हूँ स्वीकार कर्ता हूँ (महाबुध्नः-इव पर्वतः) महान्-दृढ भूमि वाला पर्वत—जैसे स्थिर हुई (पितृषु ज्योक्-आस्ताम्) मेरे पिता आदि के बीच में उनकी सेवादि में चिरकाल तक-सदा उद्यत रहे ॥ १ ॥

एषा तै राजन् कन्या वधूनि धूयतां यम ।

सा मतिबध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

(यम राजन्) हे संयमी विद्या से प्रकाशमान वर ! (ते) तेरे लिये (एषा कन्या वधूः) यह कन्या-कमनीया वधू (निधूयताम्) तेरे द्वारा निश्चित गृहस्थाश्रम में भोगने योग्य है (सा) वह (मातुः) अपनी तेरी माता के (अथ-उ) और (भ्रातुः) भ्राता के (अथ) और (पितुः) पिता के (गृहे) प्रतिष्ठान में-आश्रय में^१ (बध्यताम्) बान्धये-नियुक्त कीजिए-उनकी सेवा में कुशल बनाइये ॥ २ ॥

एषा तै कुलपा राजन् तामु ते परि दक्षसि ।

ज्योक् पितृष्वासात् आ शीर्ष्णः समोप्यात् ॥ ३ ॥

(राजन्) हे गुणों से राजमान वर ! (एषा ते कुलपा) यह कन्या तेरे कुल की रक्षक है (तम्-उ-ते परि दक्षसि) उसे ही मैं तेरे लिये दे रहा हूँ (आशीर्ष्णः-समोप्यात्) जब तक इस का शिर शरीर से अलग न हो-शिर के बने रहने तक-न-भ्राता से (पितृषु ज्योक्-आसात्) तेरे पिता माता आदि के आश्रय सेवा करने में रह सकेगी ॥ ३ ॥

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।

अन्तःकांशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भर्तम् ॥ ४ ॥

(ते) हे वधू ! मैं तेरा वर—पति (असितस्य) बन्धन-रहित (कश्यपस्य) सर्वद्रष्टा^२ (च) और (गयस्य) प्राणस्वरूप परमात्मा के^३

१ "गृहा वै प्रतिष्ठा" [श० १।१।१।९]

२ "कश्यपः पश्यको भवति यः सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्" (तै० आ० १।८।८)

३ "प्राणो वै गयाः" [श० १४।८।१५।७]

(ब्रह्मणा) मन्त्र-मननीय विचार द्वारा (ते) तेरे (भगम्) सौन्दर्य गुणेश्वर्य को (जामयः-अन्तः कोशम्-इव) स्त्रियां जैसे अन्तः कोश में छिपे धन कोश-को आभूषण कोश को छिपा कर रखती है ऐसे (अपि नह्यामि) अपने अन्दर आत्मा में धारण करता हूँ उसे नष्ट न होने दूंगा ॥ ४ ॥

पञ्चदश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिरमन वाला)

देवता—सिन्धवादयो मन्त्रोक्ताः ।

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः ।

इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

(सिन्धवः-सं सं स्रवन्तु) स्यन्दमान नदियां निरन्तर सम्यक् बहती रहें (वाताः सम०) वायु-हवाएं सम्यक् वहे-चलें (पतत्रिणः-सम्) पतत्र वाले वाहन में युक्त अग्नि विद्युत् आदि पदार्थ सम्यक् गति करते रहें (मे-इमं यज्ञं प्रदिवः- जुषन्ताम्) मेरे इस जीवनयज्ञ को पुरातन^१ पितृजन गुरु-जन-विद्वान्जन प्रीति पूर्वक बढ़ावें (संस्राव्येण-हविषा जुहोमि) सम्यक् तृप्त करने वाले मनोभाव से^२ अपनाता हूँ ॥ १ ॥

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उत्तमं वर्धयता गिरः ।

इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥ २ ॥

(इह-एव) यहाँ ही (संस्रावणाः) हे दया वरसाने वाले विद्वानों ! (इह-एव) यहाँ ही (मे) मेरे (इह हवम्-आयात) यहाँ आमन्त्रण पर आओ (उत्त-इमं गिरः- वर्धयत) और इस मुझ को 'गिरः-गीभिः'^३ मेरी

१ "प्रदिवः पुराणनाम" [निषं० ३।२] ।

२ "मनो हविः" [तै० आ० ३।६।१] ।

३ भिसः स्थाने जसः ।

स्तुतियों द्वारा बढ़ाओ (यः पशुः) जो धान-अन्न^१ (सर्वः) सब (इह-एतु)
यहां आवे (या रयिः-अस्मिन् तिष्ठतु) जो धनराशि वह इस जीवन में प्राप्त
हो ॥ २ ॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।

तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ३ ॥

(नदीनां ये-उत्सासः) नदियों के जो उद्घाटित-रजवाहे (सदम्)
हमारे सदन-अन्न सदन-खेत में (अक्षिताः-संस्रवन्ति) निरन्तर-वहें
आवें (तेभिः-सर्वैः संस्रावैः) उन सब बहने वाले रजवाहों के द्वारा (मे
धनं सं स्रावयामसि) अपने प्रीणन करने वाले अन्न को^२ अपने खेत में
सम्पादित करते हैं ॥ ३ ॥

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।

तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ४ ॥

(सर्पिषः) घृत के (च) और (क्षीरस्य) दूध के (उदकस्य)
जल के समान (ये) जो (संस्रवाः) प्रवाह (संस्रवन्ति) बह रहे हैं गो
आदि पशुओं से वे (तेभिः-सर्वैः मे संस्रावैः) उन सब सम्यक्-बहने वाले
प्रवाहों से अपने लिये घर में (धनं सं स्रावयामसि) हम प्रीणन करने वाले
सुख को सम्प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

षोडश सूक्त

ऋषिः—चातनः (रोग दोष नाशक जन) ।

देवता—१ अग्निः, २ वरुणः, अग्निः, इन्द्रश्च, ३, ४ सीसम् ।

१ “पशवो वै धानाः” [मै० ४।७।४] ।

२ “धनं कस्माद् धिनोतीति सतः” [निरु० ३।१०] “धिवि प्रीणने”
[भ्वादि०] “धिन्विकृण्वोरच” [अष्टा० ३।१।८०]

ये ऽमावस्यां३ रात्रिमुदस्थुर्त्राजमत्त्रिणः ।

अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥ १ ॥

(ये) जो (अत्त्रिणः) मांस भक्षक जन्तु या जन (अमावास्यां रात्रिम्) अमावास्या-क्षाय रहने वाली अपनी पापभावना^१ को आश्रित कर-कारण बना (त्राजम्-उदस्थुः) व्रज-समूह-भागों को हमारी जीवनयात्रा के मार्गों पर उठ पड़ने-आक्रमण पर-उत्तर हो जावे, तो (यातुहा) यातना देने वाले को नष्ट करने वाला (तुरीयः-अग्निः) शीघ्रकारी^२ प्रभावकारी अग्नि या अग्रगता (सः) वह (अस्मभ्यम्-अधि ब्रवत्) हमारे लिये तुरन्त दबावे या सूचित करदे- आक्रमण कर रोक दे ॥ १ ॥

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति ।

सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुच्वार्तनम् ॥ २ ॥

(वरुणः सीसाय-अध्याह) वरने वाला रक्षक सीसे का उपयोग करने को आदेश देता है चाहे भस्म हों या फिर सीसा अस्त्र प्रयुक्त गोली हो (अग्निः-सीसाय-उप-उपावति) अग्नि या अग्रगता सीसे के चूर्ण या गोली को लक्ष्य कर, रक्षण करता है (इन्द्रः सीसं मं प्रायच्छत्) इन्द्र-विद्युत् शक्ति या ऐश्वर्यवान् राजा ने सीसे को मुझे प्रयोगार्थ प्रदान किया है ॥ २ ॥

इदं विष्कन्धं सहते इदं बाधते अत्त्रिणः ।

अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥ ३ ॥

(इदम्) यह सीसा भस्म या गोगी अस्त्रप्रयुक्त (विष्कन्धम्) विशेष शोषक रोगजन्तु या प्रजाशोषक जन को^३ (सहते) नष्ट करता है

१ "पाप्मा रात्रिः" [कौ० १७।६]

२ "तुरीयं त्वरतेः" [निरु० १३।९]

३ "स्कन्दिर् गतिशोषणयोः" [भ्वादि०]

४ "षह शक्यार्थे" [दिवादि०]

"चक प्रतिघाते" [भ्वादि०]

(इदम्) यह सीसा भस्म या अस्त्रप्रयुक्त (अत्रिणः-बाधते) मांस-भक्षक रोगजन्तुओं को या पीडक जनों को नष्ट करता है (अनेन) इस सीसे से (पिशाच्याः) मांस रक्त खाने वाली व्याधि या विभीषिका से (या विश्वा जातानि) जो सारे उत्पन्न हुए आक्रमणकारियों को (ससहे) मैं सहन करता हूँ ॥ ३ ॥

यदि नो गां हांसि यद्यश्चं यदि पूरुषम् ।

तं त्वा सीसेने विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥ ४ ॥

(यदि नः-गां हांसि) हैं रोगजन्तु या घातक जन ! यदि तू हमारी गौ को मारता है-मारें (यदि-अश्वं यदि पुरुषम्) यदि घोड़े को यदि मनुष्य को मारता-मारें तो (तं त्वा) उस तुझ को (सीसेन विध्यामः) सीसे की भस्म या अस्त्रप्रयुक्त सीसे की गोली से वीधते हैं-मारते हैं । यथा नः-अवीरहा-असः) जिस से तू हमारे वीरों को न मार सकने वाला हो ॥ ४ ॥

सप्तदश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (मनस्वी) ।

देवता—योषितो धमन्यश्च (स्त्रियां और धमनियां) ।

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः ।

अध्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥ १ ॥

(याः-अमूः) जो वे (लोहितवाससः) रक्तभरी (योषितः-हिराः-यन्ति) सेवनीय^१ या परितर्कनीय शोधनीय बन्द करने योग्य नाड़ियां बहती जा रही बह रही है^२ (तिष्ठन्तु) वे ठहरें-बहना बन्द करें (अध्रातरः-इव

१ "जुषी प्रीतिसेवनयो" [दिवादि०] "जुष परितर्कने" [चुरादि०]

२ "हीराभिः स्रवन्तीः" [मै० ३ । १५ । ७] /

हतवर्चसः-जामयः) भ्राता से हीन तेजरहित बहिनें जैसे पिता के घर में पितृवंश वृद्धि के लिये ठहरी रहती हैं ऐसे ही रक्त स्रावी नाड़ियां ठहरें ॥ १ ॥

तिष्ठान्वरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे ।

कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद् धमनिर्मही ॥ २ ॥

(अ्वरे तिष्ठ) हे नीचे वाली धमनी-नाड़ी ! तू बहने से रुक-अपने स्थान पर ठहर (परे तिष्ठ) हे पर-उत्कृष्ट-ऊपर वाली धमनी-नाड़ी ! तू ठहर-बहने से रुक (उत) अपि-और (मध्यमे त्वं तिष्ठ) हे मध्य में होने वाली नाड़ी तू ठहर-बहने से रुके (च) तथा (कनिष्ठिका तिष्ठति) अत्यन्त छोटी नाड़ी ठहरे-बहने से रुके (मही धमनिः-इत् तिष्ठात्) बड़ी धमनी नाड़ी भी अवश्य ठहरे-बहने से रुके जावें ॥ २ ॥

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् ।

अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥ ३ ॥

(धमनीनां शतस्य) बड़ी नाड़ियों के सौ संख्या परिमाण के-सौ बड़ी नाड़ियों के (हिराणां सहस्रस्य) सूक्ष्म-नाड़ियों तन्तुओं के सहस्र-हजार नाड़ी तन्तुओं के परिमाण के साथ (मध्यमाः-इत् स्थुः) मध्यम नाड़ियां भी अवश्य ठहर जाती हैं बहने से रुक जाती हैं (इमाः-अन्तरः साकम्-अरंसत) शेष ये सूक्ष्म तन्तु नाड़ियां भी साथ ही रुम जाती हैं-बहने से रुक जाती हैं ॥ ३ ॥

परि वः सिकतावती धनुर्बृहत्य क्रमीत् ।

तिष्ठतेल्यता सु कम् ॥ ४ ॥

(वः) हे नाड़ियों तुम्हारे में^१ (बृहती धनुः) बड़ी और मतिशील^२ या धनुष् के आकारवाली धमनी (सिकतावती) रक्तस्रावी रेत वाली—मिट्टी

१ “निर्घारणे षष्ठी ।

२ “धनुर्धन्वतेर्गतिकर्मणः” [निरु० ९ । १६]

चूरे वाली या वीर्यवती^१ (परि-अक्रमीत्) सब नाड़ियों में परिभूत हो जाती है । (तिउत सुकम्-इलयता) वह बहने से रुके और शोभने सुख को प्रेरित करे ॥ ४ ॥

अष्टादश सूक्त

ऋषिः—द्रविणोदाः (धनदाता) ।

देवता—सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः (सविता आदि मन्त्र में कहे)

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं^१ निरराति सुवामसि ।

अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अराति नयामसि ॥ १ ॥

(निर्लक्ष्म्यम्) चिह्न-धब्बे-मसे या कुछ चिह्न से रहित (निर्-अरातिम्) राति-देना, अराति लेने-शोषण करने वाले-शुष्क भाव से रहित- (ललाम्यम्) मुख-सौन्दर्य को^२ (सुवामसि) हम सम्पादन करें (अथ) और भी (या भद्रा) जो भी अन्य शरीर के हितकर-कल्याणकारी आचरण हैं (तानि) उन्हें भी सम्पादन करें (नः) हमारी (प्रजायै) सन्तति के लिये-वंश चलाने के लिये (अराति नयामसि) शोषण करने वाली व्याधि को अपने तथा पत्नी के अन्दर से बाहिर ले आते हैं—सन्तति तक नहीं जाने देते हैं ॥ १ ॥

निरराणि सविता साविषत्

पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा ।

निरस्सभ्यमनुमती रराणा प्रेमां

देवा असाविषुः सौभगाय ॥ २ ॥

१ “रेतः सिक्ता” [श० ७ । १ । १ । १९]

२ “ललामो भवति मुखत एवास्मिन् यजमाने तेजो दद्याति” [तै० सं० २ । १ । १० । १-२] “यल्लामोऽह्वस्तद्रूपम्” [काठ० १३ । ५]

(सञ्चिता) प्रातःकालीन वायु^१ (पादोः-हस्तयोः) पैरों की ओर हाथों की (अरणि निः साविषत्) अरमणता को निकालता है तथा (वरुणः) वरने वाला-आकाश को बेरने वाला मेघजल (निः) निकाल दे (मित्रः) अग्नि (अयमा) आदित्य^२ (निः) निकालता है (रराणा-अनुमतिः) जन्म देने वाली पृथिवी^३ (अस्मभ्यम्) हमारे लिये गृहस्थ से (जिः) निकाल देती है तथा (देवाः) ये सब देव (इमाम्) इस पत्नी को (सौभाग्य) सौभाग्य के लिये (प्र-असाविषुः) सु सम्पन्न करें ॥ २ ॥

यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा ।

सर्वे तद् वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वौ सविता सूदयतु ॥३॥

(यत्) जो (घोरम्) भयानक या घातक लक्षण (ते) तेरे (आत्मनि) आत्मा में-अन्दर अन्तःकरण में (तन्वाम्) शरीर में (यद्वा) अथवा (केशेषु) केशमूलों में-मस्तिष्कतन्तुओं में (वा) या (प्रतिचक्षणे) दर्शन-साधन-आंख में (अस्ति) है (तत् सर्वम्) उस सब को (वाचा) वाणी-मधुर प्रभावकारी प्रवचन से (वयम्-अपह्नमः) हम नष्ट करते हैं (सविता देवः) उत्पादक-परमात्मदेव (त्वा सूदयतु) तुझे सद् लक्षण की ओर प्रेरित करे ॥ ३ ॥

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत ।

विलीढयं ललाम्यं^१ ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ४ ॥

(रिश्यपदीम्) ऋश्यपदी-हरिण जैसी उद्यत गति प्रवृत्ति को (वृषदतीम्) बैल के दान्त दीखाने जैसी प्रवृत्ति को (गोषेधाम्) गौ जैसी गति या चाल को (उत) और (विलीढ्यम्) विलेहन चाटने जैसे जिह्वा

१ "वायुरेव सविता" [गौ० १।१।३२]

२ "असौ वा आदित्योऽयमा" [तै-स० २।३।४।१]

३ "इयं पृथिवी वा अनुमति" [तै० १।६।१।४]

प्रवृत्ति को (ललाम्यम्) गवित प्रवृत्ति को (ताः) उन सब प्रवृत्तियों को (अस्मत्) हम अपने गृहस्थाश्रम से (नाशयामसि) नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

एकोनविंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (ब्रह्मजामी) ।

देवता—१ इन्द्रः (राजा या सेनानी) २ मनुष्येष्वः (मनुष्य सम्बन्धी वाण) ३ रुद्रः (रूताने वाला सेनानी) ४ देवाः (विद्वां) ।

मा नो विदन् विव्याधि नो मो अभिव्याधि नो विदन् ।

आरारुच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

(इन्द्र) हे राजन् या सेनानायक ! तू (शब्दाः-विषूचीः) हिंसक-शत्रुनाशक शस्त्रास्त्र समूह की प्रहारक विषमगतियों को^१ (अस्मत्-आरात्-पातय) हमारे से दूर शत्रुप्रदेश में इस प्रकार गिरा कि (विव्याधिनः-नः-माविदन्) इधर उधर से ताड़ने वाले हमें न प्राप्त हों, तथा (अभिव्याधिनः-मा विदन्) सामने ताड़ने वाले शत्रु जन हमें न प्राप्त हों ॥ १ ॥

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।

दैवीर्मनुष्येष्वो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥

(ये-अस्ताः-ये च-आस्याः-शरवः) जो फेंके गये और जो फेंके जाने वाले शर-हिंसक गोले (अस्मत्-विष्वञ्चः पतन्तु) हमारे से परे इधर उधर-गिरें, तथा (मनुष्येष्वः-दैवीः) मनुष्य द्वारा बल पाकर चले हुये वाणी ! तथा देव-विद्युद्द आदि द्वारा चलाये गए वाणी ! तुम (मम-अमित्रान्) मेरे अमित्र-शत्रुओं को (विध्यत) विशेष वीन्धो ॥ २ ॥

१ "विषुरूपेषु विषमरूपेषु" [निरु० ११ । २३]

यो नः स्वो यो अरणः सज्जाद्य

उत निष्ठयो यो अस्माँ अभिदासति ।

रुद्रः शरव्य यैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ॥ ३ ॥

(यः-नः स्वः) जो हमारा अपना जन (यः-अरणः) जो अन्य वंशीय जन^१ (सजातः-उतः निष्ठयः) समान स्वभाव अपिवा नीच स्वभाव (यः-अस्मान्) जो हमें (अभिदासति) पीडित करे^२ (रुद्रः) शत्रु को रूलाने वाला शूर सेनानी (शरवः) हिंसक शस्त्र धारा से (मम-एतान्-अमित्रान् विविध्यतु) मेरे इन शत्रुओं को विशेष रूप से ताडित करे ॥ ३ ॥

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषच्छपाति नः ।

देवास्त सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ५ ॥

(यः सपत्नः) जो शत्रु (यः-असपत्नः) जो शत्रु नहीं, अपितु मित्र (यः-च) और जो (द्विषन् नः शपाति) द्वेष करता हुए हमें अहितकर बोलता है (तम्) उसको (सर्वे देवाः-धूर्वन्तु) सब विद्वान् ताडित करें-फटकारें-धक्कारें (मम-अन्तरं ब्रह्मवर्म) मेरे अन्दर परमात्मा मेरा कवच-रक्षक है ॥ ४ ॥

विंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर जन) ।

देवता—१ सोमो मरुतश्च (शान्त परमात्मा और विद्वान् जन)

२ मित्रावरुणौ (प्राण-अपान) ३ वरुणः (उदान) ४

इन्द्र (जीवात्मा)

१ “अरणोऽपारणः” [निरु० ३।१]

२ “दसु उपक्षये” [दिवादि०]

अदारसृद् भवतु देव सोमास्मिन् यज्ञे मरुतो मृडता नः ।

मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा

नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥ १ ॥

(सोम देव) हे शान्तस्वरूपपरमात्मन् ! तथा (मरुतः) विद्वानो^१
(अस्मिन् यज्ञे) इस श्रेष्ठतम कर्म में (नः-मृडत) हमें सुखी करो, एवम्
(अदारसृत्-भवतु) कोई विघ्नकर्ता हमारे यज्ञ को अङ्ग-भङ्ग करने वाला हो
(नः-मा-अभिभाः) हमें न दबाने वाला हो (अभिशस्तिः-मा-उ) न
अकीर्तिकर हो (नः-मा-उ वृजिना या द्वेष्या विदद्) हमें पाप वृत्तियां और
जो द्वेष भावनाएं हैं वे भी न प्राप्त हो ॥ १ ॥

यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते ।

युवं तं मित्रावरुणावस्सद् यावयतं परि ॥ २ ॥

(अद्य) इस जीवन में (अघायूनाम्) हमारा पाप-अनिष्ट चाहने वालों
का^२ (यः सेन्यः-वधः) जो सेना में हुआ घातक शस्त्र (उदीरते) प्रहार
करने को उभर रहा है । (तम्) उसको (युवं मित्रावरुणौ) तुम दोनों शत्रु
पर प्रहार करने वाले सेनानी और हमारा रक्षण करने वाले राजन्, अथवा
विद्युत् दोनों शुष्क और आर्द्र धाराओं ! विद्युत्-धाराओं से युक्त अस्त्रों^३
(अस्मत् परि यावयतम्) हम से परे दूर रखें ॥ २ ॥

इतश्च यदमुतश्च यद् वधं वरुण यावय ।

वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ३ ॥

१ "मरुतः-ऋत्विङ् नाम" [निघ० ३। १८]

२ "छन्दसि परेच्छायामपि" [अष्टा ३। १। ८ वा०] इतिक्यच् ।

३ "मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणे हि" [मै० ३। ८। ९]

(वरुण) हमारे वरण-रक्षण करने वाले राजन् ! तू (इतः-च) इधर से भी-हमारी ओर से भी शत्रु के प्रति फेंके हुए, तथा (अमुतः-च) शत्रु की ओर से फेंके हुए (यत्-वधम्) जिस हनन साधन अस्त्र को (यावय) हम से अलग रख (महत्-शर्म वियच्छ) महान् सुखशरण को प्रदान कर (वधं वरीयः-यावय) हननसाधन अस्त्र को बहुत दूर अलग कर ॥ ३ ॥

शास इत्या महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तुतः ।

न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ ४ ॥

(इत्या महान् शासः-असि) हे वरुण-वरुण रक्षण करने वाले राजन् ! तू सच्चा महाने शासक है (अमित्रसहः-अस्तुतः) शत्रुओं को अभिभूत करने वाला और अहिंसनीय है^२ (यस्य सखा) जिसका समान धर्मी-मित्र है वह (कदाचन) कभी भी (न हन्यते न जीयते) न मारा जाता है न जीता जाता है ॥ ४ ॥

एकविंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (अविचल) ।

देवता—इन्द्रः (राजा) ।

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।

वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः ॥ १ ॥

(विशांपतिः) प्रजाओं का पालक (स्वस्तिदा) मङ्गल दाता हो^३ (वृत्रहा) पापों-अनाचारों का नाशक^४ (विमृधः-वशी) विशेष शत्रु

१ "प्रियस्थिरस्फिरोरुवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर" [अष्टा० ६ । ४ । १५७]

२ "स्तृञ् हिंसायाम्" [ऋयादि०]

३ "स्वस्ति मङ्गलं क्षेमं च" [अव्ययार्थं निबन्धनम्]

४ "पाप्मो वै वृत्रः" [श० ११ । ५ । ७]

हिसक तथा निज वश में करने वाला हो (वृषा) सुखवर्षक तथा वृषभ समान बलवाद् (सोमपाः) सोमरस का पानकर्ता, न तु सुरा पान कर्ता (अभयङ्करः) हमें अभय करने वाला (नः पुरः-एतु) हमारे आगे चले-हमें सन्मार्ग पर चलावे (इन्द्रः) राजा होता है ॥ १ ॥

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।

अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥

(इन्द्रः) हे राजन् तू (नः-मृधः-विजहि) हमारे संग्रामों को^१ नष्टकर (पृतन्यतः) शत्रुता करने वाले जनों को (नीचा यच्छ) नीचे-नियन्त्रण में ले (यः-अस्मान्-अभिदासति) जो हमें दबाता है, उसे (अधमं तमः-गमय) उसे घने अन्धकार में पहुंचादे ॥ २ ॥

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।

वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

(इन्द्र) हे राजन् ! तू (रक्षः-विजहि) जिस से अपनी रक्षा करनी है ऐसे दुष्टजन को^२ विनष्ट कर (मृधः-वि०) हिसक प्राणी को विनष्ट कर (वृत्रस्य हनू वि रुज) पापी जन के दोनों जबड़ों को भङ्ग कर-तोड़ दे (वृत्रहन्) हे पापी जन-नाशक ! तू (अभिदासतः-अमित्रस्य) हमारा क्षय करते हुए शत्रु के (मन्युं वि०) क्रोध या अहितकर विचार को विनष्ट कर ॥ ३ ॥

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।

वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

१ "मृधः संग्राम नाम" [निघ० २ । १७]

२ "रक्षो रक्षितव्यमस्मात्" [निरु० ४ । १८]

(इन्द्र) हे राजन् ! तू (द्विषतः-मनः-अप) द्वेष करते हुए के मन विचार को अलग कर (जिज्यासतः-वधम्-अप) हमारे आयु को हानि करने वाले के घातक भाव को पृथक् कर (महत्-शर्मं वियच्छ) भारी सुख क्षरण प्रदान कर (वधं वरीयः-यावय) घातक जन या घातक साधन को दूर कर ॥ ४ ॥

द्वाविंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (चिकित्सक ज्ञानी)

देवताः—सूर्यः, हृद्रोग, हरिमा (हलीमक रोग) ।

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ।

गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

(ते) हे रोगी ! तेरा (हृद्द्योतः) हृदयोत्तेजन-हृदयजलन-हृदयधड़कन-हृदयशूल (च) और (हरिमा) हलीमक पाण्डु कामला रोग (सूर्यम्-अनु) सूर्य के साथ (उदयताम्) शरीर से बाहिर हो अतः (त्वा) तुझे (रोहितस्य गोः) नारंगी रंग वाले उदयकालिक सूर्य के (तेन वर्णेन) उस रंग से (परिदध्मसि) ढकते हैं-सब ओर से भरपूर करते हैं। अन्य समय में कृत्रिम ढंग से अरुण रंग किरण से ढांपते हैं ॥ १ ॥

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि ।

यथायमरपा असद्यो अहरितो भुवन्त् ॥ २ ॥

(त्वा) हे रोगी ! तुझे (रोहितैः-वर्णैः) अरुण रंगों से-अरुण रंग वाले वेश आदि से (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन-पूर्ण आयु पाने के लिये

(परिदध्मसि) ढांपते हैं (यथा) जिस्से (अयम्) तू यहः (अरपाः) दोष से-रोग से रहित (असत्) हो जावे (अथ-उ) अनन्तर ही-पुनः (अहरितः) रोगरूप हरे रंग से-हरे पीले रोग रंग से रहित (भुवत्) हो जावे ॥ २ ॥

या रोहिणीदेवत्या ३ गावो या उत रोहिणीः ।

रूपरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥

(याः) जो (गावः) सूर्यकिरणों (देवत्याः-रोहिणीः) स्वतः स्वरूप अरुण रंग वाली-सूर्योदय कालवाली हैं (उत) और (याः) जो (रोहिणीः) कृत्रिम अरुण रंग-वाली हैं (ताभिः) उन दोनों किरणों से (त्वा) तुम्हें (परिदध्मसि) ढांपते हैं (रूपं रूपं वयः-वयः) रूप-रोग से/पूर्व जैसा था वैसा शरीर का रूप होजावे और वयः-अवस्था या प्राण बल रोग से पूर्व जैसा था वैसा हो जावे ॥ ३ ॥

शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।

अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

(ते) हे रोगी ! तेरे (हरिमाणम्) हलीमक कामला-रोग को (शुकेषु) तोते पक्षियों में तथा (रोपणाकासु) सदा रोहण करने वाली-हरी भरी रहने वाली दूब घासों में (दध्मसि) धरते हैं (अथ-उ) और भी (ते) तेरे हलीमक कामला रोग को (हारिद्रवेषु) हरिद्रु-वृक्षों-दारु हल्दी वृक्ष समूहों में (निदध्मसि) निहित करते हैं-विलुप्त करते हैं । हरे तोतों के पालने देखने उनमें रहने हरी दूब में बैठने दारु हल्दी के सेवन से उक्त रोग दूर हो जाता है ॥ ४ ॥

१ "गावः रश्मि नाम" [निघं० १।५]

२ "तस्य समूहः" [अष्टा० ४।३७, ४४]

त्रयोविंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर मन वाला) ।

देवता—वनस्पतयः—रामा कृष्णा-असिकनी-च ।

नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्वि च ।

इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥

(रामे-कृष्णे असिक्वि च-ओषधे) हे रामा, कृष्णा, और असिकनी ओषधि ! तू (नक्तं-जाता-असि) रात्रि में उगने बढ़ने वाली है (रजनि) हे रंगने वाली ओषधि (इदं रजय) इसे रंग दे (यत्) जो कि (किलासं पलितं च) श्वेत कुष्ठ और श्वेत केशपन है ॥ १ ॥

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।

आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥ २ ॥

(किलासं च पलितं च) श्वेत कुष्ठ और श्वेत केशपन को (इतः) इस मनुष्य से (पृषत्-पृथक्^१ निर्नाशय) पृथक् कर विनष्ट करदे (शुक्लानि परा पातय) त्वचा के श्वेत चिह्नों को और श्वेत केशों को दूर कर (स्वः-वर्णः) त्वचा और केशों का अपना रंग (त्वा, 'त्वया') तेरे द्वारा (आविशताम्) आविष्ट हो-समाजावे ॥ २ ॥

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव ।

असिक्व्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥

(ओषधे) हे ओषधि ! (ते) तेरा (प्रलयनम्) घोल (असितम्) काला नीला है (तव) तेरा (आस्थानम्) आवास-रंगा वस्त्र आदि भी (असितम्) काला नीला है, अतः (असिकनी-असि) तू असिकनी-असिता-

काली-नीली नामवाली है (दूतः पृषत्-निनाशिय) इस रोगी मनुष्य से त्वचा के श्वेत चिह्न और केशों के श्वेत पन को सर्वथा पृथक् कर ॥ ३ ॥

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।

दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्मं श्वेतमनीनशम् ॥ ४ ॥

(त्वचि) त्वचा में-शरीर में हुए (अस्थिजस्य) हड्डी में हुए विकार से उत्पन्न (च) और (तनूजस्य) मांस विकार से उत्पन्न (दूष्या कृतस्य) दूषी-विषक्रिया से उत्पन्न (किलासस्य) श्वेत कुष्ठ का (यत्-श्वेत लक्ष्म) जो श्वेत चिह्न है, उसे (ब्रह्मणा-अनीनशम्) मैं चिकित्सक नीली औषधि के ज्ञान से नष्ट करता हूँ ॥ ४ ॥

चतुर्विंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (औषधप्रयोक्ता) ।

देवता—आसुरी वनस्पतिः (पीली सरसों) ।

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ ।

तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥ १ ॥

(सुपर्णः प्रथमः-जातः) उत्तम रश्मि^१ वाला सूर्य प्रथम प्रकट हुआ (तस्य पित्तम्) उसका तेजरूप (त्वम्) हे औषधि तू (आसीथ) है (आसुरी) गौर सरसों (युधा जिता) संघर्ष करने वाले-पीसने रगड़ने वाले से पीसी रगड़ी हुई (वनस्पतीन्) वनस्पतियो को (तत्-रूपम्) उस गुण को (चक्रे) अपने में करलेती है ॥ १ ॥

१. "सुपर्णाः-रश्मयः" [निघ० १ । ५] तद्वान् मतुब्लोपश्छान्दसः ।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम् ।

अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥ २ ॥

(आसुरी) पीली सरसों (प्रथमा) मुख्य ओषधि (इदम्) इस (किलासनाशकम्) किलास कुडु नाशक (किलासभेषजम्) किलास श्वेत कुष्ठ का भेषज है जो कि (किलासम्) श्वेत कुष्ठ को (अनीनशत्) नष्ट करता है (त्वचं सरूपाम्-अकरत्) त्वचा को अन्य त्वचा से रूप वाली कर देता है ॥ २ ॥

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता ।

सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

(ओषधे) हे पीली सरसों ओषधि ! (ते माता) तेरी माता कुष्ठ अर्थात्-पृथिवी-भूमि (सरूपा) श्वेत कृष्ठ को समान करने वाली है (तेऽपिता) तेरा पिता अर्थात्-सूर्य (सरूपः) समानरूप करने वाला है (त्वम्) तू भी (सरूपकृत्) समान रूप करने वाली है अतः (सा) वह तू (इदम्) इस श्वेत कुष्ठ को (सरूपं कृधि) त्वचा के समान रूप कर ॥३॥

श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या अध्यद्भृता ।

इदम् शु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पये ॥ ४ ॥

(पृथिव्याः-अधि) पृथिवी पर (उद्भृता) उगी हुई (श्यामा) नीली ओषधि भी ? (सरूपकरणी) सरूप करने वाली है (इदम्) इस श्वेत कुष्ठ को (उ) अक्श्य (सुप्रसाधय) सुधार-अच्छा करदे (पुनः) फिर (रूपाणि कल्पय) रूपों को बना ॥ ४ ॥

पञ्चविंश सूक्त

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः (तेजस्वी ज्ञानाग्नि वाला)

देवता—यक्ष्मनाशनोऽग्निः (रोगनाशक अग्नि)

यद्भि_२रापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि ।

तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान्

परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

(यत्) कि (धर्मधृतः) वातिक पैतिक श्लैष्मिक घर्मों को धारण करते हुए (आपः) आहार रस^१ (यत्र) जहाँ (नमांसि) नमन झुकाव (कृण्वन्) करते हैं, वहाँ (अग्निः) कोष्ठ से स्थानच्युत अग्नि (प्रविश्य) प्रवेश करके (अदहत्) दहक उठता है^२ बेस (तत्र) वहाँ (तक्मन्) हे ज्वर ! (ते) तेरा (परमं जनित्रम्) परम जन्म (आहुः) कहते हैं (सः) वह तू (नः) हमें (संविद्वान्) समझता हुआ दृढ़ भाव रखता हुआ (परि वृङ्ग्धि) वर्जित कर छोड़ दें ॥ १ ॥

यद्यर्चिर्यदि घासि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम् ।

ह्रूडुर्नामांसि हरितस्य देव स नः संविद्वान्

परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ २ ॥

(यदि-अर्चिः) : यदि तू अग्निदीप्ति जैसा (यदि वा शोचिः) अग्नि-ज्वाला जैसा (असि) है (शकल्य-इषि) देह के टुकड़े अङ्ग अङ्ग में^३ प्राप्त हो रहा है अङ्ग अङ्ग को तोड़ रहा है (यदि वा ते जनित्रम्) अथवा तू अपने

१ "रसो वा आपः" [श० ३।३।३।१८]

२ "मिथ्याहारव्यवहारभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः । वह्निनिरस्य कोष्ठाग्नि ज्वरदाः स्यूरसानुगाः" [माधव निदान ज्वर नि० २]

३ 'डी' प्रत्ययस्य लुक् [छान्दस०]

जन्मस्थान-देह रस में प्राप्त है (सः) वह (हरितस्य ह्रुः-नाम-असि) शरीर में हरे रंग का प्रेरक अवश्य है (देव तकमन्) है पीड़ित करने वाले ज्वर ! (संविद्वान्) समझता हुआ-स्थिर भाव रखता हुआ (नः) हमें (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥ २ ॥

यदि शोको यदि वाभिःशोको

यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः ।

ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान्

परि वृङ्ग्धि तकमन् ॥ ३ ॥

(यदि) यदि तो (शोकः) शोक (यदि वा) और यदि (अभिशोकः) मोह-काम वासना (यदि वा) और यदि (वरुणस्य राज्ञः पुत्रः-असि) वरुण राजा से उत्पन्न हुआ है-ईर्ष्या आदि पाप से प्राप्त^२ तथा (हरितस्य) शरीर में हरे रंग का (ह्रूडुः) प्रेरक^३ (नाम) अवश्य (असि) है, अतः (सः) वह तू (देव तकमन्) हे पीड़ित करने वाले ज्वर (संविद्वान्) समझता हुआ स्थिर भाव रखता हुआ स्थिररूप (नः) हमें (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥ ३ ॥

नमः शीताय तकमने नमो रुराय शोचिषे कृणोमि ।

यो अन्येद्युर्भयद्युर्भ्येति तृतीयकाय

नमो अस्तु तकमने ॥ ४ ॥

(शीताय :तकमने नमः॥) शीत ज्वर पीड़क के लिये यज्ञ-होम या नाशनप्रतीकार^४ (रुराय शोचिषे नमः) उष्मज्वर-दाहक ज्वर तापक के

१ "वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मा गृहीतो भवति" [२१।१२]

२ अभि पूर्वक शुचिर्मोहार्थे ।

३ 'ह्रूडु' (गती) [भ्वादि०]

४ "यज्ञो नमः....." [२।४।२।२४]

लिये^१ यज्ञभावित जल या प्रतिकार (कृणोमि) में करता हूँ (यः-अन्येद्युः) जो अगले दिन भी (उभयेद्युः) दूसरे दिन एक बीच में छोड़ कर (अभ्येति) चढ़ता है (तृतीयकाय तक्मने) तीसरे दिन दो दिन बीच में छोड़ कर चढ़ता है उसके लिये (नमः-अस्तु) यज्ञ-होम-सुगन्ध या प्रतिकार हो ॥ ४ ॥

षड्विंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ (ब्रह्मात्मवेत्ता)

देवता—इन्द्रादयः । (ऐश्वर्यवान् आदि गुणयुक्त परमात्मा या विद्युत् आदि)

आरे३ सावस्सदस्तु हेतिर्देवासो असत् ।

आरे अश्मा यमस्यथ ॥ १ ॥

(देवासः) हे विजयकाक्षी वीरो^२ (हेतिः) शत्रु के फँकने योग्य वह वज्र शस्त्र (अस्मत्-आरे-अस्तु) हमारे से दूर हो, तथा (अश्मा-आरे-अस्तु) वह पाषाणखण्ड वज्र भी हम से दूर रहे, यदि (यम्-अस्यथ) जिसे तुम फँकते हो ॥ १ ॥

सखासावस्सभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो

भगः सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

(असौ) वह (रातिः) सुखदाता परमात्मा (अस्मभ्यं सखा-अस्तु) हमारे लिये सहायक हो (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (भगः) भजनीय परमात्मा (सविता) प्रेरक परमात्मा तथा (चित्रराधाः) अद्भुत

१ "अग्निर्वै रुरः" [तां०, ७ । ५ । १०]

२ "दिवु क्रीडाविजिगीषाः " [दिवाः]

धन जिसेसे मिलता है ऐसा परमात्मा (सखा) सहायक मित्र है अथवा जलप्रद मेघ, विद्युत्, वायु, सूर्य, पृथिवी सहायक हों ॥ २ ॥

युयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः ।

शर्मं यच्छाथ सप्रथाः ॥ ३ ॥

(मरुतः) हे सैनिक जनो ! (यूयम्) तुम (नः प्रवतः-नपात्) हमें नीचे गिरते हुआओं को न गिराने वाले-उठाने वाले हो (सप्रथाः-शर्म यच्छाथ) विस्तार सहित सुख शरण प्रदान करो ॥ ३ ॥

सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

(नः-सुषूदत) हे सैनिक जनो ! हमारी ओर दया पूर्ण होओ (मृडत) सुखी करो (मृडया) प्रत्येक अपने को सुखी कर (तनूभ्यः-तोकेभ्यः) शरीरों के लिये बच्चों के लिये (मयः-कृधि) सुख कर ॥ ४ ॥

सप्तविंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः) (स्थिर, कल्याणाधार स्वराष्ट्र का चाहने वाला)

देवता—इन्द्राणी (परमेश्वर की या सम्राट् की विभूति) ।

अमूः पारे पृदाक्खिषता निर्जरायवः ।

तासां जरायुभिर्वयमक्ष्याऽवपि व्ययामस्यघायोः

परिषन्धिनः ॥ १ ॥

(पारे) पर राष्ट्र में वर्तमान (अमूः) वे (पृदाक्वः) अजगररूप घेरा डाले हुई परसेनाएं (खिषताः) तीनों स्थानों भूमि, जल, आकाश में सृप्त-सर्पवत् गतिशील हुई (निर्जरायवः) जरायु-केंचुली से निकलें सर्प की भांति शिविर से बाहर आती हुई (तासाम्) उन सेनाओं को (जरायुभिः)

अन्य वैज्ञानिक आवरणों-गैस आदि के द्वारा (वयम्) हम (अघायवः परिपन्थिनः) पाप चिन्तक विरोधी शत्रु के (अक्षयी-अपि) आंखों को अवश्य ढांपते हैं ॥ १ ॥

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव विभ्रती ।

विष्वक् पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥ २ ॥

(पिनाकम्-इव विभ्रती) धनुष् अस्त्र धारण करती हुई (कृन्तती) शत्रुसेना का छेदन करती हुई (विषूची-एतु) हमारी सेना विविध और व्यूह क्रम से आगे आक्रमण करे (पुनर्भुवाः) भमाई हुई सेना पुनः एकत्र हुई शत्रु सेना के (अघायवः) पाप चाहने वाले शत्रुसेना के सैनिक जन (असमृद्धाः) अशक्त हो जावे और (मनः-विष्वक्) मन भिखर जावे कुछ भी करने में असमर्थ हो जावे ॥ २ ॥

न बहवः समशकव नार्भका अभि दाधृषुः ।

वेणोरद्गा इत्रामितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥

(बहवः-अघायवः) बहुत पापी शत्रु (न समशकव) हमें पराजित करने में समर्थ नहीं (अर्भकाः-न-अभिदाधृषुः) थोड़े तो साहस कर सकते ही नहीं (वेणोः-उद्गाः-इव) बांस-वृक्ष की कोमल शाखाओं या अङ्कुरों के समान (अभितः-असमृद्धाः) सब और निर्बल ही हैं वे क्या कर सकते हैं ॥ ३ ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।

इन्द्राण्ये तु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

(पादौ) सेना और समिति दोनों शत्रु पर प्रहार करने वाली सेना और स्वरक्षा करने वाली समिति ये दोनों स्वराष्ट्र के दो पैर हैं-तुम दोनों

(प्रेतम्) शत्रु को विजय कर चलो (प्रस्फुरतम्) प्रगति करो-समृद्ध बनों (पृणतः-गृहान् वहतम्) अपने पालन करने वाले राजा के राष्ट्र प्रदेशों को प्राप्त होओ (अजीता) पराजित न होने वाली (अमुषिता) शत्रु की ओर से न छीनी न लुटी पिटी हुई (प्रथमा) प्रमुख (इन्द्राणी) राष्ट्र विभूतिरूप सैन्यशक्ति (पुरः-एतु) हमारे राष्ट्र प्रदेशों में जय घोष करती हुई प्रवेश करे

॥ ४ ॥

अष्टाविंश सूक्त

ऋषिः—चातनः (आक्रमकनाशक)

देवता—(पूर्वार्धस्य) अग्निः (अग्नेयास्त्र प्रयोक्ता नेता) (अग्ने)
यातुधान्यः (छली पीड़क या रोगजन्तु) ।

उप प्रागाद् देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः ।

दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥ १ ॥

(अमीवचातनः) आक्रमणकारी का नाशक^२ (रक्षोहा) जिन से अपनी रक्षा करनी चाहिये ऐसे घातकों को नष्ट करने वाला (देवः-अग्निः) ज्ञानवान् जयशील अग्रणेता अग्नेयास्त्र-प्रयोक्ता या अग्नि (द्वयाविनः) दोमुखी चाल चलने वालों-मित्रता भी शत्रुता भी करने वालों या ऊपर नीचे जाने वाले रोग जन्तुओं को (यातुधानान्) यातना-पीड़ा को धारण करने वाले-देने वाले (किमीदिनः) किम्-किम् क्या-क्या जानने वालों क्या क्या अनर्थ सोचने कहने वालों को (दहन्) दग्ध करने के हेतु (उप प्रागात्) प्राप्त है-उपस्थित रहे ॥ १ ॥

१ छान्दस दीर्घः—“अन्येषामपिदृश्यते [अष्टा० ६।३।१३]

२ “अम गत्यादिषु [भ्वादि०]

प्रति दह यातुधानान् प्रति देव किमीदिनः ।

प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

(कृष्णवर्तने देव) हे कृष्णवर्तनि ! अग्नेयास्त्र से धूँवाधार मचाने वाले अग्रणी देव या धूँवा प्रवर्तक अग्निदेव (यातुधानान् प्रति दह) यातना धारण कराने वाले-पीड़ा देने वाले शत्रुओं को या रोगजन्तुओं को दग्ध कर दे (किमीदिनः प्रति) क्या क्या अहित सोचने वाले कहने वाले गुप्त शत्रुओं या रोगजन्तुओं को दग्ध कर दे (प्रतीचीः-यातुधान्यः-संदह) तथा उलटी आने वाली-आक्रमण करने वाली-पीड़ा देने वाली सेनाएं या रोग जन्तुजातियों को एकठा दग्ध कर ॥ २ ॥

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे ।

या रसस्य हरणाय जातमारभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥

(या) जो पीड़ा देने वाली शत्रु व्यक्ति या रोग जन्तु जाति (शपनेन शशाप) किसी पीड़ा स्पर्श शस्त्रसाधन से पीड़ामय स्पर्श करती है^१ (या) जो (याघं मूरम्-आदधे) नाशक मूर्च्छा करने वाले साधन को धारण करती है^२ (या) जो (रसस्य हरणाय) देहस्थ रक्त हरण के लिये (जातम्-आरभे) जन्म लिया है (सा तोकम्-अत्तु) वह अपने ही सन्तान को खावे ॥ ३ ॥

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्य म् ।

अर्था मिथो विकेश्योऽ वि च्छन्तां यातुधान्योऽ

वि तृह्यन्तामराय्यः ॥ ४ ॥

(यातुधानी) यातना धारक-पीड़ा देने वाली शत्रुसेना या रोग जन्तुजाति (पुत्रम्-अत्तु) अपने वीर को खावे^१ या रोग जन्तु जाति अपने

१ "शपतेः स्पृशतिकर्मणः" [निरु० ३-२१]

२ 'मूर्च्छा मोहने' ततः क्विप् च' "राल्लोपः" [अष्टा० ६-४-२१]

पुत्र को खावे (स्वसारम् नप्त्यम्) स्वसारिणी-सहायिका सेना को तथा न गिराने वाली रक्षिका सेना को खावे या रोग जन्तु जाति अपनी बहिन और नातिनी जाति को खावे (अग्ध) अनन्तर (अराय्यः) न देने आप शोषण करने वाली (यातुधान्यः) यातना देने वाली शत्रु सेनाएं या रोग जन्तु जातियाँ (मिथः) परस्पर (विकेश्यः विघ्नतां वितृह्यन्ताम्) केश नोच नोच कर हिसित अर्थात् विनष्ट हों ॥ ४ ॥

एकोनविंश सूक्त

ऋषिः—वसिष्ठः (ज्ञान में अत्यन्त वसा हुआ) ।

देवता—ब्रह्मणस्पतिः. अभिवर्तमणि (पुरोहित, शत्रु पर आक्रमण साधन अस्त्र) ।

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।

तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

(ब्रह्मणस्पते) हे पुरोहित ! (येन-अभिवर्तेन मणिना) जिस अभिवर्त मणि-शत्रु पर आक्रमण के साधन-स्फोटक और विष द्रव्यों तथा लोहे आदि धातुओं से बने गोल बम के प्रयोग से^२ (इन्द्र) राजा (अभिवावृधे) समृद्धि को प्राप्त होता है आगे बढ़ता है^३ (तेन) इस से (राष्ट्राय) निज राष्ट्रहित के लिये (अस्मान्) हमें (अभिवर्धय) समृद्ध कर-आगे बढ़ा ॥ १ ॥

१ “पुत्रो वै वीरः” [शं० ३।३।१।१२]

२ “अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभीवावृते तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्तय” [ऋ० १०।१७३।१] ऋग्वेद में ‘मणि’ के स्थान में ‘हविषा’ दिया है: गन्धक, खनिज तथा जङ्गम और स्थावर विष लोह आदि युक्त गोला घूम फेकने वाला यहाँ अथर्व वेद में मणि नाम से कहा गया है ।

३ “छन्दसि लुङ् लङ् लिटः” [अष्टा० ३।४।६]

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः ।

अभि पृतन्यन्तं तिष्ठामि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

(सपत्नात्) हे राजन् ! शत्रुओं को (अभिवृत्य) वेर कर (याः) जो (नः) हमारी (अरातयः) आदान वृत्तिवाली-साथ न देने वाली प्रजाएं हैं उनको (अभि०) वेर कर (पृतन्यन्तम्) संग्राम चाहते हुए को^१ (अभि०) वेर कर (यः) जो (नः-दुरस्यति) हमें धोखा देता है-नष्ट करता है उसको (अभि० तिष्ठ) वेर कर ऊपर विराजमान हो ॥ २ ॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।

अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवृत्तो यथाससि ॥ ३ ॥

(त्वा) अभिवर्त मणि-शत्रु पर आक्रमक गोले ! तुझे (सविता-देवः) दिव्यगुणवाला अग्नि^२ (सोमः) वायु^३ (अभि-अवीवृधत्) शत्रुओं के प्रति बढ़ाता है-बलिष्ठ करता है । तथा (त्वा) तुझे (विश्वा भूतानि) तेरे अन्दर की समस्त साधनवस्तुएं (अभि०) शत्रुओं के प्रति बढ़ती-बल प्रेरित करती है (यथा) जिस से तू (अभीवर्तः) शत्रुओं पर आक्रमण का साधन (अससि) हो ॥ ३ ॥

अभीवृत्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।

राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नैभ्यः पराभुर्वै ॥ ४ ॥

(अभीवर्तः-मणिः) अभीवर्त मणि शत्रुओं पर आक्रमण का साधन गोला (अभिभवः) आक्रमणकारी । तथा (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाश

१. "पृतना संग्रामनाम" [निघ० २ । १७]

२. "अग्निरेव सविता" [गो० पू० १ । ३३]

३. "योऽयं वायुः पवते स सोमः" [२१० ७ । ३ । १ । १]

करने वाला है (सपत्नेभ्यः पराभुवे) शत्रुओं के पराजय-हार के लिये (बध्यताम्) बन्ध जाने गोले रूप में तैयार हो जावे ॥ ४ ॥

उद्गसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।

यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥

(असौ सूर्यः) वह सूर्य (उद्गात्) उन्नत हुआ है (इदं मामकं-वचः) यह मेरा घोषणावचन (उत्) उन्नत हुआ है (यथा) जिस से (अहम्) मैं (शत्रुहा-उ) शत्रुनाशक ही (असपत्नः) शत्रुरहित (सपत्नहा) शत्रुघातक (असामि) होऊँ ॥ ५ ॥

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।

यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

(सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का क्षय करने वाला (वृषा) बलवाद् (अभिराष्ट्रः) राष्ट्र का अधिकर्ता राष्ट्र-शासक (विषासहिः) शत्रु पर प्रत्याक्रमणकारी होऊँ^१ (यथा) जिस से (अहम्) मैं (एषां वीराणाम्) इन वीरों-सैनिकों का (च) और (जनस्य) जनपद का-देश का^२ (विराजानि) ईश्वर हो जाऊँ-अधिपति हो जाऊँ^३ ॥ ६ ॥

त्रिंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा-आयुष्कामः (स्थिर जन आशु चाहने वाला) ।

देवता—विश्वे देवाः (सर्व विषयों में प्रविष्ट विद्वान्) ।

१. 'असानि' पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति ।

२. जनः अधिकरणे घञन्तः प्रयोगः । "मितां ह्रस्वः"

३. "अधिगर्थदयेशां कर्मणि" षष्ठी [अष्टा० २ । ३ । ५२]

विश्वे देवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूथमसिन् ।
मेमं सनाभिहृत वान्यनाभिमेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः ॥ १ ॥

(विश्वे देवाः) सर्वज्ञान में प्रविष्ट विद्वानो ! (वसवः) राष्ट्रवर्षी
जनो-प्रजाजनो ! (उत) और (आदित्याः) अदिति-अखण्ड सुखसम्पत्ति
राष्ट्र की अखण्डता को सम्पादन करने वाले बनाए रखने वाले संनिको-अश्रियो
(इमं रक्षत) इस राजा-राष्ट्रपति की रक्षा करो (अस्मिन् यूथं जागृत)
तुम इसके निमित्त जागरूक रहो (इमं सनाभिः) इस समान सम्बन्धी (उत)
और (वा) या (अन्यनाभिः) इस से अन्य वंश में उत्पन्न जन है (पौरुषेयः-
वधः) उसका पुरुषघातक पुरुषों का घातक शस्त्र (मा प्रापत्) मत प्राप्त हो

॥ १ ॥

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम् ।
सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ ॥ २ ॥

(वः-ये देवाः पितरः-च सचेतसः पुत्राः) तुम्हारे में विद्वान्,
पालक जन या पुत्र हैं वे तुम सब (मे-इदं वचः शृणुत) मेरे इस वचन को
सुनो (एतं वः सर्वेभ्यः परिददामि) इस राजा को मैं पुरोहित सब के हित के
लिये राजा के रूप में नियत करता हूँ (एनं स्वस्ति जरसे वहाथ) इसे
जसवस्था तक कल्याण पहुँचाओ ॥ २ ॥

ये देवा दिवि छ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु
पशुष्वप्स्वः ।
ते कृणुत जरसमायुरसै शतमन्यान्
परि वृणक्तु मृत्यून् ॥ ३ ॥

(ये देवाः- दिवि स्थ) जो विद्वान् द्युलोक के विषय में ज्योतिर्वित् हैं
(ये पृथिव्याम्) जो पृथिवी लोक के सम्बन्ध में खनिजज्ञान (ये-अन्तरिक्षे)
जो अन्तरिक्ष के सम्बन्ध में मेघ वृष्टि वायु-विद्युत् के विषय में ज्ञानी है

(ओषधीषु) ओषधियों के विषय में ज्ञानी-वनस्पतिशास्त्री-वैद्य (पशुषु) पशुओं के सम्बन्ध में ज्ञानी हैं (अप्सु-अन्तः) जलों के अन्दर ज्ञान रखने वाले हैं (ते-अस्मै) वे इस राजा के लिये (जरसम्-आयुः कृणुत) जरावस्था तक पूर्ण आयु वाला करो (अन्यान् शतं मृत्यून्-परिवृणक्तु) अन्य सैंकड़ों मृत्युओं-जरावस्था से पूर्व मृत्युओं को दूर रखें ॥ ३ ॥

येषां प्रयाजा उत वाजुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः ।
 येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो अस्मै सत्रसदः
 कृणोमि ॥ ४ ॥

(येषां वः) देवो ! जिन तुम्हारे में (प्रयाजाः) जो प्रकृष्टयजन करने वाले अध्यात्मयाजी हो^१ (उत वा) अपि-और जो (अनुयाजाः) आत्मा के अनुकूल यजन आचरण मनन आदि करने वाले मन आदि अन्तःकरण वाले मनस्वी जन (हुतभागाः) संयम से भोग करने वाली इन्द्रियों से युक्त संयमी ब्राह्मण^२ (अहुतादः-च देवाः) उन से भिन्न भोगरहित प्राणों वाले प्राणायामाभ्यासी योगी जन देव हैं (येषां पञ्च प्रदिशः-विभक्ताः) जिनकी पांच प्रदेश स्थितियां अलग-अलग हैं। ऐसे वे योगी जन प्राणों के पांच भेद होने से प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान को सिद्ध करने वाले हैं (वः-तान्) तुम्हारे में उनको (अस्मै) इस राजा के लिये (सत्रसदः कृणोमि) सभासद् में पुरोहित करता हूँ-बनता हूँ ॥ ४ ॥

एकत्रिंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (वैज्ञानिक)

देवताः—आशापालः (दिशाओं के रक्षक)

१. "आत्मा वै प्रयाजाः" [मै. ३।७।२] तद्वन्तः'

२. "एता वै प्रजा हुतादो यद् ब्राह्मणाः" [ऐ. ७।१९]

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः ।

इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥

(आशानाम्) दिशाओं के (चतुर्भ्यः-आशापालेभ्यः-अमृतेभ्यः) चारो दिशाओं के पालक-अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम नाम से परमात्मस्वरूप हैं उन अमररूपों—(भूतस्य-अध्यक्षेभ्यः-चतुर्भ्यः) निष्पन्न जगत् के चारों अध्यक्षों के लिये (इदं हविषा वयं विधेम) वस अब मनोभाव से^२ मनसा परिक्रमा से हम अनुष्ठान-उपासना करते हैं ॥ १ ॥

य आशानामाशापालाश्चत्वार स्थन देवाः ।

ते नो निऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहंसोअंहसः ॥ २ ॥

(चत्वारः-देवाः स्थन) जो तुम आशापाल-दिक्पाल अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम नाम से परमात्मदेव हो (ते) वे तुम (नः) हमें (निऋत्याः पाशेभ्यः) भूमि के बन्धनों या कृच्छ्रापत्ति^३ के पाशों से भोगव्याधियों से (अंहसः-अंहसः-मुञ्चत) प्रत्येक पाप से छुड़ाओ ॥ २ ॥

अक्षामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लौणस्त्वा घृतेन जुहोमि ।

य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह
वक्षत् ॥ ३ ॥

(आशानाम्) दिशाओं का (तुरीयः-आशापालः-देवः) तुरीय ब्रह्म सोम आशापाल देव है (सः) वह (नः) हमारे लिये (सुभूतम्-इह-वक्षत्) इस जीवन में मौक्षार्थ्य को लावे (त्वा) उस तुझ को (अक्षामः)

१. "आशाः—दिशः" [निघं. १।६]

२. मनो हविः" [तै. आ. १।६।१]

३. "निऋतिः पृथिवी" [निघं० १।१] "निऋतिः कृच्छ्रापत्तिः)
[निरु० २।८]

अविचल हुआ^१ (हविषा) मनोभाव से (यजामि) मैं यजन करता हूँ
 (त्वा) तुम्हें (अश्लोणः) अकेला-एकान्तवासी एवं वासनाओं से अलग
 हुआ^२ (ष्टेतेम जुहोमि) आत्मतेज से^३ ग्रहण करता हूँ ॥ ३ ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते
 पुरुषेभ्यः ।

विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥४॥

(नः-मात्रे-उत पित्रे स्वस्ति-अस्तु) हमारे माता और पिता के लिए
 कल्याण हो (पुरुषेभ्यः-गोभ्यः-जगते स्वस्ति) सब मनुष्यों के लिये गौओं के
 लिये जङ्गम मात्र के लिये कल्याण हो (नः-विश्वं सुभूतं सुविदत्रम्-अस्तु)
 हमारे लिये सब कल्याण और सब प्रकार का धन हो^४ (ज्योक्-एव सूर्य
 दृशेम) चिरकाल तक यावज्जीवन सूर्य को देखें-सूर्य स्वरूप परमात्मा का
 अनुभव करें ॥ ४ ॥

द्वात्रिंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (खगोलवेत्ता) ।

देवताः—द्यावापृथिवी (द्युलोक पृथिवी लोक) ।

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्मं वदिष्यति ।

न तद् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥ १ ॥

१ "सृ ग-ौ" [भ्वादि०] ग्रामक् प्रत्ययः श्रौणादिकः पुनः नञ्समासः ।

२ "श्लोण संघाते" [भ्वादि०] ततोऽच् प्रत्ययः- पुनर्नञ्समासः ।

३ "तेजो वै ष्टेतेम" [मै० १ । ६ । ८]

४ "सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वा एकोपसर्गात् ददातेर्वा स्याद्ब्रह्मुपसर्गात्"

[निर० ७ । ९]

(जनासः) हे जनों ! (इदं विदथ) इस तत्त्व को समझो (महत्-ब्रह्म वदिष्यति) महात् ब्रह्म वेद को कहेगा—कहता है (तत्-पृथिव्यां न) वह पृथिवी पर नहीं (दिवि न-उ) द्युलोक में भी नहीं है (येन वीरुधः प्राणन्ति) जिसके द्वारा वनस्पतियाँ प्राणियों के लिये जीवन धारण करती हैं

॥ १ ॥

अन्तरिक्ष आसां स्थाम् भ्रान्तसदामिव ।

आस्थानमस्य भूतस्य विदुषद् वेद्यसो न वा ॥ २ ॥

(आसाम्) इन वनस्पतियों का (स्थाम्) गुप्त स्थान सूक्ष्म-भाव (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में है (भ्रान्तसदाम्-इव) थके हुआओं का जैसे विश्राम स्थान होता है (अस्य भूतस्य) इस प्रादुर्भूत जगत् का (आस्थानम्) आश्रयस्थान भी है (तत् वेद्यसः-विदुः-न वा) उसको मेधावी जन^१ जानते हैं या अन्य नहीं भी जानते हैं ॥ २ ॥

यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।

आर्द्रं तद्य सर्वदा समुद्रस्यैव स्रोत्याः ॥ ३ ॥

(रोदसी रेजमाने च भूमिः-निरतक्षतम्) द्यावापृथिवी-द्युलोक पृथिवी-लोक^२ अथवा रोदसी-रोधसी-रोधन करने वाले विश्व के रोधक-ऊपर नीचे या ओर छोर के दोनों भाग काम्पते हुए गति करते हुए दोनों के मध्य जगत् जिसमें प्राणी होते हैं वह भूमि भी प्रादुर्भूत करती है (तत्-अद्य-आर्द्रम्) वह आज भी आर्द्र-गीला है वनस्पतियों का सूक्ष्म रूप जो अन्तरिक्ष में था (सर्वदा समुद्रस्य-स्रोत्याः-इव) सदा समुद्र की स्रोतों नदियों की भाँति वनस्पतियों में गति करता है ॥ ३ ॥

१ "वेद्याः-मेधाविनाम" [निघं० ३।१५]

२ "रोदसी द्यावापृथिवीनाम" [निघं० ३।३]

विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधि श्रितम् ।

दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

(विश्वम्-अन्याम्-अभीवार) अन्नरूप सूक्ष्म^१ अन्या-द्युलोक को प्रथम बेरता है (तत्-अन्यस्याम्-अधि-श्रितम्) फिर वह स्थूलरूप अन्या में-पृथिवी में आश्रित हो जाता है वनस्पतियों के रूप में (दिवे च) अतः द्युलोक के लिये और (विश्ववेदसे पृथिव्यै च) सब प्रकार धनवाली पृथिवी के लिये मैं स्वागत करता हूँ ॥ ४ ॥

त्रयस्त्रिंश ३३ वां सूक्त

ऋषिः—शन्तातिः (शान्ति करने वाला-कल्याणकारी)

देवता—आपः (सर्व दिव्यपदार्थ कारण-आकाश में प्राप्त प्रकाश धारा-आकाशगङ्गा)

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः ।

या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना

भवन्तु ॥ १ ॥

(हिरण्यवर्णाः) सुनहरी रंग वाली-चमकीली (शुचयः) जाज्वल्यमान-शोभायमान (पावकाः) पवित्र एवं गतिप्रद (यासु) जिन में—जिसमें (सविता) सूर्य (जातः) उत्पन्न हुआ (यासुः-अग्निः) जिन में—जिसमें अग्नि उत्पन्न हुआ (याः-अग्निं गर्भं दधिरे) जो अग्नि तत्त्व को मध्य में धारण कर रही है (सुवर्णाः) सुनहरी (ताः) वे (आपः) आकाश में प्राप्त धारा (नः) हमारे लिये (स्योनाः-शं भवन्तु) सुखकारी कल्याणमय हों ॥ १ ॥

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम् ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना
भवन्तु ॥ २ ॥

(यासां मध्ये राजा वरुणः) जिनके मध्य मे परिधिमण्डल नामक वरुण (सत्यानृते अवपश्यन् याति) सब आकाशीय जायमान पिण्डों के सत्य-यथार्थ गति और असत्य-अनिज गति लक्ष्य करता हुआ प्राप्त रहता है (याः-अग्नि०) पूर्ववत् ॥ २ ॥

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं
या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ३ ॥

(दिवि देवाः-यासां भक्षं कृण्वन्ति) द्युलोक में द्योतमान ग्रह उपग्रह जिनका भक्ष-पान करते हैं-सेवन करते हैं-पास जाते हैं (याः-अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति) जो आकाश में बहुत फैली हुई है । (याः-अग्नि००) पूर्ववत् ॥ ३ ॥

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया
तन्वोपस्पृशत त्वचं मे ।
घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ४ ॥

(आपः) हे द्युलोक में आकाशगङ्गानामक 'आपः' प्राप्त धारा (शिवेन चक्षुषा) कल्याणकारी नेत्र से (मा पश्यत) मुझे देख-दीखा (शिवया-तन्वा) कल्याणकारी तनु-देह से (मे त्वचम्-उपस्पृशत) मेरी त्वचा को स्पर्श करो (घृतश्चुतः) दीप्ति या तेज को क्षरित करने वाले (याः-पावकाः-शुचयः) जो तुम पवित्र तथा दीप्तिमान् हो (ताः) वे

(आयः) आकाश में प्राप्त (वः) हमारे लिये (शं स्योनाः-भवन्तु) कल्याणकारी सुखदायक होओ । यह आलङ्कारिक कथन है ॥ ४ ॥

चतुस्त्रिंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर जन) ।

देवताः—मधुवनस्पतिः (मीठी वनस्पति) ।

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि ।

मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥ १ ॥

(इयं वीरुन्) यह विरोहण करने वाली लता मुलहटी या लतासी आगे बढ़ने वाली मधुविद्या-आत्मविद्या (मधुजाता) मधु से-माधुरी प्रसिद्ध हुई या आत्मा से प्रसिद्ध हुई^१ (त्वा) तुझे (मधुना खनामि) मधु भाव से खोदता हूँ-या आविष्कृत करता हूँ (मधोः-अधि प्रजातामसि) मधु-मृदुभूमि से प्रसिद्ध हुई है (सा) वह (नः-मधुमतः-कृधि) हमें मधुमान् कर दे-नीरोग या आनन्दवान् कर दे ॥ १ ॥

जिह्वाया अग्ने मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।

ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

(मे जिह्वायाः-अग्ने मधु) मधुलता-मुलहटी या मधु विद्या-आत्म विद्या के सेवन से मेरी जिह्वा के अग्र भाग पर मधु रस लगे-मधुरता हो (जिह्वामूले मधूलकम्) जिह्वा के मूल-जड़ में-कण्ठ में अत्यन्त मधुर-माधुर्य हो (मम क्रती-इत्-अह-असः) मेरे प्रत्येक कर्म में अवश्य ही माधुर्य हो (मम चित्तम्-उपायसि) मेरे चित्त को प्राप्त होती है ॥ २ ॥

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्देशः ॥ ३ ॥

(मे निक्रमणं मधुमत्) मेरा किसी कार्य में धुसना या प्रवेश मीठास वाला हो (मे परायणं मधुमत्) मेरा किसी कार्य से निवृत्त होना या निकलना मीठास वाला हो । (वाचा-मधुमत्-वदामि) वाणी से मीठास वाला वचन बोलूं (मधुसन्देशः-भूयासम्) मैं मधुरूप हो जाऊं अपने लिये दूसरों के लिये भी मधुलता या मधुविद्या-आत्म-विद्या के सेवन से ॥ ३ ॥

मधोरस्मि मधुतरो मधुघान्मधुमत्तरः ।

मामित् किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥

(मधोः-मधुतरः-अस्मि) मधु से भी अधिक मधु-मीठा होऊं (मधुघात्-मधुमत्तरः) मधु सीञ्चने-छोड़ने वाले पदार्थ मे भौ^१ मधुवाला हो जाऊं (माम्-इत् किल) मुझे अरे अवश्य (त्वम्) तू हे मधुलता-मुलहटी या मधु-विद्या-आत्म विद्या (वनाः) सम्भज-स्वीकार कर (मधुमतीं शाखाम्-इव) मधुवाली शाखा को जैसे मधु सम्भजता है स्वीकार करता है ॥ ४ ॥

परि त्वा परित्तुनेक्षुणाग्रामविद्विषे ।

यथा मां कामिन्यसो यथा मज्ञापगा असः ॥ ५ ॥

(त्वा) हे मधुलता या मधुविद्या-आत्म विद्या तुझे (परित्तुना) सब ओर व्यापने वाले (इक्षुणा) मीठे काण्ड के समान प्रेमभाव से (परि-अग्राम्) सब प्रकार प्राप्त होता हूँ-अपनाता हूँ (अविद्विषे) द्वेषाभाव के लिये (यथा मां) जिससे मेरे प्रति (कामिनो-असः) कामना वाली-कामना पूरा करने वाली हो (यथा) जिस से (मत्) मेरे से (अपगाः-न-असः) पृथक् होने वाली न हो, यह धाबना गृहस्थ को अपनी पत्नी के प्रति भी रखनी चाहिये ॥ ५ ॥

१ मधु-उपपदात्—“वृ सेचने” [भ्वादि०] ततः डः प्रत्ययः ।

पञ्चत्रिंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (आयुष्कामः) (स्थिर मनवाला आयु चाहने वाला)

देवताः—हिरण्यम् (रेतः-वीर्यं^१) ।

यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।

तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय

शतशारदाय ॥ १ ॥

(यत्) यतः (सुमनस्यमानाः) सुप्रसन्न मनवाले (दाक्षायणाः) दक्ष-प्रजापति परमात्मा^२ का अयन-मोक्ष मार्ग वाले आचार्य लोग (शतानीकाय) बहुमुखी-प्रवृत्तिवाले (ते) तुझ विद्यार्थी के लिये (हिरण्यम्-आवध्नन्) अभीष्ट रेतः-वीर्य को संयमनीद्वारा समन्तरूप से बांधते हैं (तत्) उसको (ते) तुझ ब्रह्मचारी के लिये (बध्नामि) मैं साम्प्रतिक आचार्य बान्धता हूं (आयुषे) इस लोक में आयु प्राप्ति के निमित्त (वर्चसे) ब्रह्मवर्च-तेज के हेतु (बलाय) बल प्राप्ति के अर्थ (दीर्घायुत्वाय) लम्बी आयु मोक्ष आयु के वास्ते (शतशारदाय) ब्राह्म शतवर्ष के लिये ॥ १ ॥

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते

देवानामोजः प्रथमजं होतत् ।

यो विभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं

स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ २ ॥

(यः) जो (देवानाम्-एतत्-ओजः प्रथमं हि) विद्वानों के इस प्रथम-प्रसिद्ध ओजरूप (दाक्षायणं हिरण्यं विभर्ति) मोक्षमार्ग विषयक रेतः-वीर्य को धारण करता है (एनम्) इसको (मा रक्षांसि) न राक्षस-बाहिरी

१ "रेतो हिरण्यम्" [मं० ३।७।५]

२ "सह प्रजापतिर्वे दक्षो नाम" [शं० २।४।४।२३]

प्राकृतिक आघातकारी (न पिशाचाः) न आन्तरिक मांस खाने वाले रोग-जन्तु (सहन्ते) सहसकते-दबा सकते हैं (सः) वह (जीवेषु दीर्घम्-आयु-कृणुते) जीवों-मनुष्यों के मध्य में अपनी दीर्घायु करलेता है ॥ २ ॥

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि ।
इन्द्रं इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो
विभरद्विरण्यम् ॥ ३ ॥

(अपाम्) प्राणों का (तेजः) तेज (ज्योतिः) जीवनज्योति (भोजः) पराक्रम (बलं च) और शरीर धारण बल (उत) और (वनस्पतीनां वीर्याणि) वनस्पतियो-भोजन रसों के गुणों (अस्मिन्-इन्द्रे-इन्द्रियाणि) इस आत्मा में इन्द्रियों को (अधिधारयामः) धारण करते हैं (तद्-हिरण्यम्) उस वीर्य को (दक्षमाणः-विभरत्) बढ़ने के हेतु उसे धारण करे ॥ ३ ॥

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

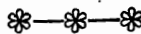
(संवत्सरस्य) जीवन के संवत्सर-पूर्ण आयु के (ऋतुभिः) ऋतुओं सहित अथात् वसन्त आदि ऋतुओं के साथ (समानाम्) छः मास कल्पित अर्ध वर्षों-(मासाम्) मासों के (पयसा) रस-वीर्यरूप रस से पोषण रस से (त्वा) तुम्हें (वयं पिपर्मि) हम पूर्ण करते हैं (इन्द्राग्नी-विश्वे देवाः) राजा आचार्य सब विद्वान् (ते) वे (अहृणीयमानाः) विना क्रोध के वर्तमान (अनुमन्यन्ताम्) अनुकूल हों ॥ ४ ॥

इति प्रथम काण्ड
ब्रह्ममुनि भाष्य युक्त ॥

१ "आपो वै प्राणाः" [श० ३।५।२।४]

२ "पिपर्मि" वचनव्यत्ययेन एकवचनं बहुवचने ।

द्वितीय काण्ड



प्रथम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर चित्त वाला)

देवता—अग्निः (ब्रह्मात्मा)

वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।

इदं पृथिरदुहुज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत त्राः ॥ १ ॥

(वेनः) ब्रह्म का श्रवण मनन ध्यान करने वाला तथा स्तुतिकर्ता उपासक जन (तत् परमम्) उस श्रेष्ठ एवं महान् ब्रह्म को (गुहा सत्) हृदय गुहा में (पश्यत्) देखता है (यत्र विश्वं-एकरूपं भवति) जिस ब्रह्म में संसार एकरूप-प्रकृति हो जाता है (पृथिनः) प्रकृति का स्पर्श करने वाला उस में व्यापक परमात्मा (इदं-अदुहत्) इस एकरूप अव्यक्त प्रकृतिनामक उपादान को दूहता है-संसार को प्रकट करता है (जायमानाः-स्वर्विदः-त्राः-अभ्यनूषत) हे संसार में जन्म लेने वाले मोक्षसुख को प्राप्त होने वाले उसके वरणकर्ता उपासकों ! परमात्मा की भली भाँति स्तुति करो ॥ १ ॥

१ “वेतु ज्ञानचिन्तननिशामने” [भ्वादि०] ततः अच् कर्त्तरि । वेनति-
अर्चति-कर्मा [निघं० ३ । १४] सुपां सुलुक्० [अष्टा० ७ । १ । ३९]

इति सप्तम्याः लुक् ।

२ छन्दसि लुङ्लङ्लिटः [अष्टा० ३ । ४ । ६] सामान्यकाले लङ्-
माडभावश्छान्दसः ।

प्र तद् प्रवोचेद्मृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद् स पितुष्पितासत् ॥२॥

(गन्धर्वः-विद्वान्) गी-स्तुति^१ वाणी को धारण करने वाला विद्वान् (गुहा) हृदय में (अमृतस्य) अमर परमात्मा का (यत्-तत्) जो वह (परमं धाम प्रवोचेत्) सर्वोत्तम श्रेष्ठ धाम का प्रवचन करता है-प्रस्तवन करता है (अस्य) इस परमात्मा के (त्रीणि-पदानि) तीन प्राप्तव्य स्वरूप^२ (गुहा निहिता) मोक्ष में एवं हृदय में निहित-छिपे हैं (तानि) उनको (यः-वेद्) जो जानता है (सः पितुः-पिता-असत्) वह पिता का भी पिता है विशिष्ट ज्ञानवाद् होने से ॥ २ ॥

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद् भुवनानि विश्वानि ।

यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वाः ॥ ३ ॥

(सः) वह परमात्मा (नः पिता जनिता) हमारा पालक जनयिता^३ (उत) अपि-अौर (बन्धुः) बन्धु-भ्राता आदि सम्बन्ध रखने वाला है (विश्वा धामानि भुवनानि वेद) समस्त कमनीय स्थानों लोकों को जानता है (यः) जो (देवानाम्) दिव्य गुणवाले अग्नि, सूर्य, वायु आदि प्रमुख पदार्थों का नाम धारणकर्ता नाम-स्थापित-नियुक्त करने वाला (एकः-एव) अकेला ही (तं सम्प्रश्नं) उस सम्यक् प्रश्न करने योग्य, विविध प्रश्नोंत्तरों से जानने योग्य को (सर्वा भुवना यन्ति) सारे पृथिवी आदि लोकरूप पदार्थ प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

परि द्यावापृथिवी सद्य आद्यमुपातिष्ठे प्रथमजासुतस्य ।

वाचमिव वक्त्रि भुवनेष्वा धास्युरेष नुन्वे ऽषो अग्निः ॥ ४ ॥

२ गं स्तुति वाणी धारयतीति-पृषोदरादित्वादिष्टसिद्धिः ।

१ पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि [ऋ० १० । ९ । ३]

२ जनिता मन्त्रे [अष्टा० ६ । ४ । ५३]

(छावापृथिवी सद्यःपरि-आयम्) छावापृथिवीमयी सृष्टि के प्रति-
अन्दर, मैं आत्मा तुरन्त आया हूँ (ऋतस्य प्रथमजाम्-उपातिष्ठे) प्रकृतिरूप
उपादान के प्रथम उत्पन्न अहङ्कारादि विकृति पर-विराजमान हो जाता
हूँ (वक्तरि वाचम्-इव) वक्ता में वाणी जैसे बैठ जाती है (भुवनेष्ठाः)
लोक लोकान्तरों में स्थित (एष'-धास्युः) यह धारण करने वाला (ननु-
एषः-अग्निः) निश्चय यह प्रकाशस्वरूप परमात्मा है ॥ ४ ॥

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।

यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावधैर्यन्त ॥ ५ ॥

(ऋतस्य विततं तन्तुं दृशे कम्) प्रकृति के फैले हुए तन्तु-जाल के
समान देखने को-देखने के लिये (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक लोकान्तरों
के प्रति या उनमें (परि) परिक्रमण कर (देवाः-यत्) जीवन्मुक्त उपासक
विद्वान् जहां-जिसके आश्रय (अमृतम्-आनशानाः) अमृत का भोग करते हए
(समाने योनी) समान स्थान मोक्षधाम में साधिकार विचरते हैं ॥ ५ ॥

द्वितीय सूक्त

ऋषिः—मातृनामा (विश्व के माता-निर्माता के प्रति स्तुति करने
वाला)

देवता—गन्धर्वाप्सरसः (पृथिवी पिण्डों को धारण करने वाली
परमात्मा की व्यापन शक्तियां)

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ।

तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥१॥

(दिव्यः-गन्धर्वः) प्रधानतया मोक्ष धाम में उपासक का आश्रयणीय
तथा आरम्भसृष्टि में वेद वाणी का धारण कर्ता (यः) जो कि (भुवनस्य-
पतिः) उत्पन्न वस्तुओं के आधार जगत् का स्वामी (एकः-एव) अकेला ही

बह (विक्षु नमस्यः-ईड्यः) प्रजाओं-मनुष्यों के निमित्त^१ इष्टसाधक स्नेह से स्वागत करने योग्य और स्तुति करने योग्य है (त्वां तं ब्रह्मणा यौमि) उस तुझ परमात्मा को ब्रह्म-वेद-मन्त्रानुष्ठान से प्राप्त करता हूं (दिव्य देव नमस्ते) दिव्य देव परमात्मन् ! तुझे नमस्कार हो (दिवि) द्योतनात्मक मोक्षधाम में ते (सधस्थम्-अस्तु) तेरा सहवास है ॥ १ ॥

दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य ।

मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ॥ २ ॥

(दिवि स्पृष्टः) मोक्षधाम में प्राप्त (यजतः) सङ्गमनीय (सूर्य-त्वक्) सूर्यसमान ज्योतिर्मय स्वरूप वाला है (दैव्यस्य हरसः) देवों-मुक्तों से सम्बद्ध तेज का, तथा (भुवनस्य) संसार का (यः) जो (एकः-एव) एक ही (पतिः) स्वामी (नमस्यः) स्तुत्य (सुशेवाः) सुन्दर सुखदाता (गन्धर्वः) वेदवाणी का धारक परमात्मा (मृडात्) सुखकर हो ॥ २ ॥

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।

समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥ ३ ॥

(गन्धर्वः) वेदवाणी का धारक परमात्मा (आभिः-अनवद्याभिः) इन निर्दोष-निर्बाधज्ञानरश्मियों-ऋचाओं के साथ (संजग्मे-उ) सङ्गत हैं (अप्सरासु-अपि-आसीत्) कारण कि वह परमात्मा ज्ञानरश्मियों-ऋचाओं में वर्णित है (आसां सदनं समुद्रः) इन ज्ञानरश्मियों-ऋचाओं का स्थान पुरुष-परमपुरुष परमात्मा है जो संसार में पूर्ण है-भरा हुआ व्याप्त है* (मे-आहुः) ऐसा मुझे बताते हैं (यतः सद्यः-आयन्ति परा च) जहां से ज्ञान-रश्मियां आती हैं और चली जाती हैं ॥ ३ ॥

१ निमित्तसप्तमी

२ पुरुषो वै समुद्रः [जै० ३ । ६ । ७ । ५]

अग्निये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि ॥ ४ ॥

(अग्निये) मेघ में होने वाली तथा (नक्षत्रिये) नक्षत्रों में होनेवाली (दिद्युत्) दीप्तियां^१ (याः) जो हों तुम (विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे) विश्व में बसे या विश्व को आच्छादित करने वाले वेदवाणियों के धारक परमात्मा को समवेत करती हैं-उसकी चमकाई हुई चमकती हैं । (देवीः-वः-ताभ्यः) हे दिव्यगुणवाली शक्तियो ! उन तुम्हारे लिये (नमः-इत् कृणोमि) सद्भाव प्रदर्शित करता हूं ॥ ४ ॥

याः क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः ।

ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽसराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

(याः क्लन्दाः) जो नास्तिक बलवाद को हलानेवाली आस्तिक भाव भर देने वाली (तमिषीचयः) बलवत् व्यवस्थाएं अज्ञानान्धकार नष्ट करने वाली ज्योति शक्तियां (अक्षकामाः) इन्द्रियों की कामपूरक (मनोमुहः) मन को मोहनेवाली-आस्तिक भाव भरने वाली है (ताभ्यः) उन ऐसी (गन्धर्वपत्नीभ्यः) परमात्मा से पालित (असराभ्यः) संसार में व्याप्त-फैली हुई शक्तियों के लिए (नमः-अकरम्) स्वागत-उपयोग करता हूं ॥ ५ ॥

तृतीय सूक्त

ऋषिः—अङ्गिराः (अङ्गों को स्वास्थ्य की ओर प्रेरित करने वाला चिकित्सक)

देवता—आस्रावभेषजम् (क्षत के बहने की चिकित्सा)

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ।

तत्तै कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथासंसि ॥ १ ॥

१ व्यत्ययेन बहुवचने-एकवचनं सम्बोधने ।

(अद्) वह (यत्) जो (पर्वतात्-अधि) पर्वत से नीचे (अद्बल्कम्) गिरनेवाला जलस्रोत^१ (अद्बधावति) गिरता है (ते) तेरा (तत्) उसे (भेषजम्) औषध (कृणोमि) करता हूँ (यथा) जैसे (सुभेषजम्) उत्तम चिकित्सा योग्य (अससि) हो जावे ॥ १ ॥

आदङ्गा कुविदङ्गा शतं या भेषजानि ते ।

तेषामसि त्वमुत्तममनास्त्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

(अङ्ग) हे जलस्रोत ! (आत्) तेरे निकलने के अनन्तर (अङ्ग) हे गतिशील ! (कुवित्) बहुत^२ (शतम्) सैकड़ों (ते या भेषजानि) तेरी जो औषधियाँ-तुझसे उत्पन्न हुई जो औषधियाँ हैं (त्वम्) तू (तेषाम्) उनमें (उत्तमम्) उत्तम (अनास्त्रावम्) बहते घाव को रोकने वाला (अरोगणम्) रोग को दूर करने वाला भेषज (असि) है ॥ २ ॥

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुःस्त्राणमिदं महत् ।

तदास्त्रावस्य भेषजं तद्दु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥

(असुराः) खोद खोद कर फेंकने वाले जन^३ (अरुःस्त्राणम्) घाव को पकाकर ठीक करने वाले (इदं महत्) इस जल को^४ (नीचैः-खनन्ति) नीचे खोदते हैं (तत्) वह यह (आस्त्रावस्य) बहने वाले घाव का (भेषजम्) औषध है (तत्-उ) वह अवश्य (रोगम्) रोग को (अनीन-शत्) नष्ट करता है ॥ ३ ॥

१ अद्बत्-अद्बधा से क्विप् "अङ्गल्यपि-आकारलोपश्छान्दसः" पुनरल्पार्थे कःप्रत्ययः ।

२ कुवित् बहुनाम [निघ० ३ । १]

३ असेस्सरत् [उणादि० १ । ४२]

४ महत्-उदकनाम [निघ० १ । १२]

उपजीका उद्गरन्ति समुद्रादधि भेषजम् ।

तदास्त्रावस्य भेषजं तद्दु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥

(उपजीकाः) उपजिह्विकाएं-वम्रियां-दीमकें (समुद्रात्-अधि) समुद्र या जलाशय से-उसके तट से (भेषजम्) गीली गीली मिट्टी के रूप में औषध को (उद्गरन्ति) ऊपर उभारती हैं (तत्-आस्त्रावस्य भेषजम्) वह बहते घाव का भेषज-अच्छा करने वाला है (तत्-उ) वह ही (रोगम्-अनीनशत्) रोग को नष्ट करता है ॥ ४ ॥

अरुःस्त्राणमिदं महत् पृथिव्या अभ्युद्भृतम् ।

तदास्त्रावस्य भेषजं तद्दु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

(पृथिव्याः-अधि) पृथिवी में से (उद्भृतम्) उभारी हुई-निकली हुई (इदम्) यह (महत्-अरुःस्त्राणम्) बहुत घाव को पकाकर ठीक करने वाली मिट्टी-कृष्ण मिट्टी (तत्-आस्त्रावस्य भेषजम्) वह बहते घाव का औषध है (तत्-उ) वह निश्चय से (रोगम्-अनीनशत्) रोग को नष्ट करती है ॥ ५ ॥

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।

इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षसं आराद् विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

(आपः शिवाः-ओषधयः) जल उत्तम औषधियां हैं वह (नः) हमारे लिए (शं भवन्तु) कल्याणकारी हो (इन्द्रस्य वज्रः) जल इन्द्र का वज्र है (रक्षसः) रक्त आदि के भक्षक क्रमियों को (अपहन्तु) नष्ट करे (रक्षसां विसृष्टाः-इषवः) दुष्टों के फँके हुए वाण आदि शस्त्र (आरात् पतन्तु) दूर गिरें-बाण आदि के घाव ऐसे अच्छे हो जावें मानो वे हमारे लगे ही नहीं किन्तु हमसे दूर गिरे हैं ॥ ६ ॥

चतुर्थ सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर मन वाला योगी)

देवताः—जङ्गिडमणिः (सोमरसगोली^१)

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सद्व ।

मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं विभृमो वयम् ॥ १ ॥

(वयम्) हम (अरिष्यन्तः) हिंसित न होते हुए (सदा-एव) सदा ही (दक्षमाणाः) बढ़ते हुए^२ (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिए (बृहते-रणाय) महान् रमण के लिये (विष्कन्धदूषणम्) स्कन्धों-जोड़ों के शैथिल्य रोग को दूर करने वाले (जङ्गिडमणिम्) अन्तःस्थल में तथा आत्मा में उन्नति की तरङ्गों को उठाने वाली सोमरस क्रिया से बनी मणि-गोली-टिकिया को (विभृमः) धारण-सेवन करते हैं ॥ १ ॥

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कन्धादभिशोचनात् ।

मणिः सहस्रवीर्यः परिणः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

(सहस्रवीर्यः-जङ्गिडः-मणिः) बहुत शक्तिवाला सोमरस-गुटिकारूप जङ्गिड (जम्भात्) नाश से-क्षय से-देहपात से (विशरात्) शरीर के छिन्न-भिन्न टूटने से (विष्कन्धात्) स्कन्धों-जोड़ों के शिथिलभाव से (अभिशोचनात्) मोह आदि मानसिक रोग से (नः) हमारी (विश्वतः) सब ओर से (परिपातु) भली प्रकार रक्षा करे ॥ २ ॥

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्रिणाः ।

अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

१ दीर्घायुत्वाय इति चान्द्रमसमुत् जङ्गिडदेवताकम् [अथर्वबृहत्० २।४।१३]

२ दक्ष वृद्धी [भ्वादि०]

(अयम्) यह (जङ्गिडः) जङ्गिड (विष्कन्धं सहते) स्कन्धों जोड़ों के शिथिल करने वाले रोग एवं विषप्रयोग को सहता है-निर्बल कर देता है (अयम्) यह (अत्रिणः-बाधते) राक्षसों-रुधिर मांस भक्षक' कुमियों को नष्ट कर देता है (अयं विश्वभेषजः) यह सब रोगों का औषध (नः) हमें (अहंसः) दोष से-दूषित रोग से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।

विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

(देवैः-दत्तेन) देवों-दिव्यगुण आकाशस्थ पदार्थों के द्वारा दी हुई- (मयोभुवा) सुख सम्पादक (जङ्गिडेन मणिना) जङ्गिड-मणि से (विष्कन्धम्) जोड़ों को शिथिल-निःसत्त्व करने वाले तथा विषाक्त रोग को (व्यायामे) पौरुष संघर्ष के अवसर पर (सहामहे) हम सहते हैं-उनके प्रभावों से रहित होते हैं ॥ ४ ॥

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धाद्भि रक्षताम् ।

अरण्यादन्य आभृतः कृत्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥

(शणः-च) शण और (जङ्गिडः-च) और जङ्गिड सोमरसक्रियाबटी (विष्कन्धात्) जोड़ों के शैथिल्य रोग से-विषप्रयोग से (मा) मेरी रक्षताम् रक्षा करें (अरण्यात्-अन्यः) वन से लाया प्राण देने योग्य (आभृतः) लाया हुआ (रसेभ्यः अन्य) रसों से बना प्राण देने योग्य है ॥ ५ ॥

कृत्यादूर्ध्विरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।

अथो सहस्वाब्जङ्गिडः प्र ण आर्यूषि तारिषत् ॥ ६ ॥

(अयं-जङ्गिडः-मणिः) यह जङ्गिडमणि (कृत्यादूर्ध्विः) हिंसक क्रिया-विषप्रयोग को दूषित करने वाली है (अथ-उ) तथा (अरातिदूषिः)

पौष्टिक अवयवों को-ह्लास करने वाले कृमियों को नष्ट करने वाली है (अथ-
उ) और फिर (सहस्वात्) उक्त दोषों को दूर करने वाली-बल सम्पन्न करने
वाली क्रिया से बनी गुटिका (नः) हमारी (आयूषि) आयुओं को
(तारिषत्) आगे बढ़ावे ॥ ६ ॥

यहां जङ्गडमणि अर्थात् सोमरसक्रिया गुटिका के गुण बताये हैं कि
दीर्घायु, स्वास्थ्य पुष्टि देने वाली, विषप्रयोग और शरीर ह्लास-क्षय का
निवारक शरीर के अन्दर रुधिर, मांसभक्षक कृमियों की नाशक है। वह यह
सोमरसक्रिया शण के योग से बनाई हुई लक्षित होती है। उसके धारण
सेवन से उड़नशील गन्ध और रस श्वास के साथ फुफ्फुसों के अन्दर जाने से
लाभ होता है ॥

पञ्चम सूक्त

ऋषिः—आथर्वणो भृगुः (स्थिरवृत्ति पिता का पुत्र या गुरु का शिष्य
ज्ञानी तेजस्वी)

देवताः—इन्द्रः (ऐश्वर्यवान् राजा)

इन्द्रं जुषस्व प्र ब्रह्मा याहि शूर हरिभ्याम् ।

पिबो सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्भदाय ॥ १ ॥

(शूर-इन्द्र) हे शूरवीर राष्ट्रस्वामी-विद्युत्शक्तिमाय सेनानी !
(जुषस्व) हम प्रजाननों से प्रीति कर (प्रब्रह्मा) राष्ट्र का प्रबल रूप से बहन
कर (हरिभ्याम्-आ याहि) अपनी दोनों सभा और समिति के द्वारा या
विद्युत् की धाराओं के द्वारा समन्त रूप से प्राप्त हो या सङ्ग्राम में जा (इह
मतेः सुतस्य मधोः पिब) यहां ऊंची मननशक्तिप्रद सम्पन्न किए नयनिष्कर्ष

या सोमरस का पान कर (मदाय) जन हर्ष के लिए (चारुः-चकानः)
सुन्दर तृप्ति कारक कामना पूरक बन^१ ॥ १ ॥

इन्द्रं जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।

अस्य सुतस्य स्वर्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥

(इन्द्र) हे राजन् ! या विद्युत्-शक्ति सम्पन्न सेनानी ! तू (नव्यः-
न) सम्प्रति^२ प्रशंसनीय है (दिवः-मधोः-न) दिव्य मधु के पान से (जठरं
पृणस्व) अपने अन्तःस्थल को पूर्णकर-भर (अस्य सुतस्य) इस सम्पन्न किए
सुख-आनन्द तथा (सुवाचः-मदाः-त्वा-अगुः) प्रशंसित आनन्द तुझे प्राप्त हों ॥२॥

इन्द्रस्तुराषाणिमत्रो वृत्रं यो जघान यतीन ।

विभेदं बलं भृगुर्न ससहे शत्रून् मदे सोमस्य ॥ ३ ॥

(यः-तुराषाट्-भिन्नः-इन्द्र) जो तुरन्त शत्रु पर प्रभावक परे भगा
देने वाला-परास्त करने वाला राजा या विद्युत्-शक्ति सम्पन्न सेनानायक
(यतीः-न वृत्रं जघान) यतिजन^३ संयमी जन की भांति-जितेन्द्रिय-इन्द्रियों
का जय करने वालों की भांति राष्ट्र को धरने वाले शत्रु को मारता है
(भृगुः-न बलं विभेद) भर्जनशील-प्रतापी सूर्य जैसे धरने वाले अन्धकार को
छिन्न-भिन्न कर देता है ऐसे (शत्रून् ससहे) शत्रुओं को दबाता है-नष्ट कर
देता है (सोमस्य मदे) अपने राष्ट्र के प्रभुसत्तासम्पन्न के हर्ष में-प्रोत्साह में-
सत्तावाद् होकर ॥ ३ ॥

आ त्वा विशन्तु सुतासं इन्द्र पृणस्व कुक्षी विडिढ शक्र धियेष्वा नः ।

श्रुधी हवं गिरी मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥

१ चक तृप्ती [भ्वादि०] "चकमानः" कान्तिकर्मा [निघ० २। ६] छान्दसः
प्रयोगः ।

२ नकारः सम्प्रत्यर्थे [निरुक्त]

३ यतीः-यतयः-संयतभनसः-छान्दसो मतुवर्थे

(इन्द्र) हे राजन् ! या सेनानायक ! (सुतासः) ने नव तैयार किये गये सैनिक जन (त्वा-भाविशन्तु) तुझे सुगम रूप से प्राप्त हों-तेरे शासन में रहे (कुक्षी पृणस्व) अपनी दोनों ओर की दिशाओं को इनसे भर (शक्र) हे शक्तिमत् ! (नः-धियः-आ-इहि विद्भिः) हमारे लिए क्रिया शक्ति से-शासन प्रक्रिया से समन्त रूप से प्राप्त हो-प्रबुद्ध हो । "विवृद्धिः" [सायणः] (इन्द्र हवं श्रुधि) हे राजन् ! प्रार्थना को सुन-स्वीकार कर (मे गिरः-जुषस्व) मेरी स्तुतियों को सेवन कर (स्वयुग्मिः-महे-रणाय-इह मत्स्व) स्व योजनाओं से इस राष्ट्र में महान् रमण के लिए आनन्द कर-हमें आनन्दित कर ॥ ४ ॥

इन्द्रस्य नु प्रा वौचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अह्नाहिमन्वपस्ततर्दं प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ ५ ॥

(इन्द्रस्य वीर्याणि नु प्रवोचम्) मैं राजपुरोहित राजा के पराक्रमों का प्रवचन करता हूँ^१ (यानि प्रथमानि वज्री चकार) जिन प्रसिद्ध पराक्रमों का राजपद पर विराजमान ओजस्वी^२ राजा करता है-क्रिया करता है अर्थात् करना चाहिए (अहिम्-अह्व) मेघ को किन्हीं स्थानों से ताड़ित करे (अपः-अनु ततर्दं) जलों को अनुकूल रूप-स्वराष्ट्र में प्रवाहित करें (पर्वतानां वक्षणाः-अभिनत्) पर्वतों के संघात^३ जोड़ों-धम्टियों को तोड़े-जलों को राष्ट्र में बहाने तथा पर्वतों में मार्ग बनाने के लिए ॥ ५ ॥

अह्नाहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्थं ततक्ष ।

वाश्रा इव धेनेवः स्यन्दमाना अर्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ ६ ॥

१ छन्दसि लुङ्लङ्लिटः [अष्टा० ३।४।६] सामान्य काले लङ् ।

२ वज्रो वा ओजः [शत० ८।४।१।२०]

३ "वक्ष संघाते" [भ्वादि०]

(पर्वते सिध्रियाणम्-अहिम्-अहम्) जैसे इन्द्र-विद्युत्-मेघ में आश्रय लिए जल को ताड़ित किया करता है (त्वष्टा-अस्मै स्वयं वज्रं ततश्च) सूर्य ने गर्जन उपताप करने वाले वज्र को घड़ा है, पुनः (वाशाः-धेनवः-इव) रम्भाती हुई गौओं की भाँति (स्यन्दमानाः-आपः-समुद्रम्-अवजग्मुः) वहते हुए जल समुद्र को प्राप्त हो जाते हैं या मिल जाते हैं ॥ ६ ॥

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत् सुतस्य ।

आ सायकं मघवादत्त वज्रमहभेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ७ ॥

(मघवा) राजसूय यज्ञ को प्राप्त हुआ नवराज^१ (वृषायमाणः) सांड के जैसा बलवान् साहसी बन (त्रिकद्रुकेषु) तीन पृथिवी^३-प्रथित अधिकृत स्थानों-निज गृह, सभास्थान और राष्ट्र में अथवा स्थल, जल, गगन पर अधिकार के निमित्त (सोमम्-अवृणीत) अपने को सम्राट्^४ बरे-स्वीकार करे-माने (सुतस्य-अपिबत्) सम्पन्न स्वाधीन साम्राज्य का उपभोग एवं पालन करे, तदर्थ (सायकं वज्रम्-आदत्त) शत्रुनाशक वज्र-शस्त्र को पकड़े (अहीनां प्रथमजाम्-एनम्-अहम्) आघातक शत्रुओं या सर्पसमान छिपे आक्रमणकारियों के प्रथम प्रसिद्ध-प्रमुख को नष्ट करे ॥ ७ ॥

१ अहिः-उदकनाम [निघ० १।१२]

२ यज्ञेन मघवान् [तै० सं० ४।४।५।१२]

३ इयं पृथिवी कद्रुः [तै० सं० ६।१।६।५]

४ स यदाह सम्राडिति सोमं वा एतदाह [१।५।१३]

षष्ठ सूक्त

ऋषिः—“शौनकः सत्यकामः” (ऐश्वर्येच्छुक प्रगतिकर्ता या सुखीवंशज)

देवता—अग्निः (अग्रणेता)

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।

सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ १ ॥

(अग्ने) हे आगे बढ़ने वाले-जीवन में उठने और उठाने वाले नेता (त्वा) तुम्हें (समा) षण्मास का अन्नपक्व समय (संवत्सराः) वर्ष (वर्धयन्तु) बढ़ावे (ऋषयः-यानि सत्या) प्राण, सृष्टि के जीवनप्रद-तत्त्व जो यथावत् नियमन कर्म हैं वे भी बढ़ावें (दिव्येन रोचनेन) अलौकिक प्रकाश से तेज से (संदीदिहि) प्रकाशित हो चमकूँ (विश्वाः-चतस्रःप्रदिशः-आभाहि) समस्त अपने चारों ओर रहने वालों पर अपने तेज को डाल-अपने गुण प्रभाव से उन्हें योग्य बना, अपने अनुकूल बना ॥ १ ॥

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च्व तिष्ठ महते सौभगाय ।

मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥

(अग्ने) हे अग्रणेता ! तू (सम्-ईध्यस्व च) सम्यक् तेजस्वी हों और (इमं प्रवर्धय च) इस समाज को बढ़ा भी (महते सौभगाय-उत्तिष्ठ-च महान् सौभाग्य के लिये उठ (ते-उपसत्तारः) तेरे पास बैठने वाले (मा रिषन्) तेरे आश्रय में मत पीड़ित हों (अग्ने) हे अग्रणेता (ते ब्रह्माणः) तेरे ब्रह्मज्ञानी (यशसः सन्तु) यशस्वी हों (मा-अन्ये) मत अन्यजन-यशस्वी नहीं होते हैं जो ब्रह्मज्ञानी नहीं होते ॥ २ ॥

१ शुन गतौ [तुदादि०] शौनकः ष्वुलप्रत्ययान्तः-आर्षप्रयोगः यद्वा शुनं सुख-नाम [निघ० ३। ६] संज्ञायाम् कम् [अष्टाः ५। ३। ७५] शुनकस्य ।

२ “दीदयति ज्वलतिकर्मा” [निघ० १। १६]

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिबो अग्ने संवरणे भवा नः ।

सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद् भव स्वे गये जागृहप्रयुच्छन् ॥ ३ ॥

(अग्ने) हे अग्रणेता ! (इमे ब्राह्मणाः) ये ब्राह्मणजन (त्वा वृणते) तुझे वरते-प्रमुख नेता के रूप में मानते हैं, निर्धारित करते हैं (अग्ने) हे अग्रणेता ! तू (संवरणे) इस संवरण-सम्यक् वरण में-निर्धारण में-निर्धारण होने पर (नः) हमारे लिये (शिवः-भव) कल्याणकारी हो (अग्ने) हे अग्रणेता ! तू (सपत्नहा) शत्रुनाशक (अभि-मातिजिद्) स्वराष्ट्र में अभिमत्त हुए पापीजन* को जीतने वाला (भव) हो (स्वे गये) अपने घर में अपने नेतृपद पर (अग्रयुच्छन्-जागृहि) बिना प्रमाद के जागता रह सावधान रह ॥ ३ ॥

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।

सजातानां मध्यमेष्टा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहि ॥ ४ ॥

(अग्ने) हे नव राजकुमार अग्रणेता ! तू (स्वेन क्षत्रेण) अपने क्षत्र-क्षतत्राण करने वाले राजधर्म के साथ (संरभस्व) सम्भल-सज्जित हो (मित्रधाः) मित्रों को धारण करने वाले (मित्रेण) मित्रभाव से एवं प्रेरक भाव से (यतस्व) यत्न कर या गति कर* (सजातानां राज्ञाम्) सजात-समान साथियों राजाओं के (मध्यमे स्थाः) मध्य में रहता हुआ (अग्ने) हे अग्रणेता ! तू (इह विहव्यः-दीदिहि) यहाँ राष्ट्र में विशेष आदान स्वीकार करने योग्य या विशेष आह्वान करने योग्य-आमन्त्रण सत्कार योग्य हुआ प्रकाशित हो-प्रसिद्ध हो-चमक ॥ ४ ॥

अति निहो अति स्त्रिधोऽत्यर्चिर्त्तारति द्विषः ।

विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर् त्वमथास्वभ्यं सुहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

१ "पाप्मा वा अभिमातिः" [तै० सं० २।१।३।५]

२ "मयं गृहम्" [निघ० ३।४]

३ "यतते गतिकर्मा" [निघ० २।१४]।

(अग्ने) हे अग्रणेता ! तू (निहः-अति) गुप्त हनन करने वाली बसनाओं को दूरकर या उन पर अधिकार कर विजय पा (स्त्रिघः-अति) शोषण एवं क्षीण^१ करने वाली भवनाओं को जीत (अचिन्तीः-अति) मोहक-वृत्तियों को परास्त कर (द्विषः-अति) द्वेष भावनाओं को हटा (विम्भा दुरिता हि तर) सारी दुर्गतियों को पार कर (अथ अस्मभ्यं सहवीरं रयि त्वं दाः) अनन्तर हमारे लिये वीरपुत्रों के साथ रहने वाले धन को-अधिक-काल तक चलने-पुत्रों तक चलने वाले धन भूमि आदि स्थिर धन को प्रदान कर ॥ ५ ॥

सप्तम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर जन)

देवताः—दूर्वा वनस्पतिः (वनस्पति दूब)

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।

आपो मलमिव प्राणैक्षीत् सर्वान् मच्छपथाँ अर्थि ॥ १ ॥

(अघद्विष्टा) पापरोग-अघोदेश के अर्श-ववासीर आदि रोग को द्वेष करने वाली दूब-श्रीषधि (देवजाता) स्वतः वृष्टिद्वारा स्वयं जाता = मनुष्यादि से कृषि द्वारा उत्पन्न न होकर बिना मनुष्य के स्वयं उत्पन्न हुई (वीरुत्) फैलने वाली श्रीषधि (शपथयोपनी) मन के दुर्वचन को पश्चात्ताप मिटाने वाली श्रीषधि है (आपः-मलमिव) जल जैसे मल शोध देता है ऐसे (सर्वान् शपथान्-अधि प्राणैक्षीत्) सारे दुर्वचनों को अन्दर शोध देता है । दूब का स्वरस तथा दुर्वारसक्रिया अर्श को, मानस दुर्भाव को नष्ट करती है ॥ १ ॥

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः ।

ब्रह्मा यन्मन्यतः शपात् सर्वे तन्नो अधस्पदम् ॥ २ ॥

(यः सापत्नः शपथः) जो शत्रुरूप बन्धु का अहितवचन (च) और (यः-जाम्याः शपथः-च) जो बहिनरूप स्त्री का अहितवचन (यत्) जो (ब्रह्मा) गुरुजन (मन्युतः) मन्यु से (शपात्) हमारी भूल से अहितवचन बोले (सर्वं तत्) वह सब (मे-अघ्नस्पदम्) मेरे पैर के नीचे पहुंचे-मेरे अन्दर से बाहिर निकल जावे ॥ २ ॥

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अभ्युत्ततम् ।

तेन सहस्रकाण्डेन परिणः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥

(दिवः) दुलोक से-ऊपर वर्षा द्वारा आकर (पृथिव्याः-अधि) पृथिवी पर (उत्तमं मूलम्-अवततम्) इस दुर्वा-दूब का मूल फल गया (तेन सहस्रकाण्डेन) उस बहुत काण्ड से (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से (परिपाहि) पूर्णरूप से रक्षाकर ॥ ३ ॥

परि मां परि मे प्रजां परिणः पाहि यद् धनम् ।

अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥

(मां परिपाहि) मुझे परिरक्षित कर (मे प्रजां पाहि) मेरी प्रजा को परिरक्षित कर (नः-यत्-धनं पाहि) हमारा जो धन है उसको भी परिरक्षित रख (नः-अरातिः-मा तारीः) हमारा अ-राति-न देने अपितु लेने छीनने वाला मत आगे बढ़े-आक्रमण करे (नः-अभिमातयः-मा तारिषुः) हमारे पर अभिमानी आक्रमणकारी जन्तु मत आक्रमण करे ॥ ४ ॥

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त तेन नः सह ।

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हादः पृथीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

(नः शप्तारं शपथः-एतु) हमारे प्रति अहित वचन वक्ता को अहित वचन प्राप्त हो (यः-नः सुहार्त तेन सह नः) जो सुहृदय-सुमित्र है उसके साथ हमारा सौहार्द मित्रभाव हो (चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हादः) आँखों में मन्त्रणा अहित

गुप्तसङ्गति वाले दुष्ट जन की (पृष्टीः-अपि शूणीमसि) पसलियां भी हम तोड़ देवें ॥ ५ ॥

अष्टम सूक्त

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः (ज्ञानदीप्त अङ्गों का संयमी जन)

देवता—क्षेत्रिययक्ष्मकुष्ठनाशनः (जन्म के यक्ष्म कुष्ठ को नष्ट करना)

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।

वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥

(भगवती) ऐश्वर्यवाले (विचृतौ नाम तारके) स्पष्ट ग्रन्थित-पिण्डरूप^१ सूर्य चन्द्र ग्रह (उदगाताम्) उदय होते हैं । निकलते हैं वे दोनों (क्षेत्रियस्य) क्षेत्रिय रोग के (अधमं पाशम्) अधम बन्धन को (विमुञ्चताम्) छुड़ाते हैं । सूर्य और चन्द्रमा क्षेत्रिय अर्थात् माता पिता से प्राप्त या जन्म के रोग को नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्वभिकृत्वरीः ।

वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यपे क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥

(इयं रात्री) यह रात्रि (अप-उच्छतु) समाप्त होवे (अभि-कृत्वरीः) उषा भी (अप-उच्छतु) समाप्त हो जावे, बस तभी (क्षेत्रियनाशनीः) क्षेत्रिय रोग को नष्ट करने वाली (वीरुत्) ओषधि से^२ (क्षेत्रियम्-अप-उच्छतु) क्षेत्रियरोग समाप्त हो जावे ।

रात्रि और उषा के पीछे का प्रभात भी क्षेत्रिय रोग को हटाने में उपयोगी है ॥ २ ॥

१ "चती-हिसामन्थनयोः" [तुदादि]

२ टा विभक्तेलुंक् "सुपां सुलुक्" [अष्टा० ७ । १ । ३९]

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलास्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥

(बभ्रोः) सोम का^१ (अर्जुनकाण्डस्य) अर्जुन वृक्ष का अथवा (अर्जुनकाण्डस्य बभ्रोः) अर्जुन वृक्ष के भूरे रंग वाली छाल का (यवस्य पलास्या) जो की मञ्जरी-कच्ची बाल के साथ (तिलस्य तिलपिञ्ज्या) तिल की मञ्जरी-कच्ची तिलबाल के साथ (ते) तेरे लिये (वीरुत्) घोषध (क्षेत्रियनाशनी) क्षेत्रिय नाशनी है, उससे (क्षेत्रियम्-अप-उच्छतु) क्षेत्रिय रोग नष्ट हो जावे ॥ ३ ॥

सोम, अर्जुनवृक्ष या अर्जुनवृक्ष की छाल जो और तिल की कच्ची बाल क्षेत्रिय रोग को दूर करने वाले हैं, घोषध सेवन में अर्जुन की छाल का चूर्ण, भोजन में जो, उवटने में तिलपिष्टी, मर्दन में तिल तेल ये जन्म के कुष्ठ, क्षय आदि रोगों को दूर करते हैं ।

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः ।

वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥

(लाङ्गलेभ्यः-नमस्ते) भूमि में घुसने वाले लोहे के फालयुक्त भागों के लिये स्वागत (ईषायुगेभ्यः-नमः) लाङ्गल और जुए के मध्य में वर्तमान लम्बे दण्डे और जुओं के लिये स्वागत हो । बस यह (वीरुत् क्षेत्रियनाशनी) घोषध क्षेत्रिय रोग को नष्ट करने वाली है इससे (क्षेत्रियम्-उच्छतु) क्षेत्रिय रोग दूर हो जावे ॥

क्षेत्रियरोग रोगी का हल चलाने, उखड़ती हुई ताजी मिट्टी की गन्धध्वास द्वारा सेवन होने से क्षेत्रिय रोग नष्ट हो जावे ॥ ४ ॥

नमः सन्निस्रसाक्षेभ्यो नमः संदेश्येभ्यो नमः क्षेत्रस्य पतये ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यर्प क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

(सन्निस्रसाक्षेभ्यः) पुनः पुनः गतिशील अक्षों वाले शकटों के लिये अथवा अत्यन्तगतिशील चरणरूप इन्द्रियों वाले हालियों के लिये^१ (नमः) स्वागत हो (संदेश्येभ्यः) हांकने योग्य बैलों के लिये (नमः) स्वागत हो (क्षेत्रस्य पतये नमः) भूमि के स्वामी-भूमिमान्-भूमिहार-जमींदार के लिये स्वागत हो, क्योंकि खेत जोतनारूप क्रिया (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रिय-नाशनी) क्षेत्रियरोग को नष्ट करने वाली है उससे (क्षेत्रियम्) क्षेत्रिय रोग (अप-उच्छतु) दूर हो जावे ।

श्लेष से यहाँ क्षेत्र-खेत के दोष को दूर करने का भी वर्णन जानना चाहिए । जिस खेत में उपजाऊ शक्ति न रही हो या न हो उसमें अर्जुन वृक्ष की कोमल कोमल शाखाओं जौ की नालों तिल की लकड़ियों को सड़ाकर या जलाकर खाद रूपमें दे, शुक्ल पक्ष की रात्रियों के उषाकाल में हल चलाकर जोते बीज बोए तो उसमें उपजाऊ शक्ति आ सकती है ऐसा भी ध्वनित होता है ॥ ५ ॥

नवम सूक्त

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः (तेजस्वी संयमी)

देवता—वनस्पतिः (ओषधि)

दशवृक्ष सुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राहु पर्वसु ।

अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥

१ "संसति गतिकर्मा" [निघ० २ । १४] ।

(दशवृक्ष) हे दशमूल ! (इमम्) इस रोगी को (रक्षसः-प्राह्याः-अधि) रक्षा जिस से करनी चाहिए, ऐसे वातरोग की बन्धनी से-पकड़ से-गृध्रसी से-गठिया से (मुञ्च) छुड़ा (यां) जोकि (एनम्) इस मनुष्य को (पर्वसु) जोड़ों में (जग्राह) पकड़ती है (वनस्पते) हे श्रोषधे ! तू (अथो) पुनः (एनम्) इसको (जीवानां लोकम्) जीवितों के संघ में (उन्नय) उन्नत कर ॥ १ ॥

आगादुर्दगाद्यं जीवानां व्रातमप्यगात् ।

अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥

(अयम्) यह मनुष्य (अगात्) दशमूल के सेवन से वातव्याधि की बन्धनी से छूट आता है (उद्गात्) उन्नत हो जाता है (जीवानां-व्रातम्) जीवों-मनुष्यों के समाज में परिवार में (अपि-अगात्) प्राप्त हो जाता है (पुत्राणां पिता) पुत्रों का पिता (च) और (नृणां भगवत्तमः) पौत्र आदियों के मध्य^१ अत्यन्त भाग्यवान् हुआ विराजता है ॥ २ ॥

अधीतीरभ्यगाद्यमधि जीवपुरा अगन् ।

शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥

(अयम्) यह (अधीतीः) मस्तिष्क में स्मर्तव्य बातों को (अध्यगात्) स्मरण करता है (जीवपुराः) जीवों-मनुष्यों को पूरण करने वाली-तृप्त करने वाली इन्द्रियशक्तियों को (अध्यगात्) प्राप्त हो जाता है (अस्य) इसके (शतं हि) सैकड़ों ही (भिषजः) चिकित्सक हैं (उत) तथा (वीरुधः) श्रोषधियां (सहस्रम्) सहस्रों हैं ॥ ३ ॥

देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः ।

चीतिं ते विश्वे देवा अविदन् भूम्यामधि ॥ ४ ॥

(देवाः) देव (ब्रह्माणः) चिकित्सक (उत) तथा (वीरुधः)
 ओषधियां (ते) तेरे लिये (चीतिम्) संवरण संरक्षण स्वास्थ्य को
 (अविद्वन्) जानते या प्राप्त करते हैं (विश्वेदेवाः) समस्त-देव (भूम्याम्-
 अधि) पृथिवी पर (ते) तेरे लिये (चीतिम्) संवरण-संरक्षण स्वास्थ्य
 अनुकूलता को (अविद्वन्) जानते-प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

यश्चकार स निष्कर्तु स एव सुभिषक्तमः ।

स एव तुभ्यै भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः ॥ ५ ॥

(यः) जो (चकार) तेरे शरीर का निर्माण करता है (सः) वह
 (निष्कर्तु) शुद्ध स्वास्थ्य करता है, क्योंकि (सः-एव) वह ही (सुभिषक्तमः)
 श्रेष्ठ चिकित्सक है (सः-एव) वह ही (तुभ्यम्) तेरे लिये (शुचिः) शोधक-
 परमात्मा है (भिषजा) अन्य चिकित्सक के द्वारा (भेषजानि) ओषधियां-
 ओषधोपचार कराता है ॥

इस सूक्त में सन्धिवात मस्तिष्कवात (अपस्मार) जैसे रोगी की
 चिकित्सा 'दशवृक्ष' अर्थात् दशमूल से करने का विधान है । जो बिल्व, अग्नि-
 मन्थ, श्योनाक, काश्मरी, पाटला, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेली, छोटी
 कटेली, गोखरू, ये दश ओषधियां दशमूल हैं । यह गण बातनाशक है "प्राय
 स्त्रिदोषनाशनं पक्वामयेषुस्लेष्मोल्बणेषु च गदेषु भिषग्भिरुक्तम्" [धन्वन्तरि
 निघ०] दशमूल का क्वाथ वातकुण्डलीक, अग्नीला और वातवस्ति को नष्ट
 करता है "दशमूलक्वाथं पीत्वा सशिला जतुशर्करम् । वातकुण्डालिकाग्नीला
 वातवस्तौ प्रयुज्यते" [भैषज्यरत्नावली] दशमूल को वेद ने अपस्मारनाशक
 बतलाया है, इसी प्रकार आयुर्वेदिकशास्त्र में भी इसे अपस्मारनाशक कहा है
 "द्वे पञ्चमूले त्रिफला-अपस्मारे तथोन्मादे [चरक अपस्मार चि० अ० १०]

दशम सूक्त

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवता—निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयः । (मानस पाप पृथिवी आदि)

क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१॥

(त्वा) हे रोगी ! तुझे (क्षेत्रियात्) माता-पितृरूप क्षेत्र जन्मगत रोग से (निर्ऋत्याः) स्वयंकृत षाण्ड-मानस पाप से-अपस्मार उन्माद रोग से^१ (जामिशंसात्) सम्बन्धी के द्वारा निन्दावचन या फट्कार अपशब्द कथन से-शोक से (द्रुहः) द्रोह करने वाले के विघ्नबाधारूपभयसे (वरुणस्य पाशात्) पूर्वजन्म से (मुञ्चामि) छुड़ाता हूँ (त्वा) तुझे (ब्रह्मणा) मन्त्र परमात्मोपदेश से (अनागसं कृणोमि) पापरहित करता हूँ (ते) तेरे लिये (उभे द्यावापृथिवी-शिवे स्ताम्) दोनों दुलोक पृथिवी लोक कल्याणकारी हों-होंगे ॥ १ ॥

शं ते अग्निः सुहाङ्गिस्तु शं सोमः सुषोषधीभिः ।

एवाहं त्वां क्षेत्रियाभिर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो
मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥२॥

(ते) हे रोगी ! तेरे लिये (अङ्गिः-अग्निः-अस्तु) जलों के साथ अग्नि रोग का शमनकारक हो वाष्पद्वारा (ओषधीभिः सह सोमःशम्) ओषधियों के साथ सोम ओषधीमी तेरे क्षेत्रियादि रोग का शमन करेक ही ॥२॥

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं तं भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः ।

एवाहं त्वां क्षेत्रियाभिर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो

सुकृत्वाभि वरुणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥३॥

(ते) हे रोगी ! तेरे लिये (वातः-अन्तरिक्षे) वायु अन्तरिक्ष में वर्तमान (वयः-धात्) प्राण को धरै-धारण कराके (चतस्रः प्रदिशः-ते शं भवन्तु) चारों दिशाएं तेरे लिये कल्याणकारी हों, शेष पूर्ववत् । वायु और बिजलीओं में खुला विचरण करना हितकर है ॥ ३ ॥

इमा सा देवीः प्रदिसश्चक्षो वातपत्नीसुभि सूखे विचष्टे ।

एवाह त्वां क्षेत्रियाभिर्ऋत्या जामिशंसाद् ब्रुहो

सुकृत्वाभि वरुणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥४॥

(याः-इमाः-वातपत्नीः-देवीः-चतस्रः-प्रदिशः) जो ये वायु की पत्नियाँ, वायु संचार की सज्जिनी पत्नियाँ चारों दिशाएं (सूखे-अभि-विचष्टे) जिनकी सूर्य प्रकाशित करता है, सूर्य सहित इनसे तुझे मैं क्षेत्रिय आदि रोग से छुड़ाता हूँ । सूर्य के ताप में वायु सेवन से रोग शान्त होता है ॥ ४ ॥

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः ।

एवाह त्वां क्षेत्रियाभिर्ऋत्या जामिशंसाद् ब्रुहो

सुकृत्वाभि वरुणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥५॥

(तासु-अन्तः) उन वात एवं सूर्य प्रकाशयुक्त चारों दिशाओं में (त्वा) हे रोगी ! तुझे (जरति) जरा-बृद्धावस्था के जीवन निमित्त (आदधामि) पहुंचाता हूँ (यक्ष्मः-निर्ऋतिः-पराचैः-अंतु) तेरा यक्ष्म-रज-

यक्ष्मा तथा पापरोग-मानसरोग पराङ्मुख भावों के साथ दूर हो जावे, आगे पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अमुक्था यक्ष्माद् दुरिताद्वद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियाभिश्चैत्या जामिशंसाद् द्रुहो
मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥६॥

(यक्ष्मात्) राजयक्ष्मा से (दुरितात्) दुरित कुष्ठ से (अवद्यात्) निन्दनीय-नीचे के रोग से (द्रुहः) द्रोह-वैर-क्रोध से उत्पन्न रोग से (पाशात्) शरीर के बन्धन न हिल सकने से (अमुक्थाः) तू छूट गया-जाता है (ग्राह्याः) मानसिक अपस्मार रोग से (च) भी (उदमुक्थाः) छूट जाता है, आगे पूर्ववत् ॥ ६ ॥

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूभद्रे सुकृतस्य लोके ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियाभिश्चैत्या जामिशंसाद् द्रुहो
मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥७॥

(अरातिम्-अहाः) हे रोगी ! तू शरीर के शोषण रोग को त्याग दिया-त्याग देता है (स्योनम्-अविदः) सुख स्वास्थ्य को पालिया-पालेता है (अपि) अपितु-और भी (सुकृतस्य भद्रे-लोके-अभूः) पुण्य के कल्याण कारी लोक मानव जीवन के अन्दर हो गया-हो जाता है आगे पूर्ववत् ॥ ७ ॥

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अर्धि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियाभिश्चैत्या जामिशंसाद् द्रुहो
मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥८॥

(देवाः) विद्वानों ने (ऋतं सूर्यम्) अमृत' आत्मा को^१ (तमसः) अज्ञानान्धकार, मानसरोग-मूर्छा से तथा (ग्राह्याः-अधि) अपस्मार के अन्दर से (मुञ्चन्तः) छुड़ाते हुए (एनसः-निः-असृजद्) पापरोग से निकाललिया करते हैं, आगे पूर्ववत् ॥ ८ ॥

एकादश सूक्त

ऋषिः—शुक्रः (शोधक-प्रतीकारकर्ता)

देवता—मन्त्रोक्ता (मन्त्रों में कहे प्रतिसर-प्रतीकार कर्ता अन्नसाधन)

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमतिं समं क्राम ॥ १ ॥

(दूष्याः-दूषिःअसि) हे प्रतिसर-प्रतीकर्ता !^२ शत्रु के प्रहार को प्रति निवृत्त करने वाले अन्नविशेष से युक्त राजन् ! तू किन्हीं दूषित-विष खनिज वस्तुओं से बने अन्नप्रयोग दूषित करने वाला है (हेत्याः-हेतिः-असि) हनन साधन^३ अस्त्र का घातक-नष्ट करने का साधन है (मेन्याः-मेनिः-असि) हिंसक साधन का हिंसक है^४ (श्रेयांसम्-आप्नुहि) तू श्रेष्ठ परमात्मा को प्राप्त कर (समम्-अतिक्राम) समान के आगे बढ़ ॥ १ ॥

सक्तयोऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिर्चरणोऽसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमतिं समं क्राम ॥ २ ॥

१ "ऋतममृतमित्याह" [जै० २ । १६०]

२ "सूर्यं आत्मा" [तै० सं० १ । ४ । ४३ । १]

३ द्वितीये मन्त्रे

४ "हेतिः-वज्रनाम" [निघ० २ । २०]

५ "मेनिः-वज्रनाम" [निघ० २ । २०]

(स्रक्त्यः-असि) समस्त दिशाओं में पहुंचने वाला है (प्रतिसरः-असि) स्रक्त्य के अस्त्रप्रयोग को लौटा देने वाला है-प्रत्याक्रमण में समर्थ है (प्रह्मभि-चरणः-असि) प्रतिरोध करने वाला है पूर्ववत् ॥ २ ॥

प्रति तमभि चरु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।

आप्नुहि श्रेयांसमतिं समं क्राम ॥ ३ ॥

(यः-अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो अत्याचारी हमारे प्रतिद्वेष करता है तथा हम जिस अत्याचारी से द्वेष करते हैं (तं प्रति-अभिचर) उस पर आक्रमण कर प्रहार कर (श्रेयांसम्-आप्नुहि) श्रेष्ठ को प्राप्त हो (समम्-अतिक्राम) समान के आगे बढ़ ॥ ३ ॥

सूरिरसि वचोधा असि तनूपानोऽसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमतिं समं क्राम ॥ ४ ॥

(सूरिः-असि) तू मेधावी^२-आस्तिक स्तुतिकर्ता है (वचः-धा-असि) वचं तेज को धारण करने वाला तेजस्वी है (तनूपानः-असि) तू आत्माओं का^३ रक्षक है, शेषपूर्ववत् ॥ ४ ॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमतिं समं क्राम ॥ ५ ॥

(शुक्रः-असि) तू शोधक है (भ्राजोऽसि) तू ज्वलन्त है (स्वः-असि) तू तापक है (ज्योतिः-असि) तू विद्युत् हैं-विद्युत् के समान है, आगे पूर्ववत् ॥ ५ ॥

१ "दिशः स्रक्त्यः" [शं० १४ । ३ । १ । १७]

"दिशोहास्य स्रक्त्यः" [छान्दो० ३ । १५ । १]

२ "सूरिः-मेधावी" [निघ०]

३ "आत्मा वै तनूः" [शं० ६ । ७ । २ । ६]

द्वादश सूक्त

ऋषिः—भस्त्राजः (बल्लभ का धारक जन)

देवता—१. आकापृथिवी अन्तरिक्षं च (बुलोक-पृथिवी लोक, और अन्तरिक्ष)

२. देवाः (विद्वान्)

३. इन्द्रः (शक्ति शाली परमात्मा)

४. आदित्यवस्वङ्गिरसः पितरः (अड़तालीस चौबीस चवालीस वर्ष वाले ब्रह्मचारी)

५. सोम्यासः पितरः (रसरक्तादि सम्पादक पोषक प्राण)

६. मरुतः (ऋत्विक् जन)

७. यमसादनम्, (काल-मृत्युपद)

८. अग्निः (भौतिक अग्नि)

आकापृथिवी उर्वरान्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।

उतान्तरिक्षसुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥

(आकापृथिवी) बुलोक पृथिवी लोक (उरु-अन्तरिक्षम्) बुला अन्तरिक्ष लोक मय-ब्रह्माण्ड (क्षेत्रस्य) उस निर्माता विष्णु महाव्यापक क्षेत्र-निवासरूप परमात्मा के व्याप्य है (पत्नी) इस लोक क्षेत्र ब्रह्माण्ड की पत्नी पालिका शक्ति अपने में रखने वाली प्रकृति हे, तथा (अद्भुतः-उरुगाय) बहुत गाने-स्तुति करने योग्य अद्भुत स्वरूप-अद्भुतगुण कर्मयुक्त परमात्मा पति-पालक है यह जानना चाहिए (उत) अग्नि और लोकत्रय के अन्दर (उरु वातगोपम्-अन्तरिक्षम्) पिण्ड-शरीर में बड़ा आकाश हृदय कस्य प्राण से गोपनीय रक्षणीय है (ते) वे ब्रह्माण्ड के अवयव अङ्ग (इह) इस शरीर में (मयि तप्यमाने) मेरे तम पक्व अङ्गों में आते हुए पर (तप्यन्ताम्) तम हो अङ्गों में आके पूरण करें अरें ब्रह्माण्डवत् पिण्ड में स्थान है ॥ १ ॥

१ "क्षि निवासगत्योः" [तुदा०]

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्त्यानि शंसति ।

पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥

(ये यज्ञियाः-देवाः-स्थ) जो तुम हे सज्जमनीय विद्वानों हो (इदं शृणुतः) यह सुनो-स्वीकार करो (भरद्वाज-मह्यम्-उक्त्यानि शंसति) अमृत अन्न को धारण करने वाला परमात्मा मेरे लिये प्रशंसनीय आचरणों भोगों का जो शंसन उपदेश विधान करता है (यः-अस्माकम्-इदं मनः-हिनस्ति) जो हमारे मन को हिसित करता है (सः) वह (दुरिते पाशे बद्धः-नियुज्यताम्) बुरे बन्धन में बन्धा पड़ा रहै ॥ २ ॥

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत् त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।

वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥

(सोमप-इन्द्र) हे उपासना रस के पान करने वाले परमात्मन् ! (शोचता हृदा त्वा जोहवीमि) पवित्र आत्मभाव से तुझे पुनः पुनः अर्चित करता हूँ^१ प्रतिदिन तेरी अर्चना स्तुति मैं करता हूँ (यत्) यतः-इसहेतु-इसलिये कि (यः-अस्माकम्-इदं-मनः-हिनस्ति) जो कामादि दोष हमारे इस मन को मारता-दूषित करता है (तं कुलिशेन इव वृश्चामि) इस कामादि दोष को कुठार^२ से वृक्ष काटने की भांति मैं उसका छेदन करदूँ, बस इस कार्य में मेरे आप सहायक बने, मुझ में आत्मबल दे इस मेरी बात को (शृणुहि) सुन-स्वीकार करे ॥ ३ ॥

अशीतिभिस्तिष्ठभिः सामगोभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।

इष्टापूर्तमवतुः नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

१ “ह्वयति-अर्चति कर्मा” [निघ० ३ । १४]

२ “कुलिहस्तः-कुलौ हस्ते सव श्यति तन्नकरोति येन सः कुलिशः “कुलि शो डः” कुलिशः ।

(अशीतिभिः-तिसृभिः) तीन छन्दों-गायत्री, उष्णिक, बृहती छन्दों वाली अस्सी ऋचाओं से (सामगेभिः) स्तुतिगान-परमात्मगुण गान करने वाले (आदित्येभिः) अङ्गतालीसवर्षवाले ब्रह्मचारियों द्वारा (वसुभिः) चौबीसवर्षवाले ब्रह्मचारियों द्वारा (अङ्गिरोभिः) चबालीसवर्षवाले ब्रह्मचारियों द्वारा किये जाने के समान (नः) हमारा (इष्टापूर्तम्) यज्ञ और लोक हित पालनकर्म को (अथत) रक्षा करे हमारे अन्दर के कामादि दोष के प्रहार से बचावे (दैव्येनहरसा) अग्नि के तेज से (पितृणाम्-अमुम्-आ-ददे) रश्मियों के उस लोक सूर्य को समन्तरूप से देता है-सोपता हूँ-पहुँचाता हूँ, अग्निहोत्र की भांति काम आदि दोष को भी त्यागता हूँ ॥ ४ ॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।

अङ्गिरसुः पितरः सोम्यासः पापमाह्वित्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥

(द्यावापृथिवी) हे द्यूलोक-सूर्य तथा पृथिवी ! (मा-अनु) मेरे अनुकूल (दीधीथाम्) मेरे शरीर को प्रकाशित करें उस में तेज पुष्टि रूप में आवें (विश्वे देवासः) हे सभी अग्नि आदि देवो ! शीर्षण्य प्राणो ! (मा-अनु) मेरे अनुकूल (रभध्वम्) प्रवृत्त रहो-व्यवहार करो (अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः) अङ्गों के रसरक्तादि तथा रसरक्तादिसम्पादक प्राण-अपान आदि पांच प्राणो ! (अपकामस्य कर्ता पापम्-आ-ऋच्छतु) अनभीष्ट-अहित करने वाला पाप-विनाश को प्राप्त हो ॥ ५ ॥

अतीव यो मरुतो मन्येते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम् ।

तर्षूषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥

(यः) जो (अति-इव-मन्यते) अत्यन्त अपने को मानता है अर्थात् अन्यथा अनादर करता है, तथा (वा-यः-नः क्रियमाणं ब्रह्म निन्दिषत्) और

जो हमारे क्रिया जाने वाले कार्य-स्तुति-स्तवन की सिन्हाकरता है-उसमें विघ्न करता है (मन्त्रः) हे विद्वाय ऋत्विजों^१ (तस्मै) उसके लिये (वृजनामि सन्तु) प्राणों से वर्जन करने वाले तापक शस्त्र हों (ब्रह्मद्विषं-धी-तत्र वि अभिसंतपति) ज्ञान स्तवन का द्वेष करने वाले को सूर्य समान तापकराजा सब प्रकार से सन्तप्त करे ॥ ६ ॥

सप्त प्राणानुष्टौ मन्यस्तांस्तै वृश्चामि ब्रह्मणा ।

अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरङ्कृतः ॥ ७ ॥

(ते) सप्त प्राणान्) हे ब्रह्मद्वेषी तेरे शिर के सात प्राणों-दो कान दो आंखे दो नासिकाछिद्र मुख को^२ (अष्टौ मन्यः-तान्) आठ 'धमन्यः' धमनियों^३ को उन सब को (ब्रह्मणा वृश्चामि) ब्रह्मास्त्र से काटता हूँ (अग्निदूतः-अरङ्कृतः-यमस्य सादनम्-अया) अग्नि से प्रेरित अलङ्कृत शान्त हुआ काल के सादन-मरण पद को प्राप्त हो ॥ ७ ॥

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि ।

अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

(ते पदं समिद्धे जातवेदसि) हे ब्रह्मद्वेषा ! तेरे स्वरूप को प्रज्वालित अग्नि में (आ दधामि) आधान करता हूँ-सोपता हूँ (अग्निः-शरीरं वेवेष्टु) अग्नि तेरे शरीर में प्रविष्ट हो जावे (असुं वाक्-अपि गच्छतु) प्राणों की-प्राण में वाणी लीन हो जावे ॥ ८ ॥

त्रयोदश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर मन वाला)

देवता—१ अग्निः (परमात्मन्, अन्वार्य, अग्निः) २, ३ बृहस्पतिः (वेदाचार्य) ४, ५ विश्वे देवाः सब (विद्वाय या प्राण)

१ "मसत् ऋत्विङ् नाम [निघ० ३। १८]

२ "सप्त शीर्षण्याः प्राणाः" [ऐ० १। २। ३। ३]

३ "मकारलोपश्छान्दसः ।

आयुर्दा अग्ने जरसे ब्रह्मानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।

घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितैर्व पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥ १ ॥

(अग्ने) हे ज्ञान प्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! आचार्य ! यज्ञाग्नि ! (आयुर्दाः) तू आयु का दाता बनकर (जरसे वृषानः) जरावस्था पर्यन्त जीवन देने वाला (चारु घृतं मधु पीत्वा) सुन्दर मधुर शान्त स्तुति वाणीरूप तेज को पीकर अपने में समाकर (घृत-प्रतीकः-घृतपृष्ठः) तेज से प्रकाशमान तेज का स्पर्श कराने वाला हुआ (इमम्) इस नव ब्रह्मचारी को (अग्ने पिता-इव पुत्रान् रक्षतात्) पिता जैसे पुत्रों की रक्षा करता है ऐसे रक्षा कर ॥ १ ॥

परिं धत्त धत्त नो वचसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।

बृहस्पतिः प्रायच्छद् वासं एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ २ ॥

(नः) हमारे (इमम्) इस बालक ब्रह्मचारी को (परिधत्त) विद्वानों ! अपने आश्रय में रखो (वचसे धत्त) अपने ज्ञानमय तेज को धारण करो (जरामृत्युं दीर्घम्-आयुः कृणुत) जरा से मृत्यु वाला-न कि मध्य में जरा से पूर्व मरने वाला अकाल मृत्यु रहित करो (बृहस्पतिः-एतत्-वासः प्रायच्छत्) आप में जो वेदवाणी का स्वामी आचार्य इस ब्रह्मचर्य वस्त्र-वेश को प्रदान करे (सोमाय राज्ञे परि धातवै-उ) सोम-उत्पादक राजमान परमात्मा के लिये उसकी शरण में सुरक्षित रहने के लिये आश्रय बनाओ ॥ २ ॥

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।

शतं च जीवं शरदः पुरुची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥ ३ ॥

(इदं वासः) हे ब्रह्मचारिन् इस वस्त्र को (स्वस्तये परि-अधिथाः) कल्याण के लिये परिधान कर-पहिन (गृष्टीनाम्-अभिशस्तिपाः-उ-अभूः)

मनुष्यों-प्रजाओं की विनाशकप्रवृत्तियों से रक्षा करने वाला अवश्य हो (पुरुची शतं च शरदः-जीव) स्वयं बहुतेरे सौ वर्ष तक जीवित रह (रायः पोषं च-उपसंब्ययस्व) धन के ऐश्वर्य के पोष-आनन्द लाभ धारण कर ॥ ३ ॥

एष्यमानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तुनूः ।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ ४ ॥

(अश्मानम्-एहि) हे बालक ! तू पत्थर पर आ ठहर पत्थर समान कार्य में लग (ते तनूः-अश्मा भवतु) तेरी देह पत्थर हो जावे (विश्वे देवाः) सारे विद्वान् या प्राण (ते-आयुः) तेरी आयु को (शतं शरदः कृण्वन्तु) सौ वर्ष की करें ॥ ४ ॥

यस्य ते वासः प्रथमवास्यं हं हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः ।

तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम् ॥ ५ ॥

(यस्य ते) जिस तुझ ब्रह्मचारी के (ते प्रथमवास्यम्) जिस तेरे प्रमुख धारण करने योग्य वस्त्र को (हराम) हम लाते हैं (तं त्वा विश्वेदेवाः-अवन्तु) उससे तुझे विद्वान् सब सुरक्षित रखें (तं त्वा वर्धमानम्-सुजातम्-अनु) उस तुझ को अच्छे वर्धन करने वाले सुप्रसिद्ध हुए के अनुसार (सुवृधा बहवः भ्रातरः-जायन्ताम्) सुवर्धक बहुत भाई उत्पन्न हों-होते हैं ॥ ५ ॥

चतुर्दश सूक्त

ऋषिः—चातनः (दोषनाशक)

देवता—अग्निभूतपतीन्द्राः मन्त्रोक्ताः ।

निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् ।

सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः ॥ १ ॥

(निःसालाम्) निरन्तर गतिशील^१ अस्थिरता (घृष्णुम्) घर्षणप्रवृत्ति डराने वाली धमकी (घिषणम्) डांट डपटनी (एकवाद्याम्) एक बात की रट-हठवाली (जिघत्स्वम्) मारने की इच्छा (सदान्वा,) सदाचिल्लाने वाली-इन सब (चण्डस्य सर्वाः नप्यः) क्रोधी, क्रोध के अन्दर से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियों को (नाशयामः) हम नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षाभिरुपानसात् ।

निर्वो मगुन्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥

(मगुन्याः-दुहितरः) हे मन की क्रीडा^२ कामवासना की पुत्रियों या दुहने वाली बटाने वाली अन्यथा क्रीडा प्रवृत्तियों ! (वः) तुम्हें (गोष्ठात्-अक्षात् निरजामसि) इन्द्रियस्थानों से निकालते हैं स्वप्न में भी नहीं आने देते हैं^३ (उपानसात्-निः) उपयुक्त जीवन साधन खानपान से परे निकालते हैं काम वासना दूरकरने वाले खानपान के सेवन से^४ (वः-गृहेभ्यः-निः०) अपने घरों से घर की शोभा अन्यथा वासना प्रवर्तक भूषा पदार्थों से निकालते है । पुनः (चातयामसि) सर्वथा नष्ट करते हैं^५ ॥ २ ॥

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वरान्यः ।

तत्र सेदिन्यु च्यनु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

१ "षल गतो [भ्वादि०]

२ मन्यते येन तत्तमनः-मः+मन्-डः 'मनोविनोदित्यः' 'गुह क्रीडायाम्' [भ्वादि] नुम् छान्दसः ।

३ "अक्षः स्वप्नः" [मै० ३।६।३-]

४ "अनः-अनितेः-जीवनकर्माः" [निह० ११।४७]

५ "चातयति नाशने" [निह० ६।१०]

(असौःयः-अधरात्-गृहः) वह जो अधम नीच परिवार धर्मकर्म हीन है (तत्र) वहाँ (अराय्यः) अधनताएँ, निर्धनताएँ तथा कृपणताएँ^१ (सन्तु) हों-रहें (तत्र) वहाँ (सेदिः-न्युच्यतु) अक्साद-दीनता नियत समवेत हो-चिपटी रहे^२ (सर्वाः-च यातुधान्यः) और सारी यातना देने वाली-पीड़ा देवे वाली वृत्तियां रहें ॥ ३ ॥

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।

गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥ ४ ॥

(सदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली, हाय हाय करने वाली प्रवृत्तियों या जातियों को (भूतपतिः-च-इन्द्रः) गृहपति-गृहस्थ^३ तथा राजा (इतः-निरजत) इस अपने घर से तथा राष्ट्र से निकाल दे (गृहस्य बुध्ने-आसीनाः-ताः-इन्द्रः-वज्रेण-अधितिष्ठतु) घर के परिवार के मूल में स्वभाव में रहने वालियों उन सबको राजा दण्ड से स्वाधिकार में ले ॥ ४ ॥

यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः ।

यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ५ ॥

(सदान्वाः) हे सदा चिल्लाने चलाने वाली प्रवृत्तियो ! तुम (यदि क्षेत्रियाणां स्थ) यदि जन्म के दोषों की-मातापिता सम्बन्धी दोषों की रोगों की हो (वा यदि पुरुषेषिताः) और यदि अन्य पुरुषों से आई हुई संसर्ग वाली हो (यदि-दस्युभ्यः-जाताः-स्थ) यदि तुम उपक्षयकारी विरोधी जनों से-

१ “रा दाने” [तुदादि०] ततो धन्-रायः-धनं मतुपि ईः-छान्दसः “छन्दसी-वनिपौ....” [अष्टा० ५।२।१०९] वार्त्तिकम् ।

२ “षट्क विशरणगत्यवसादनेषु” [भ्वादि] ततः किः प्रत्ययः ।
एत्वाभ्यासलोपो “किनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्” [अष्टा० ३।२।१७१] वार्त्तिकम् ।

३ “भूतानां पतिर्गृहपतिः” [षा० ६।१।३।७]

उत्पन्न हुई-विषकृत हो (इतः-नश्यत) यहाँ से नष्ट हो जाओ-दूर हो जाओ
॥ ५ ॥

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठाभिवासरन् ।

अजैषं सर्वांनाजीन् वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ६ ॥

(आशुः-गाष्ठाम्-इव) घोड़ा जैसे अपनी गमनस्थली को परिप्राप्त हो जाता है ऐसे (आसां धामानि परि-असरम्) मैं इनके स्थानों-मूल कारणों को परिप्राप्त करता हूँ-पहुँच जाता हूँ (सदान्वाः) चिल्लाने वाली प्रवृत्तियों ! (वः सर्वांश्च-आजीन् अजैषम्) तुम्हारे मारे आक्रमण स्थलों को मैंने जीत लिया स्वाधीन कर लिया,-जीत लेता-स्वाधीन कर लेता हूँ, अतः (इतः-नश्यत) यहाँ से नष्ट हो जाओ-दूर हो जाओ ॥ ६ ॥

पञ्चदश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (ब्रह्माण्डवेत्ता)

देवता—प्राणः (प्राण)

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥

(यथा द्यौः-च पृथिवी च) जैसे द्युलोक पृथिवी लोक (न बिभीतः-न रिष्यतः) न भय करते हैं अतः हिंसित नष्ट नहीं होते हैं या किसी को पीडित नहीं करते हैं अतः भय नहीं करते हैं (एवा मे प्राण मा बिभेः) ऐसे ही मेरे प्राण जीवन तत्त्व तू भी भय न कर हिंसित न होगा अथवा तू हिंसित नहीं करता है किन्तु जीवन देता है अतः भय नहीं कर ॥ १ ॥

यथाश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ २ ॥

(यथा-ग्रहः-च रात्री च) जैसे दिन और रात्रि (न बिभीतः-न रिष्यतः) नहीं डरते हैं अतः हिंसित नहीं होते हैं अथवा हिंसित नहीं करते हैं अतः भय नहीं करते हैं (एवा मे...) पूर्ववत् ॥ २ ॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ३ ॥

(यथा सूर्यः-च चन्द्रः-च) जैसे सूर्य और चन्द्र भी (न बिभीतः-न रिष्यतः) भय नहीं करते हैं अतः हिंसित नहीं होते हैं अथवा हिंसित नहीं करते हैं अतः भय नहीं करते हैं (एवा मे.....) पूर्ववत् ॥ ३ ॥

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ४ ॥

(यथा ब्रह्म च क्षत्रं च) जैसे ब्रह्मज्ञान और क्षात्रबल भी (न बिभीतः-न रिष्यतः) न भय करते न हिंसित होते हैं अथवा न हिंसित करते हैं अतः भय नहीं करते हैं (एवा मे प्राण.....) पूर्ववत् ॥ ४ ॥

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ५ ॥

(यथा सत्यं च-अनृतं च) जैसे सत्य और अनृत भी (न बिभीतः-न रिष्यतः) न भय करते हैं न हिंसित होते हैं अथवा हिंसित नहीं करते हैं अतः भय नहीं करते हैं अतः भ्रम नहीं करते हैं (एवा मे प्राण...) पूर्ववत् ॥ ५ ॥

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

(यथा भूतं च भव्यं च) जैसे भूत-गत काल और भविष्यत्काल भी (न बिभीतः-न रिष्यतः) न भय करते हैं न हिंसित होते हैं अथवा न हिंसित करते हैं अतः न भय करते हैं (एवा मे प्राण मा बिभेः) पूर्ववत्

षोडश १६ वां सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (ब्रह्मण्डजाता)

देवता—१ प्राणापानी (श्वास प्रश्वास) २ द्यावापृथिवी (द्युलोक प्रतिरोध ३ सूर्यः (सूर्य) ४ अग्निः (जाठर अग्नि) ५ विश्वम्भरः (विश्व का भरण पोषण करने वाला ईश्वर)

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

(प्राणापानी) हे श्वास प्रश्वास ! तुम (मृत्योः-मा पातम्) मृत्यु-अकाल मृत्यु से मेरी रक्षा करो यह सुवचन है ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

(द्यावापृथिवी) हे द्युलोक पृथिवी लोक ! तुम (उपश्रुत्या भा पातं स्वाहा) उपयुक्त श्रवण से मेरी रक्षा करो, यह आन्तरिक कथन है ॥ २ ॥

सूर्यं चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥

(सूर्य) हे सूर्य ! तू (चक्षुषा) नेत्र दृष्टि से (मा पातं स्वाहा) मेरी रक्षा कर, अच्छा कथन है ॥ ३ ॥

अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥

(अग्ने वैश्वानर) हे विश्व का भरण पोषण करने वाले जाठर अग्नि ! तू (विश्वैः-मा पाहि स्वाहा) सब इन्द्रियों से मेरी रक्षा कर, यह अच्छा कथन है ॥ ४ ॥

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

(विश्वम्भर) हे सब संसार के भरण पोषण करने वाले परमात्मन् ! (तू विश्वेन भरसा) सारे भरण पोषण प्रकार से (मा पाहि स्वाहा) मेरी रक्षा कर यह अच्छा कथन है ॥ ५ ॥

सप्तदश १७ वां सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (ब्रह्मज्ञानी)

देवता—भोजः प्रभृतीनि (मन्त्र पठित भोज आदि)

भोजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ ६ ॥

परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

(भोजः-असि-भोजः-मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू भोजोरूप-ज्ञान बलरूप हैं मेरे लिये ज्ञान बल दे यह अच्छी प्रार्थना है ॥ १ ॥

(सहः-असि सहः-मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू साहसपूर्ण है मेरे लिये साहस दे, अच्छी प्रार्थना है ॥ २ ॥

(बलम्-असि बलं मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू बलस्वरूप है मेरे लिये बलदे, अच्छी प्रार्थना है ॥ ३ ॥

(आयुः-असि-आयुः-मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू जीवनस्वरूप है, जीवन मेरे लिये दे यह अच्छी प्रार्थना है ॥ ४ ॥

(श्रोत्रम्-असि-श्रोत्रं मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू श्रवणशक्ति है, श्रवण शक्ति मेरे लिये दे, अच्छी प्रार्थना है ॥ ५ ॥

(चक्षुः-असि चक्षुः-मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू दर्शनशक्तिरूप है, दर्शनशक्ति मेरे लिये दे, अच्छी प्रार्थना है ॥ ६ ॥

(परिपाणम्-असि परिपाणं मे दाः स्वाहा) परमात्मन् ! तू परिपालन समर्थ है, परिपालन मेरे लिये दे अच्छी प्रार्थना है ॥ ७ ॥

अष्टादश १८ वां सूक्त

ऋषिः—चातनः (रोग भयनाशक विद्वान्)

देवताः—अग्निः (परमात्मा या राष्ट्र नाशक राजा)

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

पिशुचक्षयणमसि पिशुचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

(भ्रातृव्यक्षयणम्-असि) हे परमात्मन् या अपने राष्ट्र नायक राजन् ! तेरे में ईर्ष्यारूप विरोधी भाव या ईर्ष्यालु जन का नाशक बल है (भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा) मेरे लिये ईर्ष्यालुभाव या ईर्ष्यालु जन का नाशक बल दे, यह अच्छा कथन है ॥ १ ॥

(सपत्नक्षयणम्-असि) तेरे में अन्य जनों में रहने वाले द्वेषभाव या द्वेषी जन का नाशक बल है (मे सपत्नचातनं दाः स्वाहा) मेरे लिये द्वेष भाव या द्वेषी को नष्ट करने का बल दे, यह अच्छी प्रार्थना है ॥ २ ॥

(अरायक्षयणम्-असि) तेरे में न देने अपितु छीन लेने कार्पण्य-चौर्यभाव या कृपण चोर को नष्ट करने का बल है (मे-अरायचातनं दाः स्वाहा) मेरे लिये कृपण भाव स्तेय या कृपण-चोर के नष्ट करने का बल दे

(पिशाचक्षयणम्-असि) तेरे में मांस खाने वाले शोक या शोक देने वाले को नष्ट करने का बल है (मे पिशाचचातनं दाः स्वाहा) मेरे लिये मांस खाने वाले शोक या शोक देने वाले जन को नष्ट करने का बल दे, यह अच्छी प्रार्थना है ॥ ४ ॥

(सदान्वाक्षयणम्-असि) हे परमात्मन् तेरे अन्दर या राजन् तेरे में सदारुलाने वाले भय या भयप्रद के नष्ट करने का बल है (मे सदान्वाचातनं दाः स्वाहा) मेरे लिये सदारुलाने वाले भय या भय प्रद जन को नष्ट करने का बल दे यही अच्छी प्रार्थना है ॥ ५ ॥

एकोनविंश १९ वें सूक्त से त्रयोविंश २३ वें सूक्त तक

देवताः—अथर्वा (स्थिर-योगीजन)

ऋषिः—१९ अग्निः, २० वायुः, २१ सूर्यः, २२ चन्द्रः, २३ आपः ॥

१९

अग्ने यन् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्म ॥१॥

” ” ” हरस्तेन ” ” हर ” ” ” ” ” ॥२॥

” ” ” तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च ” ” ” ” ” ॥३॥

” ” ” शोचिस्तेन ” प्रति शोच ” ” ” ” ” ॥४॥

” ” ” तेजस्तेन तमतेजसं कृणु ” ” ” ” ” ॥५॥

२०

वायो यन् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

” ” ” हरस्तेन ” ” हर ” ” ” ” ” ॥२॥

” ” ” तेऽर्चिस्तेन ” प्रत्यर्च ” ” ” ” ” ॥३॥

” ” ” ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच ” ” ” ” ” ॥४॥

” ” ” ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु ” ” ” ” ” ॥५॥

२१

सूर्य यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

” ” ” हरस्तेन ” ” हर ” ” ” ” ” ॥२॥

” ” तेऽर्चिस्तेन ” प्रत्यर्च ” ” ” ” ” ॥३॥

” ” ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच ” ” ” ” ” ॥४॥

” ” ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु ” ” ” ” ” ॥५॥

२२

चन्द्र यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

” ” ” हरस्तेन ” ” हर ” ” ” ” ” ॥२॥

” ” तेऽर्चिस्तेन ” प्रत्यर्च ” ” ” ” ” ॥३॥

” ” ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच ” ” ” ” ” ॥४॥

” ” ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु ” ” ” ” ” ॥५॥

२३

आपो यद् वस्तपस्तेन तं प्रति तपत योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

” ” वो हरस्तेन ” ” हरत ” ” ” ” ” ॥२॥

” ” ”ऽर्चिस्तेन ” प्रत्यर्चत ” ” ” ” ” ॥३॥

” ” वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत ” ” ” ” ” ॥४॥

” ” वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत ” ” ” ” ” ॥५॥

वक्तव्य—इन पांच सूक्तों के पृथक्-पृथक् देवता हैं क्रमशः अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, आपः-जल । प्रत्येक देवता के गुण 'तपः, हरः, अर्चि, शोचिः, तेजः' कहे गये हैं । यास्कीयनिघण्टु में "अर्चिः, शोचिः, तपः, तेजः, हरः-ज्वलतो नामधेयानि" [निघ० १ । १७] एक ही ज्वलन अर्थ में दिये हैं, ये

अग्नि सूर्य में तो घट सकते हैं वायु, चन्द्र, आपः-जल में नहीं, अग्नि, सूर्य में भी एकार्थ का फल नहीं या फलित नहीं-चरितार्थ नहीं होते हैं । उनमें भी तब भिन्न-भिन्न अर्थ में लिये जा सकते हैं । वायु, चन्द्र, आपः-जल में इनकी स्थिति सन्दिग्ध है । पांचो सूक्तों या पांचों देवताओं में इनकी योजना के दो प्रकार हो सकते हैं, जिनमें प्रथम प्रकार तो यह है कि इन पांचों सूक्तों को एक वाक्यता दी जावे, पांचों देवताओं में पांचो गुणों को एक एक में क्रमशः लिया जावे । अग्नि में तपः, वायु में हरः, सूर्य में अर्चिः, चन्द्र में शोचिः, आपः-जल में तेजः । तब अर्थ इस प्रकार होंगे—

अग्ने यत् ते तपस्तेन ते प्रति तप योऽश्मान् द्वेष्टि

य वयं द्विष्मः ॥ १९ । १ ॥

हे अग्नि या अग्रणायक परमात्मन् ! जो तेरा तपः-ज्वलन या भस्मीकरण बल है उससे उसे प्रतीकार में तपा दग्धकर जो हम उपासकों से द्वेष करता है जिसे हम उपासक द्वेष करते हैं ॥ १९ । १ ॥

वायो यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽश्मान् द्वेष्टि

यं वयं द्विष्मः ॥ २० । २ ॥

हे वायु या जीवनप्रद परमात्मन् ! जो तेरा हरणबल-प्रहार बल उससे उसे प्रतीकार में प्रहृत कर-आघात पहुंचा जो हम उपासकों के प्रति द्वेष करता है, हम जिससे द्वेष करते हैं ॥ २० । २ ॥

सूर्य यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽश्मान् द्वेष्टि

यं वयं द्विष्मः ॥ २१ । ३ ॥

हे सूर्य या ज्ञानप्रकाशक परमात्मन् तेरा जो अर्चिः-रश्मि ज्ञान तेज है उससे उस प्रतीकार में तापित कर-गरमकर या पश्चाताप दण्ड दे जो हम उपासकों के प्रति द्वेष करता है हम उपासक जिससे द्वेष करते हैं ॥ (२१ । ३)

चन्द्र यत् ते शोचिःतेन तं प्रति शोच योऽस्मान् द्वेषिः

यं वयं द्विष्मः ॥ २२ । ४ ॥

हे चन्द्र या आह्लादक परमात्मन् ! जो तेरा पवित्र शान्त बल है उससे उसे प्रतीकार में पवित्र-शान्त कर जो हम उपासकों के प्रति द्वेष करता है जिससे हम द्वेष करते हैं ॥ (२२ । ४)

आपो यद् वग्तेजःतेन तमतेजसं कृणु गोऽस्मान् द्वेषिः

यं वयं द्विष्मः ॥ २३ । ५ ॥

हे आपः-जल या व्यापक परमात्मन् जो तेरा तेज^१ ताडन बल है उससे उसे प्रतीकार में ताडित कर जो हम उपासकों के प्रति द्वेष करता है जिससे हम उपासक द्वेष करते हैं ॥ (२३ । ५)

द्वितीय प्रकार है—

पांचो सूक्तों में दिये पांचो देवताओं के अन्दर पांच पांच गुण या बल हैं 'तपः, हरः, अचिः, शोचिः, तेजः' भिन्न भिन्न अभिप्राय से जो कि—

तपः—“तप ऐश्वर्ये” [दिवादि०] ‘तप सन्तापे’ [भ्वादि०]

‘तप दाहे’ [चुरादि०]

हरः—“ह संवरणे” [भ्वादि०] “ह प्रसह्य करणे” [जुहो०]

“हृत् हरणे” [भ्वादि०]

अचिः—“अर्च पूजायाम्” [भ्वादि०]

शोचिः—“शुच शोके” [भ्वादि०] “शुचिर् पूतीभावे (दिवादि०)

तेजः—“तिज निशाने” [भ्वादि०]

१ “अप्सु तेजः प्रातिष्ठत्” [का० ३ । ४ । २]

१९ वें सूक्त में—

हे अग्नि ! जो हम उपासकों से द्वेष करता है हम उपासक जिससे द्वेष करते हैं तू अपने तप दाहक बल से उसे दग्ध कर, अपने हर-संवरण धर्म से अपने अन्दर ले ले, अपने अर्चि पूजा कराने वाले गुण से उससे पूजा करा, आस्तिक बना, अपने तेजः-तीक्ष्ण बल से दण्ड दे ॥ १९ ॥

२० वें सूक्त में—

हे वायु ! जो उपासकों के प्रति द्वेष करता, हम उपासक जिससे द्वेष करते हैं तू उसे अपने तपः-ऐश्वर्य से आक्रान्त कर, अपने हरः-प्रहार कर, अपने अर्चिः-पूजाकराने वाले-उससे पूजा करा, अपने तेजः तीक्ष्ण प्रगति से उस पर प्रगति कर-स्वाधीन कर ॥ २० ॥

२१ वां सूक्त—

हे सूर्य ! जो हम उपासकों के प्रति द्वेष करता, हम उपासक जिसमें द्वेष करते हैं तू उसे अपने तपः-सन्ताप-उग्रताप से सन्तप्त कर, अपने हरः-अपने में संवरण करने वाले धर्म से हरण कर-अपने अन्धकार की भांति, अपने अर्चिः-पूजा मान कराने वाले बल से उससे पूजा करा-आस्तिक बना, अपने शोचिः-पवित्र कराने वाले बल से उसे पवित्र बना, अपने तेजः-तीक्ष्ण रश्मिप्रकाश डालकर निस्तेज बना ॥ २१ ॥

२२ वां सूक्त—

हे चन्द्र ! जो हम उपासकों से द्वेष करता है, हम उपासक जिससे द्वेष करते हैं तू अपने तपः-शान्त ऐश्वर्य से शान्त कर, अपने हरः-संवरण धर्म से ठण्डा कर, अपने पूजनीय गुण से पूजा करा-आस्तिक बना, अपने शोकहर प्रभाव से शोक ईर्ष्या द्वेष से पृथक् कर, अपने तेजः-तीक्ष्ण ठण्ड बरसाने से निस्तेज कर ठण्डा कर ॥ २२ ॥

२३ वां सूक्त—

हे आपः—जल जो हम उपासकों के प्रति द्वेष करता है हम जिससे द्वेष करते हैं तू उसे अपने तपः—ऐश्वर्य स्नान से—ऐश्वर्य के अधीन कर, अपने हरः—हरने वाले दोष दूरीकरण धर्म से दोषरहित कर, अपने अग्नि अर्चन साधन शान्त स्वभाव से शान्त कर—आस्तिक बना, अपने शोचिः—पवित्र करने वाले धर्म से पवित्र कर, अपने तेजः—तीक्ष्ण ठण्ड से निस्तेज कर—जकड़ डाल ॥२३॥

चतुर्विंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (मनस्वी विद्वान्)

देवता—आयुः (जीवन)

शेरभक् शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥१॥

शेवृधक् शेवृध पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥२॥

म्रोकानुम्रोक् पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥३॥

सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥४॥

जूणि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥५॥

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥६॥

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥७॥

भरुंजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥८॥

(शेरभ शेरभक) हे हिंसक तथा कुत्सित हिंसक जन^१ अकारण हिंसा करने वाले जन ! (वः) तुम्हारे (यातवः) यातना देने वाले साथी (पुनः-यन्तु) पीछे चले जावें-लौट जावें (हेतिः पुनः) शस्त्र पीछे चले जावें-कुण्ठित हो जावें (किमीदिनः) अब क्या क्या अनर्थ करें यह सोचने वाले भी पीछे हट जावें (यस्यस्थ) जिसके तुम हो उसे तुम खाओ-सताओ (यः-वः प्राहैत्) जो तुम्हें भेजता है (तम्-अत्त) उसे खाओ (स्वा मांसानि-अत्त) अपने मांस खाओ हमारे अन्दर घुसकर हमें मत खाओ ॥१॥

(शेषवृध शेषवृधक) सोने वाले पर आक्रमण और उनके पीछे चलने वाले शेष पूर्ववत् ॥ २ ॥

(ओकानुओक) हे चौर और चौरों के पीछे चौर डाकू तुम-आगे पूर्ववत् ॥ ३ ॥

(सर्पानुसर्प) हे विषधर के समान विषप्रद अधिक विषधर की भांति आघातकारी-शेष पूर्ववत् ॥ ४ ॥

(जूणिः) हे ज्वरित पीड़ित करने वाले^२ शेष पूर्ववत् ॥ ५ ॥

१ "शु हिंसायाम्" [ऋचादि] ततः "कृशुशलिकलिर्गादिभ्योऽभच्" [उणादि० ३ । ११२] एकारादेशश्छान्दसः ।

२ "वीज्याज्वरिभ्यो निः" [उणादि० ४ । ४८]

(उपब्धि) हे उपवदनशील ' अन्यथा बोलने चिल्लाने-चिल्लाकर
डराने वाली ! शेष पूर्ववत् ॥ ६ ॥

(अर्जुनि) हे मयूरी ! जैसे प्रिय भाषी बहुरूपी-शेष पूर्ववत् ॥ ७ ॥

(भरुजि) हे भूजने वाले म्रग्याचारी ! शेष पूर्ववत् ॥ ८ ॥

पञ्चविंश सूक्त

ऋषिः—चातनः (रोगभय नाशक)

देवता—पृश्निपर्णी ।

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यंशं निर्ऋत्या अकः ।

उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम् ॥१॥

(पृश्निपर्णी देवी) पृश्निपर्णी दिव्यगुणा ओषधि (नः) हमारे लिये
(शम्-अकः) सुख-स्वास्थ्य करती है-देती है (निर्ऋत्यै) रोगरूप कृच्छ्रा-
पत्ति के लिये (अशम्-अकः) प्रतिरोध करती है-उसका क्षेम करती है
(उग्रा हि कण्वजम्भनी) वह अवषय रक्त निमीलन, रक्तस्राव चवक रोग या
पापरोग को नष्ट करने वाली है (तां सहस्वतीम्) उस रोगों का तिरस्कार
करने वाली ओषधि को (अभक्षि) मैं खाता हूँ-सेवन करता हूँ ॥ १ ॥

सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत ।

तयाह दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनैरिव ॥२॥

(इयम्) यह (पृश्निपर्णी) पृश्निपर्णी ओषधि (सहमाना) रोगों
को तिरस्कृत करने वाली (प्रथमा) मुख्यरूप (अजायत) उत्पन्न हुई है

(तथा) उसके द्वारा (ग्रहम्) में (दुर्गाम्नाम्) विविध अशरोग-बवासीर रोग के (शिरः) शिर को- (शकुनेः-इव) पक्षी के शिर की भांति (वृक्षचामि) काटता हूँ^२ ॥ २ ॥

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फाति जिहीर्षति ।

गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥३॥

(अरायम्) न जीवनरस देने वाले अपितु जीवनरस लेने वाले क्षयरोग (असृक्पावानम्) रुधिर पीने वाले रोगकृमि को (च) और (यः) जो (स्फाति जिहीर्षति) शरीरवृद्धि-पुष्टि को जो हरना चाहता है, उसे ऐसे (गर्भादम्) गर्भखाने वाले (कण्वम्) निमीलन सा करने चक्क चक्क करने वाले रोग या रोगजन्तु कृमिभूत रोग को (पृश्निपर्णी) पृश्निपर्णी ओषधि ! तू (नाशय) नष्ट कर (च) और (सहस्व) अपना स्वास्थ्य रूप प्रभाव जमा ॥ ३ ॥

गिरिमेनाँ आ वैशय कण्वाञ्जीवितयोपनान् ।

तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यगिरिवानुदहन्निहि ॥४॥

(पृश्निपर्णि देवी) हे पृश्निपर्णी दिव्य ओषधि ! (त्वम्) तू (एनेनान् जीवितयोपनान् कण्वान्) इन जीवित गर्भ को नष्ट करने वाले कृमिभूत रोगों को (गिरिम-आवेशय) पर्वत पर पहुंचादे-ऊंचे उड़ादे-छिन्न भिन्न करदे-पर्वत पर जाने पर यह कृमिरोग या रोग कृमि नष्ट हो जाते हैं ऐसा भी ध्वनित होता है (तान्-अग्निः-इव दहन्) उन्हें अग्नि की भांति जलाती हुई (इहि) प्राप्त हो-उपयुक्त हो ॥ ४ ॥

१ “दुर्गामा अशरोगे [राजनिघण्टो]

“दुर्गाम्नीः-अशरोगे” [श० २० वैद्यक शब्द सिन्धकोषे]

२ “अवाक्पुष्पी बलादर्वी पृश्निपर्णी त्रिकण्टकः.....एतदशः स्वतिसारे रक्तसावे त्रिदोषने [चरके-अशरोग चिकित्सा प्रकरणे]

पराच एनान् प्र णुद कण्वाञ्जीवितयोपनान् ।

तर्मांसि यत्र गच्छन्ति तत् क्रव्यादो अजीगमम् ॥५॥

(एनान् जीवितयोपनान् कण्वान्) इन जीवित गर्भघातक रोगकृमियों को (पराचः-प्रणुद) दूर भगा (यत्र तर्मांसि गच्छन्ति) जहाँ अन्धेरे प्राप्त रहते हैं (तत्) उस स्थान को (क्रव्यादः) उन कच्चे मांस के खाने वाले कृमियों को (अजीगमम्) मैं पहुँचाता हूँ तेरे द्वारा चिकित्सा कर भगाता हूँ

॥ ५ ॥

पृश्निपर्णी विविध अर्श आदि कृमि रोगों, गर्भक्षय कारक कृमियों को, नष्ट करने के लिये उपयोगी है, अन्यत्र कहा भी है^१ ॥

षड्विंश सूक्त

ऋषिः—सविता (ऐश्वर्यवान् पशु या सम्पत्ति मान्)

देवता—पशवः (गवादि पशु)

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्षेष्वा सहचारं जुजोष ।

त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् ।

गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥१॥

(ये पशवः परा-इयुः) जो गवादि पशु गोशाला से परे जङ्गल में गए-जाते हैं (येषां सहचारं वायुः-जुजोष) जिनके सहचरण-साहचर्य-साथ में रहन सहन को ऋषभ साण्ड^२ प्रेम से सेवन करता है वे गवादि पशु (इह-

१ “पृश्निपर्णी बला शिशुः श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका” [योगरत्नाकर, स्त्रीगर्भ रोगचिकित्सा ३] “गोक्षुरे शिशुं मधुकं प्रश्निपर्णिकाम् बलायुक्तं पिबेत् पिष्ट्वा गोदुग्धैः षष्ठ मासके” [कामरत्न गर्भरक्षा १०]

२ “ऋषभोऽसिशाकवरो वायुर्जन्मना” [काठ० १। ११]

आयन्तु) यहाँ गोशाला में-हमारे गोस्थान में आ जावे (येषां रूपद्वेषानि त्वष्टा वेद) जिनके रूपः-स्वरूप विज्ञानों को कुशल गोपाल पशु विशेषज्ञ जानता है (तान्-अस्मिन् गोष्ठे सविता नियच्छतु) उन्हें इस गोस्थान में पशुस्वामी सुरक्षित नियमन में रखे ॥ १ ॥

इमं गोष्ठं पशवः सं संवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन् ।

सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥२॥

(इमं गोष्ठं पशवः सं संवन्तु) इस गोस्थान यजमान घर को गवादि दूध से संस्रवित करें-भरपूर करें (बृहस्पतिः प्रजानन्-मानयन्तु) गोपालक पशुओं की वाणी का पति होता हुआ हावभाव-पुचकार करता हुआ अपनी अनुकूलता में लावे (एषाम्-आजग्मुषः) इनमें आने वाले-आये हुए पशुओं को (सिनीवाली-अग्रम्-अनयतु) अन्नवाली-दाने चारे वाली-दाना चारा लिये हुए गृहवती अन्नवाली घासवाली सामने अपनी ओर पशुओं को लावे बुलावे (अनुमते नि यच्छ) हे अनुमतिकारी-विचारवाली या पृथिवी ! अपने में नियन्त्रित करे ॥ २ ॥

सं सं संवन्तु समश्वाः पशवः समु पूरुषाः ।

सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥३॥

(पशवः सं संवन्तु) गवादिपशु हमें सम्प्राप्त हों (अश्वासःम्) घोड़े संप्राप्त हो (पुरुषाः सम्-उ) पुत्रादि जन भी सम्प्राप्त हों (धान्यस्य

१ "त्वष्टा पशूनां मिथुनानां रूपकृत्" [तै० २।५।७।४]

२ "अन्तर्गतं णिजयः"

३ "यासां बृहस्पतिरुदाजतेडा नाम रूपं पशाः संगवं धाम पश्यमानः [मै० ४।२।११]

४ "सिनम्-अन्नम्" [निघ०] तद्वती "योषा वै सिनीवाली" [ष० ६।५।१।१०]

५ "इयं पृथिवी वा अनुमतिः" [मै० ४।३।१]

स्फातिः सम्) गेहूँ चावल आदि अन्न की वृद्धि भी सम्प्राप्त हो (संसाव्येण हविषा जुहोमि) सम्प्राप्त होने योग्य घृतादि से होम करूँ ॥ ३ ॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।

संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४॥

(गवां क्षीरं संसिञ्चामि) गीओं का दूध खाद्य पात्र में डालता^१ हूँ पुनः (आज्येन बलं रसं सं०) घृत से बलकारी अन्नादि ओषधि रस गुच्छे को या सोमरस^२ को सींचता हूँ विशेष पाक बनाता हूँ (अस्माकं वीरः संसिक्ताः) हमारे प्राण^३ तृप्त हों, अतः (मयि गोपतौ गावः-ध्रुवाः) मुझ गोस्वामी के आश्रय गीएँ स्थिर सदा बनी रहें ॥ ४ ॥

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं^१ रसम् ।

आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥५॥

(गवां क्षीरम्-आहरामि) गीओं के दूध को प्राप्त किया-करता हूँ (धान्यंरसम्-आहार्षम्) अन्न रस की भी प्राप्त करता हूँ (अस्माकं वीराः-आहृता) अपने पुत्रों को प्राप्त किया करता हूँ^४ (पत्नीः-आ अस्तकम्) पालने योग्य स्त्री बहिन आदियों को तथा घर को प्राप्त किया करता हूँ ॥ ५ ॥

१ "षिच क्षरणे" [तुदादि०]

२ "रसः सोमः" [श० ७।२।१।३]

३ "प्राणा वै दश वीराः" [श० ९।१।१।१०]

४ "पुत्रो वै वीरः" [श० ३।१।१।१२]

सप्तविंश सूक्त

ऋषिः—कपिञ्जलः (कमनीय-स्वास्थ्य का, भाषणकर्ता, निकाय शरीर स्थान बनाने वाला चिकित्सक)

देवताः—१-५ ओषधिः ६. रुद्रः (अग्नि) ७ इन्द्रः (राजा)

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥१॥

(ओषधे) हे पाटा^२ ओषधि ! तू (सहमाना) संग्राम में उपयुक्त सहनशक्ति की मूर्ति तथा (अभिभूः) पराक्रम की स्फूर्तिप्रदा (असि) है तेरे उपयोग से (शत्रुः) शत्रु (प्राशम्) हमारे प्रकृष्ट सङ्घ-व्यूहविशेष युक्त सेना सङ्घ को^३ (न-इत्) न कदापि (जयाति) जीत सके (प्राशं प्रति प्राशः) हमारे सेना सङ्घ पर शत्रु के सेना सङ्घों को (जहि) मार (अरसान् कृणु) उन्हें रस हीन सार हीन-निर्बल करदे ॥ १ ॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्सा ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥२॥

(सुपर्णः) सुपर्ण-पक्षीविशेष ने (त्वा-अन्वविन्दत्) तुझे पहचाना (सूकरः) जङ्गली सुअर ने (त्वा) तुझे (नसा) अपनी हूँट से (अखनत्) खोदा, उस-ऐसी ओषधि के उपयोग प्रयोग से हमारे सेना संघ पर आक्रमणकारी शस्त्रसेनासंघ को नष्ट कर उन्हें निर्बल कर ॥ २ ॥

१ “कपिञ्जलः कमनीयं पिञ्जयति” [निरु० ३ । १८]

“पिञ्जिभाषार्थं, निकेतने च” [चुरादि०]

२ “चतुर्थं मन्त्रे

३ “अशूङ् संघाते च” [स्वादि०]

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्वरसान् कृण्वोषधे ॥३॥

(इन्द्रः-ह) इन्द्र राजा ने निश्चय (त्वा) तुझे (बाहौ) भुजा-हाथ में (चक्रे) स्वाधीन किया प्राप्त किया (असुरेभ्यः-स्तरीतवे) असुरों से बचाव के लिये^१ आगे पूर्ववत् ॥ ३ ॥

पाटामिन्द्रो व्याश्रादसुरेभ्य स्तरीतवे ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्वरसान् कृण्वोषधे ॥४॥

(इन्द्रः) राजाने (पाटाम्) तुझ पाटा ओषधि को (व्याश्रात) विशेष रूप से खाया सेवन किया (असुरेभ्यः-स्तरीतवे) असुरों से बचाव करने को-शेषपूर्ववत् ॥ ४ ॥

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्वरसान् कृण्वोषधे ॥५॥

(अहम्) मैं (तया) उस पाटा ओषधि से (शत्रून्) शत्रुओं को (साक्षे) सह (इन्द्रः सालावृकान्-इव) विद्युतने निजशाला कक्षा में होने वाले जल जलरोधक मेघों को निर्बल किया-आगे पूर्ववत् ॥ ५ ॥

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत् ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्वरसान् कृण्वोषधे ॥६॥

(जलाषभेषज) हे सुखकर^२ स्वास्थ्यप्रद भेषज करने वाले (नील-शिखण्ड) नीलरंगशिखावाले (कर्मकृत्) प्रतीकार कर्म करने वाले (रुद्र) हे अग्नि^३ और ओषधि तू शेष पूर्ववत् ॥ ६ ॥

१ "स्तृज् आच्छादन" | स्वादि० |

२ "जलाषं सुखनाम" निघ० ३।६ |

३ "अग्निर्वै रुद्रः" [श० ५।३।१।१०]

तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति ।

अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥७॥

(इन्द्र) हे इन्द्र-राजन् ! (यः) जो (नः) हमें (अभिदासति) तिरस्कृत करता है नष्ट करता है (तस्य) उस शत्रु के (प्राशं जहि) सेनासङ्घ को नष्ट कर तथा (शक्तिभिः) शक्तियों के द्वारा (नः) हमें (अधि ब्रूहि) आश्वासन दे-धैर्य साहस दे (माम्) मुझे (उत्तरं प्राशिः) उत्कृष्ट शत्रु की अपेक्षा से बढ़कर सेना सङ्घ बाल्यः (कृधिः) कर ॥ ७ ॥

पाठा ओषधि युद्ध में आघात-घावों को भरने वाली है, इसके स्वरस का पान-घाव पर लुगदी लगाने-लेप करने से घाव भर जाता है रसपान से थकान दूर होकर साहस प्राप्त होता है । पाठा को व्रण नाशक आयुर्वेद में कहा भी है—

“पाटोष्णा कटुकातीक्ष्णा वातश्लेष्महरी लघुः ।

हन्तिशूलज्वरधर्दि कुष्ठातिसारहृदरुजः ।

दाह कण्डू विषश्वास कृमि गुल्मगरवृणान् ॥”

(भावप्रकाश निघण्टु)

अष्टाविंश सूक्त

ऋषिः—शम्भूः (शम्भू-भावयिता-कल्याणकर्ता)

देवता—१, ३ जरिमा, आयुः, २ मित्रावरुणौ, ४, ५ द्यावा-पृथिव्यादयः ।

तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेमन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये ।

मातेव पुत्रं प्रमेना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात् पात्वंहसः ॥१॥

(जरिमत्) हे आयु के अन्तकरने वाली वृद्धावस्था ! (अयम्) यह ब्रह्मचारी (तुम्यम्-एव वर्धिताम्) तैरे लिये तुझ जरावस्था तक बहुवने के लिये आयु में अज्ञान जन्म (इवम्) इसकी (अन्धे धे शस्त्रं मृत्युवः) जरा से पूर्व और जो सैकड़ों मृत्युए (मा-हिसिषुः) मत मारें (मित्रः-एव) काल का प्रेरक-मापक सूर्य ही-परमात्मा ही (प्रमनाः) प्रकृष्ट मनः शक्ति देने वाला या प्रसन्न मन सा हुआ परमात्मा (माता-इव पुत्रम्-उपस्थे) माता की भाँति पुत्र को अपने उपाश्रय में संरक्षण में (एनं-मित्रियात्-अंहसः पातु) इसको तुझमित्रविरोधी पाप से-आचरण से बचावे, ऐसा आचरण न कर सके जो परमात्मा के आदेश को तोड़कर अपमृत्युओं को प्राप्त करे ॥ १ ॥

**मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरा मृत्युं कृणुतां संविदानौ ।
तदभिहोता वयुमानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥२॥**

(एनम्) इस ब्रह्मचर्य सम्पन्न संयमी जन को (मित्रः-वरुणः-वा रिशादाः) प्राण^१ और^२ आपान^३ हिंसक-स्वाम्थ्यनाशक तत्वों-अंशों की बाहुर फेंकने वाला क्षीण करने वाला^४ (संविदानौ) मिले हुए-परस्पर संगत हुए (जरा मृत्युं कृणुताम्) जरापर मृत्यु वाला करें-बनावें (तत्) तदाँ फिर (होता-अग्निः) स्वीकार करने वाला आचार्य (विश्वा वयुनानि विद्वान्) सब जीवन लक्षणों को जानता हुआ (देवानां जनिमा विवक्ति) श्रेष्ठ जनों के जन्मों-दीर्घ जीवन की विशेष कथन करे, आदर्श प्रदर्शित करे ॥ २ ॥

१ "प्राणा वै मित्रः" [श० ६।५।१।५]

२ "वा-अपि वा समुच्चयार्थे" [निरु० १।५]

३ "अपानो वरुणः" (श० ८।४।२।६]

४ "रिशादसः" 'रेशवदासिनः' रेक्षयतामसितारो यद्वा रेक्षयानां ससितारः ।
[निरु० ६।१४]

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रां वधिषुर्मो अमित्राः ॥३॥

(त्वम्) हे स्तुति करने योग्य परमात्मन् ! तू (पार्थिवानां पशूनाम्-ईशिषे) पृथिवी सम्बन्धी देखने वाले आत्माओं पर स्वामित्व करता है^१ (ये जाताः-उत वा ये जनित्राः) जो उत्पन्न हुए और जो उत्पन्न होने वाले हैं^२ (इमं प्राणः-मा हासीत्-मा-उ-अपानः) इस संयमी जन को वृद्धावस्था से पूर्व प्राण न त्यागे न ही अपान त्यागे (इमं मा मित्राः-बाधिषुः-मा-अमित्राः) इसको न मित्र-स्नेहीजन प्रमाद से मारें न ही शत्रु मारें ॥३॥

द्यौष्ट्वां पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणांपानाभ्यां गुपितः शतं हिमा ॥४॥

(त्वा) हे ब्रह्मचर्य सम्पन्न संयमीजन ! तुझे (द्यौः पिता) द्युलोक पिता के समान पालक (पृथिवी माता) पृथिवी माता के समान धारक-धारण करने वाली (संविदाने) समान लक्ष्य वाले से होकर (जरामृत्युं कृणुताम्) जरा से मरने वाला करें (यथा) जिस प्रकार तू (अदितेः-उपस्थे) पृथिवी के^३ उपस्थान-आश्रय में उससे आहाररस ग्रहण करता हुआ (प्राणांपानाभ्यां गुपितः) श्वास शक्ति प्रश्वास शक्ति के द्वारा रक्षित हुआ (शतं हिमाः-जीवाः) सौ हेमन्त वर्ष^४ तक बहुत वर्षों तक जीवित रह^५ ॥ ४ ॥

१ "आत्मा वै पशुः" [काठ० २६। ८]

"अधीगर्थद्वेषां कर्मणि-षष्ठी" [अष्टा० २। ३। ५२]

२ "जन् धातोः-इत्रः प्रत्ययः-औणादिके कृत्यार्थे ।

३ "अदितिः पृथिवी नाम" [निघ० १। १]

४ "शतं हिमा इति शतं वर्षाणि" [श० १। ९। ३। १९]

५ "जीवाः" लेट् प्रयोगः ।

**इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥५॥**

(अग्ने) हे अग्नि-आग्नेयशक्तिप्रद अन्न ! (वरुण) जल (मित्र) वायु^१ (राजन्) राजमान प्रत्येक (इमम्) इस ब्रह्मचारी को (आयुषे वर्चसे) आयु के लिये-अध्यात्म तेज के लिये (प्रियं रेतः-नयः) प्रिय कमनीय वीर्य-ब्रह्मचर्य बल प्राप्त करा (अदिते) हे पृथिवी-जीवन स्थली ! तू (अस्मै) इसके लिये (माता-इव) माता की भांति (शर्म यच्छ) सुख शरण दे (विश्वे देवाः) अन्य सारे चन्द्रमा सूर्य आदि देव तुम भी सुख शरण दो (यथा जरदष्टिः-असत्) जिससे बुढापे तक को प्राप्त करने वाला या जरावस्था तक पहुँचने वाला हो जावे ॥ ५ ॥

एकोनविंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर मन वाला)

देवताः—१ अग्निः, सूर्यः, बृहस्पतिः, २ जातवेदाः, त्वष्टा, सविता
३, ७, इन्द्रः, ४, ५ द्यावापृथिव्यौ, विश्वे देवाः, मरुतः आपः ।
६ अश्विनौ ।

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वोऽ बले ।

आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः ॥१॥

(देवाः) हे विद्वानों ! (पार्थिवस्य रसे) पृथिवी सम्बन्धी अन्नादि रसीले पदार्थ में (भगस्य तन्वः-बले) भजनीय शरीर सम्बन्धी जीवन बल में (अग्निः सूर्यः-बृहस्पतिः) अग्नि सूर्य और वायु^२ (अस्मै) इस ब्रह्मचारी

१ “अयं वै वायुमित्रो योऽयं पवते” [श० ६।५।४।१४]

२ “अयं वै बृहस्पति योऽयं वायुः पवते” [श० १४।२।२।१०]

बालक के लिये (ऋषिष्यम्-वर्चः-आधात्) ऋषु अध्यत्म तेज का आधान करे-सम्यक् धारण करावे ॥ १ ॥

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टराधिनिधेह्यस्मै ।

रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

(जातवेदः-अस्मै-आयुः-धेहि) हैं उत्पन्न होते ही प्राणी के अन्दर जाने वाले प्राणाग्नि^१ इस ब्रह्मचारी के लिये आयु धारण करा (त्वष्टः-अस्मै प्रजाम्-अधिनिधेहि) हैं नाडी जाल में वर्तमान इन्द्र^२ विद्युत्शक्ति ! इस ब्रह्मचारी के लिये प्रजा-प्रजनशक्तिरूप वीर्य शक्ति को निहित कर-सुरक्षित रख (सवितः अस्मै रायस्पोषम्-आसुव) हे अन्न !^३ इस ब्रह्मचारी के लिये खानपान आदि के पोष पुष्टि को प्रकट कर (तव-अयम्) तेरा यह ब्रह्मचारी (शतं शरदः-जीवाति) सौ वर्ष जीवे ॥ २ ॥

आशीर्णं ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं घृतं द्रविणं सचेतसौ ।

जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्तसपत्नान् ॥३॥

(सचेतसौ) हे समान अन्तःकरण-समान कल्याण भाव वाले गुरु गुरुपत्नी दोनों ! (नः) हमारे लिये (आशीः) आशंसनीय-कामना, मङ्गलकामना, माङ्गलिक (ऊर्जम्) रसपूर्णस्वादु फल (उत) और (सौप्रजास्त्वम्) उत्तमप्रजा-सुसन्तान सम्पत्ति (दक्षम्) बल (द्रविणम्) सोना चांदी आदि धन को (धत्तम्) शिक्षा और मार्ग द्वारा धारण कराओ, तथा (इन्द्र) हे राजन् ! (अयम्) यह ब्रह्मचारी विद्वान् बना हुआ आपके राष्ट्र में (सहसा) अपने ज्ञान बल शरीर बल से (क्षेत्राणि जयं कृण्वानः) भिन्न भिन्न कार्य क्षेत्रों को स्वाधीन करता हुआ जीवन यात्रा करे ॥ ३ ॥

१ "प्राणो वै जातवेदाः" [ऐ० २ । ३९]

२ "इन्द्रो वै त्वष्टा" [ऐ० ६ । १०]

३ "अन्नमेव सविता" [गो० १ । १ । ३३]

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिः प्रहितो न आगन् ।

एष वा द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥४॥

(एषः) यह ब्रह्मचारी स्नातक (इन्द्रेण दत्तः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा ने दिया (वरुणेन शिष्टः) बरने वाले^१ आचार्य द्वारा शिक्षित किया हुआ (मरुद्भिः-उग्रः-प्रहितः) विद्वानों से^२ प्रतापी बना हुआ तथा प्रेरित किया हुआ (नः-आगन्) हमारे पास आया है (एषः) यह ब्रह्मचारी स्नातक (द्यावापृथिवी वाम-उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत्) हे दुलोक और पृथिवी तुम्हारे आश्रय में यह न भूखा रहे, न प्यासा रहे जलवृष्टि और अन्न सम्पत्ति से भरपूर रहे ॥ ४ ॥

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् ।

ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत् ऊर्जमापः ॥५॥

(ऊर्जस्वती अस्मै-ऊर्जं धत्तम्) हे स्त्री पुरुष प्रजाओं के अन्न वाली तुम दोनों इस स्नातक के लिये अन्न धारण कराओ (पयस्वती अस्मै पयः-धत्तम्) हे जलवाली तुम दोनों इस स्नातक के लिये जल दो (द्यावापृथिवी अस्मै-ऊर्जम्-अधत्तम्) आचार्य आचार्यपत्नी ने इसके लिये अध्ययन काल में ज्ञान बल दिया है (विश्वेदेवाः-मरुतः-आपः-ऊर्जम्) जीवनमुक्तों, कर्मकाण्डी विद्वानों, आस जनों-पूर्वस्नातक प्राप्तविद्यावालों ने भी ज्ञान बल दिया है ।

॥ ५ ॥

शिवामिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।

सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥६॥

१ "वरुणोऽसि घृतव्रतः [तै० १।२।१०।२]

२ "मरुतः-ऋत्विजः" [निघ० ३।१८]

(ते) हे ब्रह्मचारी ! तेरे (हृदयम्) हृदय को (शिवाभिः तर्पयामि) कल्याणकारी आनन्ददायी ओषधियों से मैं वैद्य तृप्त करता हूँ ('अनमीवः सुवर्चाः-मोदिषीष्ठाः) आक्रमक रोग से रहित रहता हुआ आनन्दित रह (सवासिनी) हे स्नातक समावर्त्तन के अनन्तर तुम वर वधु समान वास-गृहस्थ होकर (एतं मन्थं पिबताम्) इस जीवनरस मानव बीज शक्ति रूप वीर्य रज को पीओ घारण करो, इससे (अश्विनोःरूपं मायां परिधाय) देवाभिषक्^१ सूर्य चन्द्रमा के रूप और बुद्धि को सुरक्षित करते सन्तान निर्माण करो ॥ ६ ॥

इन्द्र एतां ससृजे विद्धो अग्र ऊर्जा स्वधामजरां सा त एषा ।

तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त

आ सुस्रोद् भिषजस्ते अक्रन् ॥७॥

(विद्धः-इन्द्रः) विधाता ऐश्वर्यवान् परमात्मा (अग्रे) प्रथम-आरम्भ-सृष्टि में ही (एताम्-अजराम्-ऊर्जाम् स्वधां ससृजे) इस अजर-मानव को जरा से रहित रखने वाली स्व अपने को धारण करने वाली-बलरूप शक्ति^२ उक्त मानव बीज शक्ति को मानव में सजित करता है-प्रकट करता है (सा ते एषा ते) वह यह तेरे पास है (एतया) इसके द्वारा (त्वं सुवर्चाः शरदः शतं जीव) तू शोभन तेज वाला हुआ सौ वर्ष तक जीवित रह (ते मा-आसुस्रोत्) तेरी यह वीर्यशक्ति मत अन्यथा बिखरे बहे^३ (भिषजः-ते-अक्रन्) वैद्य जन तेरे लिये इसके रक्षण बर्धन को करते हैं ॥ ७ ॥

१ "अश्विनौ वै देवानां भिषजौ" [तै० सं० २।३।११।२।]

"सूर्यचन्द्रमसावित्येके" [निरु० १८।१]

२ "विधविधाने" [तुदादि] ततः-अग्नीषादिक क्तः कर्त्तरि, बाहुलकात्, बाहुलकादेव-इटोऽभावः]

३ "ऊर्जं बल प्राणनयोः" [चुरादि]

४ "स्रुगती" [भ्वादि०] शपःश्लुष्ट्छान्दसः ।

त्रिंश सूक्त

ऋषिः—प्रजापतिः (प्रजारक्षक विद्वांश्च)

देवता—१ मनः, २, अश्विनी, ३, ४ ओषधिः, ५ दम्पती

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति ।

एवा मथ्नामि ते मनो यथा

मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥१॥

(यथावातः) जैसे वायुः (भूम्याम्-अधि) पृथिवी पर (इदं तृणं मथायति) इस तृण को मथता है-स्ववश कर साथ ले जाता है (एव) ऐसे (ते मनः-मथ्नामि) हे वधु ! तेरे मन को विवाह के अनन्तर पत्नी बन जाने पर अपने अन्दर कर विहृत कर रहा हूँ-भुला रहा हूँ (यथा) जिससे (मां कामिनी-असः) मेरे प्रति तू कामिनी हो-मुझे चाहने वाली हो (यथा) जिस प्रकार (मत्-न-अपगाः-असः) मेरे से पृथक् गति करने वाली-मुझ से अलग भाववाली न हो ॥ १ ॥

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।

सं वां भगासो अगमत सं चित्तानि समु व्रता ॥२॥

(अश्विना कामिना) हे वीर्य-गृहाश्रम योग्य सन्तान-शक्तिसम्पन्न^१ परस्पर कामना वाले स्नातक-वर वधु दोनों ! (इत्) अवश्य (सं नयाथः-च) परस्पर मिलकर गृहस्थ जीवन चलाओ (सं वक्षथः-च) और उसका मिलकर सुखप्राप्त करो (वां भगासः समु-अगमत) तुम्हें सन्तानादि ऐश्वर्य सम्प्राप्त हो (चित्तानि समु) तुम्हारे मन भी मिले हों (समु-उ-व्रता) कर्म^२

१ “वीर्यं अश्वः” [शि० २।१।४।२३]

२ “व्रतं कर्मनाम” [निघ० २।१]

भी मिले-एक भाव को प्राप्त हुए हों, यह नववर वधू को वैदिक आशीर्वाद है

॥ २ ॥

यत् सुपर्णा विवक्षवो अनभीवा विवक्षवः ।

तत्र मे गच्छताद्वर्षं शल्य इष कुल्मलं यथा ॥३॥

(यथा) जैसे (विवक्षवः सुपर्णाः) बोलने चहचहाने के इच्छुक चहचहाते हुए पक्षी तथा (विवक्षवः-अनभीवाः) बोलने-प्रमोद वार्ता करने के इच्छुक-प्रमोद बोल बोलते हुए (यत्) जिस हर्ष में^१ होते हैं (तत्र) उसी हर्ष में आये हुए (मे) मुझ को लक्षित हुए के हर्ष में (इष) सव्य ब्रह्मण्य वचन को (गच्छतात्) हे वधू ! तू प्राप्त हो (शल्य-इव कुल्मलम्) वाण फलक निकले पार करने योग्य^२ लक्ष्य को प्राप्त करता है ॥: ३ ॥

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम् ।

कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥४॥

(औषधे) हे अग्नि ! विवाह संस्कार सम्पादक^३ (यत्-अन्तरं-तत्-बाह्यम्) मेरे जो अन्दर-मन में है वह बाहर है (यद्-बाह्यं तत्-अन्तरम्) जो बाहर है-वाणी आदि व्यवहार में है वह भीतर है-सत्य सङ्कल्प से वधू को वरता हूँ (विश्वरूपाणां कन्यानाम्) सर्वगुण सम्पन्न कन्याओं के^४ (मनः) मन को (गृभाय) ग्रहण करा ॥ ४ ॥

एयमग्न पतिकामा जनिकामोऽहमार्गमम् ।

अश्वः कर्निक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥५॥

१ "सप्तमी विश्वक्तेर्लुक् ।"

२ "कृष निष्कर्षे" [क्रयादि०] 'कुषेर्लुक्' कमलम् [उणादि० ४ । १८८]

३ "अग्निः सर्वा औषधिः" [काठ० १९ । ५]

४ "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" [अष्टा० १ । २ । ३८]

(इयं पत्तिकामा-प्रागत्) यह पति को चाहती हुई वक्र वैवाहिक यज्ञ वेदी पर आई (अहं जनिकामः-प्रागमम्) मैं वर जाया को चाहने वाला यहाँ वैवाहिक यज्ञ वेदी पर आयी हूँ (यथा कनिकदत्-अश्वः) जैसे घोड़ा हर्ष शब्द करता हुआ आता है ऐसे (अहं भगेन सह-प्रागमम्) मैं इसके सौभाग्य करण सामर्थ्य के साथ इसके प्रति आता हूँ-प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५ ॥

एकत्रिंश सूक्त

ऋषिः—काण्वः (मेधावी जनों में कुशल)

देवताः—१ मही, २-५ क्रिमिजम्भनम् (कृमिनाशन)

इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी ।

तया पिनाष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वी इव ॥१॥

(इन्द्रस्य या मही दृषत्) सूर्य को जो बड़ी दीर्घ करने वाली बड़ी रश्मि शक्ति है (विश्वस्य क्रिमेः-तर्हणी) समस्त रोग कृमियो को नष्ट करने वाली है (तया) उसके द्वारा (क्रिमीन् सम्पिनष्मि) रोग क्रिमियो को पीसता हूँ (दृषदा खल्वाम्-इव) शिला से बक्की से सञ्चित गठित अक्षतिका की भाँति ॥ १ ॥

दृष्टमदृष्टमदृष्टमथो कुरुमदृष्टम् ।

अल्गण्डून्सर्वाञ्छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥२॥

(दृष्टम्-अदृष्टम्-अदृष्टम्) देखने योग्य रोगक्रिमि की, न देखने योग्य रोगक्रिमि को, मैं हिसित करता हूँ-नष्ट करता हूँ (अथो) तथा-पुनः

१

२ "तृह हिसायाम्" [रुधादि०] ततः अङ् लुङि छान्दसः प्रयोगः ।

(कुरूष्व्-अतृहम्) कुत्सित अग्नि^१ अग्नि जलन जिसके काटने पर हो उस बिच्छु को (अलगण्डून्) पर्याप्त खुजली करने वाले खटमल जैसे जन्तुओं को^२ (शलुनात्) गतिकरने^३ फेलाने वाले-विसर्प रोग जन्तुओं को (सर्वात् क्रिमीन्) सब क्रिमियों को (वचसा जम्भयामसि) वच^४ऋषधि से नष्ट करते है^५ ॥ २ ॥

अलगण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन् ।

शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा

यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥३॥

(अलगण्डून् महता वधेन हन्मि) पर्याप्त खुजली करने वाले खटमल जैसे क्रिमियों को महान् घातक ऋषध चूर्ण-पाउडर से नष्ट करता हूँ (दूनाः-अदूनाः-अरसाः-अभूवन्) वे यदि तप्त हुए^१ अपरितप्त हुए भी अबल हो जाते हैं (शिष्टान्-अशिष्टान् वाचा नितिरामि) वचे हुए-अधमरे-मरे हुओं को वच से बाहर निकालता हूँ (यथा क्रिमीणां नकिः-उच्छिषातै) जिससे क्रिमियों का कोई भी शेष नहीं रहे ॥ ३ ॥

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पाष्ट्यं क्रिमीन् ।

अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥४॥

(अन्वान्त्र्यम्) आन्तों के साथी अङ्गों में उदर में होने वाले (शीर्षण्यम्) शिर में होने वाले यूका आदि को (पाष्ट्यम्) पसली फेफड़े में होने वाले (अथो) और (क्रिमीन्) इन क्रिमियों को (अवस्कवं व्यध्वरम्)

१ "अग्निर्वै रुहः" [जै० १।१२२]

२ "अल् पर्याप्तौ" [भ्वादि०] ततः क्रिमि-अल् कण्डू-गकारश्छान्दसः

३ "शल गतौ [भ्वादि०] ततः-उनन् प्रत्ययः-प्रौणादिकः ।

४ "जभि नाशने" [चुरादि०]

५ "दूङ् परितापे" [दिवादि०]

नीचे को उछल कूद करने वाले^१ तथा विवध अङ्गों के पीड़क^२ (क्रिमीन्) क्रिमियों को (वचसा जम्भयामसि) वच से नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वः ।

ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्वन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥५॥

(ये क्रिमयः) जो क्रिमि (पर्वतेषु) पड़ाइों में (वनेषु) वनों में (ओषधीषु) ओषधियों में (पशुषु) पशुओं में (अप्सु-अन्तः) जलों के अन्दर होते हैं (ये) जो कि (अस्माकं तन्वम्-आविविशुः) हमारे शरीर में आविष्ट हो जाते हैं घुस जाते हैं (तत्सर्षं जनिम हन्मि) उनके उस सब जन्म-बीज को मैं चिकित्सक नष्ट करता हूँ ॥ ५ ॥

द्वात्रिंश सूक्त

ऋषिः—काण्वः (मेघावी)

देवताः—आदित्यः (सूर्यः)

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ।

ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥१॥

(आदित्यः) सूर्य (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (उद्यन्) उद्य होता हुआ (क्रिमीन् हन्तु) क्रिमियों को नष्ट करे-करता है (निम्रोचन्-हन्तु) अस्त होता हुआ भी नष्ट करे-करता है (ये क्रिमयः-गवि-अन्तः) जो क्रिमि-रोगजन्तु पृथिवी^३ पर हैं ॥ १ ॥

१ “स्कुब् आप्रवणे” [क्रयादि०]

२ ध्वरति हिसाकर्मा” [निरु० १।८]

३ “गोः पृथिवी नाम” [तिष० १।१]

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमि सारङ्गमर्जुनम् ।

शृणाम्यस्य पृष्ठीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥२॥

(विश्वरूपम्) बहुरूप वाले (चतुरक्षम्) चारों ओर नेत्र शक्ति वाले (सारङ्गम्) चितकवरे (अर्जुनम्) श्वेतरंग वाले (क्रिमिम्) क्रिमि को (शृणामि) नष्ट करता हूँ (अस्य पृष्ठीः-शृणामि) इसकी पसलियां नष्ट करता हूँ (यत्-शिरः-अपि) जोशिर है उसे भी नष्ट करता हूँ ॥ २ ॥

अत्रिषद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।

अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्प्यहं क्रिमीन् ॥३॥

(क्रिमयः) हे क्रिमियो ! (वः) तुमको (अत्रिवत्) खाजाने वाले हिंसक जन्तु की भांति (कण्ववत्) कण कण करने वाले पेषण कर्ता की भांति (जमदग्निवत्) भस्म करने वाली प्रज्वलित अग्नि की भांति (अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) पाप त्यागी निर्मल योगी जन के ब्रह्मज्ञान से (क्रिमीन् संपिनष्मि) क्रिमियों को सम्यक् पीसता हूँ-नष्ट करता हूँ ॥ ३ ॥

हृतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।

हृतो हृतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥४॥

- (क्रिमीणां राजा हतः) क्रिमियों का राजा प्रमुखक्रिमि हत हो या नष्ट किया जावा चाहिए (उतः) और (एषाम्) इनका (स्थपतिः हतः) घर बनाने वाला या स्थानपालक, द्वारपाल स्थविर वृद्धजनक भी हत हो गया-नष्ट होना चाहिए (हृतमाता क्रिमिः-हतः) नष्ट माता-जननी जिसकी है, वह क्रिमि हत हो गया जानना चाहिए (हत-भ्राता हतस्वसा) भाई समेत हत-नष्ट करने योग्य है और बहिन समेत नष्ट होने योग्य है ॥ ४ ॥

हृतासौ अस्य वेशसौ हृतासुः परिवेशसः ।

अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हृताः ॥५॥

(अस्य) इस क्रिमी के (वेशसः-हतासः) अण्डे नष्ट कर देने योग्य हैं (परिवेशसः-हतासः) जाल खोल भी नष्ट करने योग्य हैं जिसमें रहते हैं (अथो) और (ये क्षुल्लकाः-इव) जो क्षुद्र छोटे बच्चे हैं^१ (ते सर्वे क्रिमयः-हताः) वे सब क्रिमी नष्ट करने योग्य हैं ॥ ५ ॥

प्र ते शृणामि शृङ्गे साम्यां वितुदायसि ।

भिनच्चि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥६॥

(ते) हे क्रिमि ! तेरे (शृङ्गे प्रभिनच्चि) सींगों, दोनों ओर के काण्टों को तोड़ता हूँ (याभ्यां वितुदायसि) जिनके द्वारा तू व्यथित करता है-पीड़ा देता है (ते) हे क्रिमि ! तेरे (कुषुम्भं भिनच्चि) विषकांटे को तोड़ता हूँ (ते यः-विषधानः) जो तेरा विष स्थान है ॥ ६ ॥

त्रयस्त्रिंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (चिकित्सक विद्वान्)

देवताः—यक्षमविवर्हणम् (रोग नाश) चन्द्रमा आयुष्यं च

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।

यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥१॥

(ते) हे रोगी ! तेरी (अक्षीभ्याम्) दोनों आंखों से (नासिकाभ्याम्) दोनों नासिकाछिद्रों से (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से (छुबुकात्-अधि) मुख से^२ (मस्तिष्कात्) मस्तिष्कस्नेह से-भेजे से (जिह्वायाः)

१ “क्षुद्रकाः” इत्यस्य-क्षुल्लकाः-छान्दसः प्रयोगः

२ ‘छुबुक’ शब्द का ठोडी अर्थ सायण आदि भाष्यकारों ने किया है पर ठोडी अर्थ यहाँ नहीं है यहाँ मुख अर्थ है । प्रथम आयुर्वेद में ठोडी के रोग का प्रसङ्ग नहीं पुनः “सप्त वै० शीर्षण्णाः प्राणाः द्वे चक्षुषी द्वे श्रोत्रे द्वे नासिके एकमास्यम्” [तै० १ । २ । ३ । ३] “वैचक शब्द सिन्धु” में छुबुक का अर्थ मुख दिया भी है ।

जिह्वा से (ते) तेरे (शीर्षण्यं यक्ष्मम्) शिरः संस्थान सम्बन्धी रोग को (विवृहामसि) निकालते हैं ॥ १ ॥

**ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनुक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यं संसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥२॥**

(ते) हे रोगी ! तेरे (ग्रीवाभ्यः) ग्रीवा भागों से (उष्णिहाभ्यः) कण्ठ की स्निग्ध नाड़ियों से युक्त अवयवों में (कीकसाभ्यः) हंसली के भागों से (अनुक्यात्) मेरुदण्ड मूल से (संसाभ्याम्) दोनों कंधों से (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से (ते) तेरे (दोषण्यं यक्ष्मम्) भुजसंस्थान सम्बन्धी रोग को (विवृहामि) निकालता हूँ ॥ २ ॥

**हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वीभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीहो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥३॥**

(ते) हे रोगी तेरे (हृदयात्) हृदय से (क्लोम्नः परि) दाएँ फेफड़े से (हलीक्ष्णात्) बाएँ फेफड़े से (पार्श्वीभ्याम्) दोनों पार्श्वों से (मतस्नाभ्याम्) दोनों वृक्कों-गुदों से (प्लीहः) तिल्ली से (यक्नः) तेरे यकृत-जिगर से (विवृहामसि) निकालने हैं ॥ ३ ॥

**आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥४॥**

(ते) तेरे (आन्त्रेभ्यः) आन्तों से (गुदाभ्यः) गुदा भागों से (वनिष्ठोः) स्थूल आन्तों से (उदरात्-अधि) पेट से (कुक्षिभ्याम्) दोनों

कोखों से (प्लाशेः) मूत्राशय-मसाने से (नाभ्याः) नाभिसे (ते) तेरे (यक्ष्मम्) मध्य संस्थान सम्बन्धी रोग को (विवृहामि) निकालता हूँ ॥४॥

ऊरुभ्यां ते अष्टीवद्भ्यां पाष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।

यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥५॥

(ते) तेरी (ऊरुभ्याम्) दोनों जङ्घाओं से (अष्टीवद्भ्याम्) दोनों घुटनों से (पाष्णिभ्याम्) दोनों एड़ियों से (प्रपदाभ्याम्) पैरों के दोनों पंजों से (श्रोणिभ्याम्) दोनों कूल्हों से (ते) तेरे (भसद्यं यक्ष्मम्) जघन्यरोग-ग्रधो अङ्ग संस्थान सम्बन्धी रोगो को (भंससः) गुप्त स्थान से (भासदम्) गुह्य संस्थान सम्बन्धी रोग को (विवृहामि) निकालता हूँ ॥५॥

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो ध्मनिभ्यः ।

यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥६॥

(ते) तेरी (अस्थिभ्यः) हड्डियों से (मज्जभ्यः) मज्जाओं से (स्नावभ्यः) शिराओं से (ध्मनिभ्यः) धमनियों-श्रासनाड़ियों से (पाणिभ्याम्) दोनों हाथों से (अङ्गुलिभ्यः) अङ्गुलियों से (नखेभ्यः) नखों से (ते) तेरे (यक्ष्मम्) उपाङ्गसंस्थान सम्बन्धी रोग को (विवृहामि) निकालता हूँ ॥ ६ ॥

अङ्गेअङ्गे लोम्लिलोम्लिने यस्ते पर्वणिपर्वणि ।

यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य

वीवर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥७॥

(यः) जो (ते) तेरे (अङ्गे अङ्गे) शरीर के अवयव-प्रत्येक मांस पेशी में (लोम्लि लोम्लि) रोम रोम में (पर्वणि पर्वणि) जोड़ जोड़ में वर्तमान- (ते) तेरे (त्वचस्यं यक्ष्मम्) त्वचा संस्थान सम्बन्धी रोग को

(कश्यपस्य वीवर्हेण) कश्यप-सूर्य के बिखरीरश्मि से युक्त चन्द्रमा या कश्यप-चमरीमृग गौ' के बाल पुञ्ज-पुच्छ में (वि वृहामसि) निकालते हैं-दूर करते हैं ॥ ७ ॥

चतुस्त्रिंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वी (स्थिर मन वाला)

देवताः—१ पशुपतिः, (परमात्मा)

२ देवाः, (जीवन्मुक्त)

३ अग्निविश्वकर्मा; (विश्व रक्षयिता अग्रणायक)

४ वायुः प्रजापतिः; (प्राणरूप पालक)

५ आशीः (आशीवादः)

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।

निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥१॥

(यः) जो (पशूनां पशुपतिः) देखने वाली ज्ञानेन्द्रियों का देखने वाला आत्मा है उसकास्वामीपालक कर्मफल दाता परमात्मा है वह (यः-चतुष्पदाम्-उत द्विपदाम्-ईशे) जो चार पैर वाले गवादियों पर और दो पैर वाली पर स्वामित्व करता है (सः-निष्क्रीतः) वह अन्दर आत्मा में निदिध्यासन से प्राप्त किया हुआ (यज्ञियं भागम्-एतु) अर्ध्यात्म यज्ञ के पात्र कृपापात्र को प्राप्त हो (रायः-पोषाः-यजमानं सचन्ताम्) विविध ऐश्वर्य के सुखफल अर्ध्यात्म याजी को समवेत हों-प्राप्त हों ॥ १ ॥

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।

उमाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पार्थः ॥२॥

१ "कश्यपः मृगविशेषः" [वैद्यकशब्द सिन्धुः]

२ "इन्द्रियं वै पशवः" [मै० २ ।]

(देवाः) हे जीवनमुक्त महात्माओ ! तुम (यज्ञमानस्य) अद्यात्म-
यज्ञ करने वाले आत्मयात्री के लिये (भुवनस्य रेतः प्रमुञ्चन्तः) अद्यात्म-
यज्ञ का उमदेश^२ अपने से प्रसर्जन-प्रदान करते हुए (गातुं धत्त) मोक्षमार्ग
को धारण कराओ (यत्-उपाकृतं शशमानं प्रियम्-अस्मात्) जो अहुक्ति
कर्मफल-शशमान-प्रशंसनीय^३ प्रिय है अभीष्ट है (देवानाम्-यमि पाथः-एह)
जीवन मुक्तों का अत्रप्य अन्न मोक्ष भोग^४ इसे प्राप्त हो ॥ २ ॥

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।

अग्निद्यानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥३॥

(ये दीध्यानाः) जो निदिध्यासनशील-अद्यात्मयात्री (बध्यमानम-
मनसा-अनु-ऐक्षन्त च चक्षुषा-अनु) बन्धन में आए बद्ध आत्मा को सबसे
देखते-जानते हैं और साक्षात् नेत्र से भी पीड़ित को देखते हैं (ताव) उन्न
ज्ञानी, ध्यानी जनों को (विश्वकर्मा-अग्निः-देवः) विश्वरूचिवा सर्व अन्नपायक
परमात्मदेव (प्रजया संरराणः) प्रजा मात्र के साथ रचन धारण कर्मफल
प्रदान में रममाण हुआ (अग्रे प्रमुमोक्तु) प्रथम प्रमुक्त करता है-मोक्ष प्रदान
करता है ॥ ३ ॥

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपाः बिरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।

वायुद्यानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥४॥

(ये पशवः-ग्राम्या) जो आत्माएं^५ झिलजुलकर रहने वाले परस्पर
कल्पप्र, साप्रक, त्रिप्रकम, जन (विश्वरूपाः-बिरूपाः-सन्तः) सब सप्रक धर्मी

१ "यज्ञो वै भुवनम्" [तै० ३।३।७।५]

२ "वागुहि रेतः" [शं० १।५।२।७]

३ "शशमानः शसमानः" [निर० ६।८]

४ "देवानां पाथः-देवानामुन्नम्" [निर० ८।१६]

५ "आत्मा वै पशुः" [कौ० १२।७]

या विभिन्न स्वभाव वाले होते हुए भी (बहुधा-एकरूपः) प्रायः एकरूप-आत्मभाव में वर्तमान हैं (ताद्) उन्हें (वायुः-प्रजापतिः-अग्ने मुमुक्त) प्राणस्वरूप प्रजापालक परमात्मा प्रथम मुक्त करता है (प्रजया संररणः) अपनी प्रजा से सम्यक् रममाण हुआ ॥ ४ ॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गैभ्यः पर्याचरन्तम् ।

दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पृथिभिर्देवयानैः ॥५॥

(पूर्व प्रजानन्तः) पुराकाल वाले-प्रकृष्ट ज्ञानी जन (अङ्गैभ्यः) अङ्गों के लिये-अङ्गों में धारण करने के लिये (प्राणंपरि-आचरन्तम्) सर्वत्र शरीर में परिगति करते हुए प्राण को (प्रति गृह्णन्तु) स्वाधीन करें करते हैं-अन्यथा न खोएँ-नहीं खोते हैं (दिवं गच्छ शरीरैः प्रति तिष्ठ) अतः हे मुमुक्षुः ! तू अपने शारीरिक अङ्गों से प्रतिष्ठित हो-पृथिवी से ऊपर उठ-प्रकाश की ओर जा (देवयानैः पृथिभिः) देवयान मार्गों से (स्वर्गं याहि) सुख-मोक्षसुख को प्राप्त हो ॥ ५ ॥

पञ्चत्रिंश सूक्त

ऋषिः—अङ्गिराः (अङ्गों का प्रेरक संयमी जन)

देवताः—विश्वकर्मा (विश्वरचयिता)

ये भक्षयन्तो न वद्वन्यानुधुर्यानप्रयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः ।

या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा ॥१॥

(ये भक्षयन्तः) जो लोग भोजन करते हुए-संसार के भोग भोगते हुए भी (वसुनि न-आनुधुः) अपने अन्दर जीवन के बसाने वाले रक्तादि तत्त्वों को बटा सके-बंटा सकते हैं अपितु (याद्) जिनको-जिन केवल भोगियों को (धिष्ण्याः-अग्न्यः-अन्वतप्यन्तः) प्राणाग्नियां अनुतापित करते (तेषां

या दुरिष्टिः) उनकी जो दुरिच्छा, दुर्भावना (तां नः स्विष्टि विश्वकर्मा कृणवत्) उसे हमारे लिये विश्वरचयिता परमात्मा सद्भावनारूप करदे ॥ १ ॥

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतुप्यमानम् ।

मथव्यान्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥२॥

(प्रजाः-अनुतुप्यमानम्) प्रजायमान प्राणियों को दुःखी देख उनके पीछे तप्यमान-चिन्तित (एनः-यज्ञपतिम्) इस अध्यात्म यज्ञ के पति-अध्यात्म याजी जन (ऋषयः) जीवनमुक्त (एनसा निर्भक्तम्-आहुः) पाप से रहित (आहुः) कहते हैं (यान् मथव्याद् स्तोकान्) जिन मथने योग्य-विवेचनीय सूक्ष्म तत्त्वों में मोक्षानन्दांशों को (अपरराध) मुक्तों के लिये छोड़ता रहा है-त्याग रहा (तेभिः-नः संसृजतुः-विश्वकर्मा) उनसे हमें संसृष्ट करे-संसृक्त करे विश्वरचयिता परमात्मा ॥ २ ॥

अदान्यान्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्तसमये न धीरः ।

यदेनश्चक्रवान् बद्ध एष तं विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥३॥

(विश्वकर्मन्) हे विश्वरचयिता परमात्मन् ! (एषः-बद्धः) यह बद्ध आत्मा (यत्-एनः-चक्रवान्) जो संसार में बद्धावस्था में पापकर चुका है-करता है (स्वस्तये तं प्रमुञ्च) उसके कल्याण के लिये तू उसे बन्धन से छोड़-छोड़ता है ऐसे (सोमपान्-अदान्यान्) शान्त स्वरूप परमात्मानन्दरस पान करने वालों को न दान करने योग्य (मन्यमानः) मानता हुआ-उनका अनादर करता हुआ-अपराधी बनता है और (बद्धस्य विद्वान्) यज्ञ को जानता हुआ (न समये धीरः) जैसे समय-अवसर पर पश्चाताप कर धीर बन जाता है-पाप से मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम् ।

बृहस्पतये महिष द्युमन्मो विश्वकर्मन् नमस्ते पाद्भ्यस्मान् ॥४॥

(ऋषयः-चोराः) ऋषि महानुभाव-तेजस्वी प्रवचन कर्ता होते हैं (यत्) यतः (एषां चक्षुः-मनसः-च सत्यम्) इनकी आंख और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सत्य होते हैं-यथावत् देखते हैं यथावत् मनन विवेचन चिन्तन करते हैं (एभ्यः-नमः-अस्तु) इनके लिये अन्नादि से स्वागत हो (महिष विश्वकर्मन्) हे महात्मा विश्वरचयिता परमात्मन् ! (बृहस्पतये नमः) तुम्हारे वेदवाणी के स्वामी के लिये स्वागत है जिस तेरी वेदवाणी का ये ऋषि हमें प्रवचन करते हैं (अस्मान् पाहि) तू हमारी रक्षाकर ॥ ४ ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिमुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।

इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥५॥

(विश्वकर्मणा इमं यज्ञं विततम्) विश्वरचयिता परमात्मा ने इस सृष्टि यज्ञ को फैलाया है (देवाः सुमनस्यमानाः) विद्वान् जन सुप्रसन्न निर्मल मन वाले हुए (यन्तु) इसे प्राप्त करें-करते हैं, इसमें विश्वरचयिता को पाते हैं सौ में उपासक भी (यज्ञस्य) जो सृष्टि यज्ञ का (चक्षुः) दर्शक प्रकाशक (प्रभृतिः) प्रकृष्ट रूप से भरण कर्ता-धर्ता (मुखम्) मुख आदि भूत भी हैं (वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि) उस विश्वरचयिता परमात्म देव को मैं भी वाणी द्वारा स्तुति करके श्रोत्र द्वारा श्रवण करके मन्त्र से मनन करके स्वीकार करता हूँ-अपनाता हूँ ॥ ५ ॥

षट्त्रिंश सूक्त

ऋषिः—पतिवेदनः (विवाह संस्कार कर्ता)

देवता—१ अग्निः; २ सोमः, अर्यमा, धाता; ३ अग्नीषोमी;

४ इन्द्रः; ५ सूर्य; ६ धनपतिः; ७ हिरण्यम्, भगः;

८ ओषधिः ।

आ नो अग्ने सुमतिं संभूलो गभेदिमा कुमारीं सह सो भरोन ।

जुष्टा वरिषु समनेषु ब्रह्मगुरोषु पत्मा सौभगमस्तुवै ॥१॥

(अग्नेः) हे अग्नी विवाह में आगे होने वाले साक्षीरूप में वर्तमान पुरोहित ! (सम्भलः) कल्याण स्वरूप कथा का अदान कर्त्ता स्वीकार कर्त्ता इच्छुक वरण कर्त्ता वर (नः) हमारी (इक्ष्मं सुमतिः कुमारीम्) इक्ष्म उत्तम मति वाली सुशिक्षित सुगुणा कुमारी-कन्या को (नः-भगेम सह) हमारे भजनीय भाव के साथ समर्पित की जाती हुई को (आगमेत्) समन्तगत्-मनोभाव से प्राप्त हो-उसके साथ विवाहार्थ स्वीकार कर (समनेषु वरेषु जुष्ठा) समान मन वाले-समान गुण वाले वरों के निमित्त चाहने वरने योग्य है (अस्यै) इसके लिये (पत्या) वरणीय पति के साथ (वल्युः-प्रोषं सोभगम्-अस्तु) प्रियभाषण-प्रेमालाप^३ समन्तवास रूप सोभाग्य हो ॥ १ ॥

सोमं जुष्टं ब्रह्म जुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम् ।

धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥२॥

(सोमजुष्टम्) यज्ञ से सेवित^४ (ब्रह्मजुष्टम्) ब्राह्मणों, ऋत्विजों, से-सेवित-अनुमोदित (अर्यम्णा सम्भृतम्) राजा-न्यायाधीश राजनीति से पोषित (भगं पतिवेदनम्) सोभाग्यरूप पति की प्राप्तिरूप वचन-विव्रवाह सम्बन्ध को (धातुः-देवस्य सत्येन) विधाता-परमात्म-देव के नियमानुसार (कृणोमि) मैं कन्या का पिता करता हूँ ॥ २ ॥

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्टु सोमो हि राजा सुभगां कृणोति ।

सुवान्ता पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥३॥

(अग्नेः) हे विवाह के अग्नी विद्वान् पुरोहित ! (इयं नारी) यह विवाह के योग्य युवती कुमारी (पतिं विदेष्टु) पति-पालन योग्य वर को प्राप्त

१ "भल आभन्दने" [चुरादि०] "भल आदात्ते" [ष्वश्लि०] ।

२ "समना समनसः" [त्रि० १७ । १७] ।

३ "वल्युः वाङ् नाम" [निघ० १ । ११] ।

४ "यज्ञस्तोमः" [जी० १ । २५९] ।

करे* (सोमः-हि राजा) विवाह संस्कार में ही प्रकाशमान अग्नि (सुभगां कृणोति) सौभाग्यवाली-गृहपत्नी बनती है* (पुत्रान् सुवाना) पुत्रों को उत्पन्न करने के हेतु (महिषी भवाति) परिवार में रानी के समान स्वागत योग्य है* (पतिगत्वा-सुभगा विराजतु) पति को प्राप्त करके सौभाग्यवती विराजमान हो ॥ ३ ॥

यथाखरो मघवंश्चारुष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।

एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी सम्प्रिया पत्याविराधयन्ती ॥४॥

(मघवः) हे ऐश्वर्यवन् (यथा) जिस प्रकार (आखरः) भू गृह भर* (मृगाणाम्) वन्य पशुओं का मुरझिन (एकः-प्रियः-चारुः-सुषदाः-बभूव) यह प्यारा सुन्दर सुगमतया बैठने योग्य होता है (एवा) ऐसे (भगस्य जुष्टा) सौभाग्य से प्रीति में लाई हुई (इयं नारी) यह विवाहित नव पत्नी (पत्या) पति के साथ (सम्प्रिया-अविराधयन्ती-अस्तु) सम्यक् प्रियाचरणों को अभिराधयन्ती* परस्पर साधती हुई हो-अनुकूल अनुरूप साधती हुई हो ॥ ४ ॥

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् ।

तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥५॥

(भगस्य पूर्णाम्) सांसारिक ऐश्वर्य रूप गार्हस्थ्य सौभाग्य/की पूर्ण भरी (अनुपदस्वतीं नावम्) अनुपक्षीण-दोषरहित नौका-गृहाश्रमरूप नौका के ऊपर (आरोह) चढ़-प्राप्तकर (तथा) उसके द्वारा (यः-वरः प्रतिकाम्यः)

१ "विद्वल्लाभे ततः-आशिषि लिङ्" ।

२ "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" [अष्टा० ४ । १ । ३३]

३ "सम्राज्ञी श्वसुरे भवः" [ऋ० १० । ८५ । ४३]

४ "सायण भाष्य पाठः ।

५ "खनो घ च" [अष्टा० ३ । ३ । १२५ अतो 'उरो वक्तव्यः' वा०]

जो वर नियत कमनीय है. (उपतारय) उसका आश्रयकर स्वजीवन यात्रा को पारकर-चला ॥ ५ ॥

आ क्रन्दय धनपते वरमार्मनसं कृणु ।

सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥६॥

हे कन्या-विवाहित नारी ! (यः प्रतिकाम्यः-वरः) जो प्रति कमनीय वर है उसे (धनपते-आक्रन्दय) हे धनपति ! कहकर बुला^१ (आमानसं वरं कृणु) मनोनुकूल वर को बना-अपने में पूर्णरूप से बिठा (सर्वं प्रदक्षिणं कृणु) सब तन-मन सहित अपने को उसके प्रदक्षिण कर-दक्षिणाङ्ग बना ॥ ६ ॥

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षौ अथो भगः ।

एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥७॥

(इदं हिरण्यं गुल्गुलु) यह सौवर्णं धन आभूषण गुद्गुदे क्रीड़ा साधन^२ विस्तर वेश पलङ्ग (अयम्-औक्षः) यह उक्षा-वृषभ से वहन योग्य रथ-आजकल विद्युत् से चालित कार (अथो भगः) और भजनीय-सेवनीय-कमनीय घर (एते) ये कन्या के पितृकुल के जन (पतिभ्यः) पति के लिये^३ (अदुः) देते हैं (प्रतिकामाय) तेरी नियत कामना पूर्णार्थं (त्वाम्) तुम्हें प्राप्त करने को-पत्नीरूप में स्वीकार करने को^४ ॥ ७ ॥

१ लोक में पति को धनी कहते हैं ।

“ऋदि आह्वाने” [भ्वादि०]

२ “गुद् क्रीडायाम्” [भ्वादि०]

३ “बहुवचनमादरार्थम् ।

४ “विद्वल्लभे” [तुदादि०] ततः “तुमर्थे से..... तवेनः”

[अष्टा० ३ । ४ । ९] इति तवेत् प्रत्ययः ।

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिक्राम्यः ।
त्वमस्यै धेहोषधे ॥८॥

(ते) हे कुमारी तेरा (सविता) उत्पादक पिता (आनयतु)
विवाहार्थ-विवाह वेदि स्थल पर लक्ष्मी-लाता है (यः प्रतिक्राम्यः पतिः) जो
आकाङ्क्षा में कमनीय पति है वह (नयतु) तुझे विवाह कर ले जावे
(धेहोषधे-त्वम-अस्यै धेहि) हे ओष को-ताप-प्रकाश को धारण करने वाली
अग्नि-वेदिरूप अग्नि या वेदि में विवाहावसर होम द्रव्य ! तू इस वधु-
विवाहित नारी के लिये पति को धारण कर-पति बना ॥ ८ ॥

इति अथर्ववेद ब्रह्ममुनिभाष्य
द्वितीय काण्ड ॥

तृतीय काण्ड



प्रथम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर रहने वाला)

देवताः—१ अग्निः (आग्नेय-अस्त्र वाला); २ मरुतः (सैनिकजन)

३-६ इन्द्रः ॥

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥१॥

(अग्निः) अग्नि समान अस्त्रवान्^१ (विद्वान्) युद्ध कला का ज्ञाता
(शत्रून्-प्रत्येतु) शत्रुओं के प्रति जावे-शत्रुओं पर आक्रमण करे, उनमें (अभि-
'शस्तिम्) सामने आकर घात करने वाले^२ (अरातिम्) न देने वाले अपितु
लेने-हरने वाले धन देश के हड़पने वाले को (प्रतिदहन्) जलाता हुआ
(सः) वह (परेषां सेनां मोहयतु) परों-शत्रुओं की सेनां को मुग्ध करदे-
निःसत्त्व बनादे (जातवेदाः) वह संग्रामगत नीतियों को जानने वाला (च)
और (निर्हस्तान्) शत्रुओं को निहत्थे बनादे-कुछ न कर सकने वाले बनादे
॥ १ ॥

युयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम् ।

अभीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥२॥

१ "मतुब्लोपशब्दान्दसः"

२ "शंसुहिंसायाम्" [ष्वादि०]

(मरुतः) हे सैनिक जनो !^१ (यूयम्-उष्माः-स्थ) तुम बड़े चढ़े बलवान् प्रतापी हो (अभिप्रेत मृणत सहृद्वम्) शत्रुओं की ओर बढ़ो उन्हें हिंसित करो अपने अधीन करो-दबाओ (इमे नाथिताः-वसवः) ये आप बसाने वाले प्रार्थित हुए (अमीमृणन्) शत्रुओं को हिंसित करते हो^२ तो (एषां दूतः-अग्निः प्रत्येतु) इन आप लोगों का अग्रणी आग्नेयास्त्र शत्रुओं पर प्रहार करता हुआ आगे चले-चलता है ॥

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।

युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥३॥

(मघवन् वृत्रहन्-इन्द्र) हे राष्ट्रश्रयंवन् पापीहन्ता वैद्युतास्त्र वाले राजन् ! (च) और (अग्निः) अग्रनायक आग्नेयास्त्र प्रयोक्ता सेनानी (युवम्) तुम दोनों (अस्मान्-शत्रूयतीम्-अमित्रसेनाम्) हमारे प्रति शत्रुता करने वाली शत्रुसेना को (अभि) अभिभूत कर-आक्रान्त कर (ताम्) उसे (प्रतिदहतम्) प्रतिदग्ध करो ॥ ३ ॥

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।

जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥४॥

(इन्द्र) हे विद्युदस्त्रवान् राजन् ! (ते वज्रः) तेरा वैद्युत अस्त्र (हरिभ्यां प्रसूतः) शुष्क और आद्रं धाराओं द्वारा प्रेरित-फेंका हुआ (प्रवता) प्रगति के साथ-वेग से (शत्रून्-प्रमृणन्) शत्रुओं को मारता हुआ (प्र-एतु) आगे चले (प्रतीचः-अनूचः पराचः-जहि) पीछे वाले साथ वाले-दूर सामने वाले शत्रुओं को मार (एषांचित्तं सत्यं विष्वक्-कृणुहि) इनके सत्य-एकाग्रमन को विषम^३ घबराया हुआ करदो ॥ ४ ॥

१ "असी या सेना मरुतः परेषामस्मानेत्यभ्योजसा स्पृह्यमाना तां विध्यत तमसापन्नतेन यथैषामन्योऽन्यं न जानात्" ॥ [अथ०]

२ "मृण हिंसायाम्" [तुदादि०]

३ "विषुरूपे...विषमरूपे" [निरु० १२ । १७]

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।

अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥५॥

(इन्द्र) हे वैद्युत शक्ति सम्पन्न राजन् ! तू (अमित्राणां सेना मोहय) शत्रुओं की सेना को मुग्ध करदे-विमूढ़ बनादे-कुछ भी करने में अशक्त करदे (अग्नेः-वातस्य ध्राज्या) आग्नेय अस्त्र और वातास्त्र की गति दाहक प्रचलित करने वाली के द्वारा (तान् विषूचः-विनाशय) उन्हें विषम-अव्यवस्थित कर विनष्ट कर ॥ ५ ॥

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो धन्न्त्वोजसा ।

चक्षूष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥६॥

(इन्द्रः) वैद्युतास्त्रवान् राजा (सेनां मोहयतु) शत्रु सेना को मूढ़ बनादे (मरुतः-ओजसा धन्तु) मारने वाले वीर सैनिक बल से शत्रुओं को मारें : (अग्निः-चक्षूषि-आदत्ताम्) आग्नेयास्त्रवान् चकाचोंध कर शत्रुओं की आंखों को ले ले-शक्ति हीन करदे (पराजिता पुनः-एतु) पराजित हुई शत्रु सेना वापिस चली आवे ॥ ६ ॥

द्वितीय सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर रहने वाला)

देवताः—१, २ अग्निः (आग्नेयस्त्रवान्)

३, ४ इन्द्र (वैद्युतास्त्रवान्)

५ अप्वायमानः; ६ मरुतः (सैनिककार)

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिः शस्तिमरातिम् ।

स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥१॥

(नः-दूतः) हमारा दूत-प्रहारक शत्रुदल का वारण कर्ता* (अग्निः) अग्नी-आग्नेयास्त्रवान् (विद्वान्) युद्धकला वेत्ता (प्रत्येतु) शत्रुओं पर प्रतिक्रमण करे-बढ़ाई करे (अभिशस्तिम्-अरातिं प्रतिदहन्) सामने आकर घात करने वाले धनदेश के हड़पने वाले को जलाता हुआ (सः) वह (परेषां चित्तानि मोहयतु) शत्रुओं के चित्तों को मूढ़ बनादे (च) और (जातवेदाः) सन्नाम-नीतियों का जानने वाला (निहंस्तान् कृणवत्) शत्रुओं को निहत्थे बनादे-असमर्थ करदे ॥ १ ॥

अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि ।

वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥२॥

(वः) हे शत्रुओं ! तुम्हारे (हृदि) हृदय में (यानि चित्तानि) जो मन बुद्धि चित्त अहंकार हैं उन्हें (अयम्-अग्निः) यह आग्नेयास्त्रवान् सेनानी (अमूमुहद्) मूढ़ बना देता है (वः-ओकसः) तुम्हारे घरों-शिविरो-छावणियों को (विधमतु) विनष्ट-नष्ट भ्रष्ट करदे-कर सकता है* (वः) तुमको (सर्वतः प्रधमतु) सब ओर से प्रकृष्ट रूप से नष्ट करदे-कर देता है ॥ २ ॥

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नुर्वाडाकृत्या चर ।

अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥३॥

(इन्द्र) हे वैद्युतास्त्रवान् राजन् ! (चित्तानि) शत्रुओं के मन बुद्धि चित्त अहंकार को (मोहयन्) मूढ़ बनाता हुआ या मूढ़ बनाने के हेतु (उर्वाङ्-आकृत्या चर) इधर हमारी ओर शिवसंकल्प से प्राप्त हो (अग्नेः-वातस्य ध्राज्या) आग्नेयास्त्र वातास्त्र की गति प्रवृत्ति-दाहक विचालक शक्ति

१ "दूतो वारयतेः" [निरु० ६ । २३]

२ "धमति वैधकमी" [निघ० २ । १९]

से (तान् विषुचः-विनाशय) उन्हें विषम-अव्यवस्थित विचालित कर विनष्ट कर ॥ ३ ॥

व्याकृतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।

अथो यदघैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥४॥

(एषाम्-आकृतयः) इन शत्रुओं के प्रमुख चिन्तक सेनाध्यक्ष (वि-
इत) दूर जाओ (अथ-उ) और (चित्तानि मुह्यत) इनके मन-बुद्धि-चित्त
अहंकार तुम मूढ हो जाओ, । हमारे प्रयोगों से (अथ-उ) और हाँ (एषां-
हृदि) इनके हृदय में (यत्-अद्य) जो आज-अब है (एषां ततः परिनिर्जहि)
इनका उस विचार को सब प्रकार नष्ट कर ॥ ४ ॥

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।

अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥५॥

(अप्वे) हे हमारे अस्त्र प्रहार से हुई गहन व्याधि या भय !
(परेहि) यहाँ से परे जा (अमीषां चित्तानि) इन शत्रुओं के चित्तों-
मन बुद्धि चित्त अहंकार को (प्रतिमोहयन्ती) प्रतिमूढ करती हुई (अङ्गानि
गृहाण) इनके अङ्गों को पकड़-जकड़ दे-जड़ बनादे (अभिप्रेहि) उन्हें
स्वाधीन कर (हृत्सु) हृदयों में (शोकैः-अमित्रान्-निर्दह) सन्तापों से पूर्णरूप
से दग्धकर (ग्राह्या-अमित्रान् शत्रून्-तमसा विध्य) अपनी पकड़ शक्ति से
विरोधी शत्रुओं को अन्धकार से वीन्ध ताड़ित कर ॥ ५ ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ।

तां विध्यत तमसापत्रेतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥६॥

१ "अप उपसर्गपूर्वाद् वा गतित्यादि-[अदादि०] असनार्थेवन् प्रत्ययान्तो
निपात्यते" 'शेवायद्वाप्रीवाऽप्वामीवाः' [उणादि० १ । १५४]

(मरुतः) हे शत्रुओं को मारने वाले सैनिकों ! (परेषां या असी सैना) परों-शत्रुओं की जो वह सेना (स्पृहमाना) संघर्ष करने के हेतु (अस्मान्-ओजसा-अभ्येति) हमारे पर बेग से चढ़ती आ रही है (ताष्) उसे (अपत्रतेन तमसा) कर्म से^२ व्युत्कर देने वाले तमः-अन्धकार फैलाने वाले अन्न-तामसास्त्र से (विध्यत) ताड़ित करो (यथा-एषाम्-अन्यः-अन्धं न जानात्) जिससे इनमें एक दूसरे को न जान सकें ॥ ६ ॥

तृतीय सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर रहने वाला)

देवताः—अग्न्यादयोः मन्त्रोक्ताः (अग्नि आदि मन्त्रों में कहे)

अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची ।

युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमं नय नमसा रातहव्यम् ॥१॥

(अग्ने) हे अग्रनायक राजन् ! तू (इह स्वपाः-भुवद्) इस राष्ट्र में अपनी प्रजा का पालन कर्ता है, अतः (अचिक्रदत्) प्रजागण तुझे आहूत करता है-अपनी रक्षादि के लिये बुलाता है (उरूची रोदसी व्यचस्व) तू अपने प्रजारक्षण कार्य द्वारा राष्ट्र के रोधन करने वाले-ओर छोर को व्याप्तकर इधर से उधर तक यशस्वी रूप में प्रवृद्ध हो (त्वा) तुझे (विश्ववेदसः मरुतः) सारे राष्ट्र में प्रविष्ट विद्वान् जन (युञ्जन्तु) युक्त हो-प्राप्त हो (नमसा-रातहव्यं अमुम्-आनय) नम्रभाव से उपहार देने वाले जन को उस अपने पूर्ण रक्षण की ओर-ले आ ॥ १ ॥

१ “स्पृहं संघर्ष” [भ्वादि०] ततः “लक्षणहेत्वोः क्रियायाः”

[अष्टा० ३ । २ । १२६] इति शानच् प्रत्ययः ।

२ “व्रतं कर्म नाम” [निघ० २ । १]

दूरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् ।
यद् गायत्रीं वृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥२॥

(अरुषासः) आरुचमान-ज्ञान में प्रकाशमान राष्ट्र के विद्वान् जन (सख्याय) सखाभाव के लिये (विप्रम्-इन्द्रम्) मेधावी राजा को (दूरे चित् सन्तम्) अपने से दूर-हीते हुए को भी (आच्यावयन्ति) समन्त रूप से प्राप्त करें (यत्) यतः (अस्मै) इसके लिये (सौत्रामण्या) उत्तम त्राण करने वाली राजसूय यज्ञति से (देवाः) विद्वान् जन (गायत्रीं वृहतीं-अर्कं दधृषन्त) वाणी को^१ मन को^२ पुनः पुनः आचरण में धारण करें उसकी अनुकूलता में रहे उसके आदेश और विचार का अनुसरण करें ॥ २ ॥

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वाह्वयतु पर्वतेभ्यः ।
इन्द्रस्त्वाह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥३॥

(त्वा) हे राजन् ! तुझे (अद्भ्यः-वरुणः-राजा-ह्वयतु) जैसे जलों के लिये जलव्यवस्था के लिये जलाधिकार वरुणराजा अपनाता है^३ (त्वा) तुझे (पर्वतेभ्यः सोमः-ह्वयतु) पर्वतों के लिये पर्वतों की व्यवस्था के लिये पर्वताधिपति अङ्गीकार करता है (त्वा) तुझे (इन्द्रः-आभ्यः-विड्भ्यः-ह्वयतु) ऐसे ही पुरोहित इन प्रजाजों के लिये इन प्रजाओं के शासन के लिये स्वीकार करता है (श्येनः-भूत्वा-इमाः-विशः-आपत) प्रशंसनीय गति प्रवृत्ति वाला होकर इन प्रजाओं में इनके शासन के लिए आजा ॥ ३ ॥

श्येनो ह्वयं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् ।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं तं इमं संजाता अभिसंविशध्वम् ॥४॥

१ "वाग्वै गायत्री" [काठ० २३।१]

२ "मनोवृहती" [जै० ५।५८]

३ "वरुणोऽपामधिपतिः" [तै० सं० ३।६।५।१]

(श्येनः) शांसनीय प्रवृत्ति वाला राजपुरोहित (अन्यक्षेत्रे चरन्तम्-अपरुद्धं-हव्यम्-परस्मात्-आनयतु) अन्य राज्य में विचरते हुए राके हुए अपने बुलाने योग्य शासक को पर स्थान से ले आवे (अश्विना सुगं पन्यां कृणुताम्) सूर्य चन्द्र के समान व्यापनशील दिनरात्रि में खोज करने वाले गुप्तचर तेरे लिये-उसके लिये सुगम आने का मार्ग तैयार करे (इमम्) इस अपने शासक को (सजाताः-अधिसंविशध्वम्) हे साथ प्रसिद्ध राजवंशीय जन तथा राजसभा सदा तुम उस अपने शासक के सब ओर स्वागतार्थ प्राप्त होओ ॥४॥

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत ।

इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥५॥

(त्वा प्रतिजनाः-ह्वयन्तु^१) हे राजन् ! तुझे प्रतिपक्षी जन जिनके कारण तू छोड़कर चला गया था वे अपनाते हैं-स्वीकार करते हैं तथा (मित्राः-प्रति-अवृषत) तेरे पक्ष वाले प्रतिवरण-प्रतिरक्षा में रखते हैं (इन्द्राग्नी) सेनानी और ज्ञानी (विश्वेदेवाः) सारे जयशील सैनिक (ते विशि) तेरी प्रजा में (क्षेमम्-अदीधरन्) तेरे लिये कल्याण को स्थापित करते-सुख शान्ति स्थापित करते हैं ॥ ५ ॥

यस्ते हवं विवदत् सजातो यश्च निष्ठयः ।

अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥६॥

(इन्द्र) हे राजन् ! (यः-सजातः-च निष्ठयः-ते हवं विवदत्) जो समान स्वभाव और जो भिन्न स्वभाव विरोधी जन तेरे घोष-ज्ञापन का विरोध करे (तम्-अपाञ्चं कृत्वा) उसे उपदेश-फटकार या दण्ड का भागी बनाकर (अथ-इमम्-इह-अवगमय) अनन्तर इसको-उसको यहाँ राष्ट्र में प्रजाजन में बोधित कर दे ॥ ६ ॥

चतुर्थ सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर रहने वाला)

देवता—इन्द्र (राजा)

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोर्दिहि प्राड्

विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज ।

सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तुपसद्यो नमस्यो भवेह ॥१॥

(राजन्) हे राजन् ! (त्वा राष्ट्रम्-आगन्) तुझे राष्ट्र प्राप्त हुआ है (वर्चसा सह-उर्दिहि) तेज प्रताप के साथ उदय-को प्राप्त हो-उठ (त्वं विशां प्राड् पतिः-एकराट् विराज) तू प्रजाओं के सामने पालक अकेला राजमान प्रकाशमान हुआ विराजित हो (त्वा सर्वाः-प्रदिशः-ह्वयन्तु) तुझे सारे-राष्ट्र प्रदेशों में वर्तमान प्रजाएँ स्वीकार करें-अपनायें (इह) इस राष्ट्र में (उपसद्यः-नमस्यः-भव) शरण्य और आदरणीय हो ॥ १-१ ॥

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वाभिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।

वर्षमन् राष्ट्रस्य कुकुर्दि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥२॥

(त्वाम्) हे राजन् ! तुझे (विशः) प्रजाएं (राज्याय वृणताम्) राजा होने के लिये वरें-स्वीकार करें-करती हैं (त्वाम्) तुझे (इमाः प्रदिशः पञ्चदेवीः) ये पांचों सीमाएँ-सीमावर्ती अन्य राष्ट्र तथा इस प्रकार अपनी प्रजाएँ वरें (राष्ट्रस्य वर्षमन्-कुकुर्दि श्रयस्व) राष्ट्र के सुख वर्षक उच्च स्थान राजासन पर विराज (ततः-नः-उग्रः-वसूनि विभज) पुनः हमारे लिये प्रतापी वन धनों को वितरण कर ॥ २ ॥

अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चरातै ।

जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥३॥

(सजाताः-हविनः-त्वा अच्छ यन्तु) हे राजन् ! समान देशवासी-तेरे प्रजाजन आज्ञाकारी तुझे प्राप्त रहें (अग्निः-दूतः-अजिरः सं चरातै) अग्नि समान प्रतापी तेरा दूत प्रगतिशील हुआ देशदेशान्तर में सञ्चार करे (जायाः-पुत्राःसुमनसः-भबन्तु) तेरे वंश में राष्ट्र में स्त्रियां सन्तानें सुप्रसन्न मनवाली हों (उग्रः-बहुं बलि पश्यासै) उन्नत बलवान् बहुत प्रकार के कर को स्वीकार कर ॥ ३ ॥

अश्विना त्वाग्ने मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु ।

अथा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥४॥

(त्वा) हे राजन् ! तुझ (अग्ने) राष्ट्र के अग्रासन पर राजपद पर विराजमान को (अश्विना) सूर्य चन्द्र समान राष्ट्र में प्राप्त ज्ञान प्रकाश और शान्ति रूप धर्म संस्थापक गण (उभा-मित्रावरुणा) दोनों नीति में प्रेरक राजसभा और अपनी ओर आर्काषित करने वाली प्रजा के वर्ग (विश्वे-देवाः) राष्ट्र में विद्या में प्रविष्ट विद्वान् तथा (त्वा) तुझे (मरुतः) सैनिक जन (ह्वयन्तु) स्वीकार करें-अपना राजा घोषित करें (अथा) अनन्तर (वसुदेयाय) धन धान्य सबको यथा योग्य देने के लिये (मनः कृणुष्व) मन को धना (ततः) पुनः (उग्रः-नः-वसूनि विभजा) प्रतापी बना हमारे लिये धनों को वितरण कर ॥ ४ ॥

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ।

तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत् उपेदमेहि ॥५॥

(परमस्याः) परली दिशा सीमा से (परावतः) दूसरे देश से (आ प्र द्रव) हे राजन् ! तू समन्त रूप से-निश्चिन्त खुलकर प्राप्त अपने राष्ट्र में चल आ (ते) तेरे लिये (उभे द्यावापृथिवी शिवे स्ताम्) दोनों भूमि और आकाश कल्याणकारी हों-होंगे-हैं (तत्-अयं राजा वरुणः-तथा-आह) कारण

राजमान धर्मपति परमात्मा^१ या धर्मपति न्यायाधीश^२ धर्मव्यवस्था न्याय व्यवस्था से कहता है (सः-अयं-त्वा-अह्वत्) वह यह तुझे आमन्त्रित करता है (सः-इदम्-उप-आ-इहि) वह तू इस राष्ट्र को प्राप्त कर ॥ ५ ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।

स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान्

यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः ॥६॥

(इन्द्रेन्द्र) हे राजाधिराज ! (वरुणैः संविदानः) धर्मराज-न्यायाधीश के द्वारा^३ संवित्-प्रतिज्ञापित हुआ-राजपद पर निर्धारित हुआ (समज्ञास्थाः-हि) सम्यक् घोषित हुआ (मनुष्याः परा-इहि) मनुष्य प्रजाओं को शासित कर (सः-अयं त्वा स्वे सधस्थे-अह्वत्) वह यह धर्मध्यक्ष-न्यायाधीश अपने राजसभासदन में आमन्त्रित या पूजित करता है^४ (सः-देवान् यक्षत्) वह तेरे राजसूय के लिये ऋत्विक् विद्वानों को यजनार्थ नियुक्त करता है उनसे राजसूय यज्ञ कराता है (सः-उ-विशः-कल्पयत्) वह निश्चय प्रजाओं को प्रजाधर्म में समर्थित करता है ॥ ६ ॥

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन् ।

तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥७॥

(त्वा) हे राजन् ! तुझे (पथ्याः-रेवतीः) राजपथ पर चलने वाली धन धान्यवाली (बहुधा विरूपाः सर्वाः) बहुत प्रकार की भिन्न भिन्न रूपों वाली सारी प्रजाएँ (सङ्गत्य) मिलकर (ते वरीयः-अक्रन्) तेरे लिये बहुत

१ "उहं द्वि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवाउ" [ऋ० १.२.८.८]

२ "वरुणाय धर्मस्य पतये" [मै० २.१.६.६]

३ "बहुवचनमादरार्थम्"

४ "ह्वयति-अर्चतिकर्मा" [मिथ० ३.१.१४]

भेंट को समर्पित करती है (ताः सर्वाः संविदानाः-ह्वयन्तु) वे सब संकल्प-प्रतिज्ञा बद्ध हुईं तुझे अर्चित करती हैं-करें (उग्रः) तू प्रतापी हुआ (इह) इस राष्ट्र में (सुमनाः) निश्चिन्त तथा पवित्र मनवाला हुआ (दशमीं वश) दशमी दिक्-दिशा पृथिवी को^१ स्वाधीन करके ॥ ७ ॥

पञ्चम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर)

देवता—सोमः पर्णमणिः (सोमऋषि रूपा मणि)

आयमगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।

ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥१॥

वक्तव्य—सोम ही पर्ण है “सोमो वै पर्णः” [श० ६।५।१।१] इसी सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में भी कहा है “सामस्य पर्णः” सोम का पर्ण-पत्ता पर्णमणि है। सोम एक बहुमूल्य ऋषि है उसे पास रखना, उसे चबाने खाने स्वरस पीने आदि में उपयोग करना यहाँ लक्ष्य है। अब मन्त्रार्थ करते हैं—

(अयम्) यह (बली) बलवान् बलवर्धक (पर्णमणिः) सोम पत्र रूप मणि (बलेन) बल प्रदान द्वारा (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) विनष्ट करने के हेतु^२ (आगन्) मेरे अन्दर तरङ्गों के रूप में आ जाता है जो (देवानाम्) आकाश के दिव्य पदार्थों का (ओजः) ओजः स्वरूप दिव्य तेज बल रूप है, तथा (ओषधीनां पयः) पृथिवी पर उगने वाली ऋषियों का

१ चतस्रो दिशो मुख्याः पूर्वाद्यः, चतस्रः उपदिशः कोणदिशः इत्यष्ट, ऊर्ध्वा नवमी, पृथिवी दशमी दिक् “इयंपृथिवी ध्रुवा” [काठ० १२।२]

२ “लक्षणहेत्वोः क्रियायाः” [अष्टा० ३।२।१२६]

सार है, वह (अग्रयावत्) न अलग होने वाला मेरे अन्दर सात्म्य होने वाला (मा) मुझे (वर्चसा) प्रताप से (जिन्वतु) तृप्त करे-पूरण करे ॥ १ ॥

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम् ।

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥२॥

(पर्णमणे) हे सोमपर्ण मणि ! तू (मयि) मेरे अन्दर ऐश्वर्य को (धारयतात्) धारण करा (अहम्) मैं (राष्ट्रस्य-अभिवर्गे) तेरे सेवन से राष्ट्र के मण्डल-प्रतिष्ठित जनसंसार में (उत्तमः-निजः-भूयासम्) श्रेष्ठ तथा उसका अपनाया हुआ हो जाऊं ॥ २ ॥

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।

तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥३॥

(देवाः) विद्युत् आदि दिव्य पदार्थों ने (वनस्पतौ) वनस्पति वर्ग में (यं गुह्यं प्रियं मणिम्) जिस रहस्यमय प्रिय मणि को (निदधुः) रखा है (तम्) उसको (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आयुषा सह) आयु के साथ (देवाः) वे देव-दिव्य पदार्थ (भर्तवे) भरण-पोषण धारण करने के लिये (ददतु) देवें ॥ ३ ॥

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः ।

तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥४॥

(सोमस्य पर्णः) सोम का पत्र (उग्रं सहः) उग्र बलस्वरूप है (इन्द्रेण दत्तः) सूर्य द्वारा दिया हुआ (वरुणेन शिष्टः) चन्द्रमा के द्वारा विशिष्ट गुण सम्पन्न किया हुआ (आगन्) प्राप्त हुआ है या प्राप्त है (तं बहुरोचमानः) उस बहुत रोचमान-रुचिकर को (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय)

१ "या धातो वनिप्" "आतो मनिन्क्वनिव्वनिपश्च" [अष्टा० ३।२।७४]

पुनः सुविभवतेर्लुक् "सुपांसुलुक्" [अष्टा० ७।१।३७]

२ "सुपां सुलुक्" [अष्टा० ७।१।३९] इति अम् स्थाने सु प्रत्ययः ।

सौ वर्ष के लिये दीर्घ जीवन पाने के लिए (प्रियासम्) पसन्द करता हूँ-अच्छा मानता हूँ, चाहता हूँ ॥ ४ ॥

आ मारुक्षत् पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।

यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥५॥

(पर्णमणिः) सोमपत्र रूपमणि (मह्यं) महती (अरिष्टतातये) कल्याणकारिता के लिये (मा) मेरे प्रति (मारुक्षत्) आरोहण करे-बढ़े-बढ़-बढ़ कर प्राप्त हो (यथा) जिससे कि (अहम्) मैं (अर्यम्णः) शत्रुओं को नियन्त्रित स्वकश करने वाला^१ चक्रवर्ती राजा का (उत) तथा (संविदः) सम्यक् विदित प्रसिद्ध (उत्तरः) उत्कृष्टतर बढ़ा-चढ़ा यशस्वी प्रतापी (असानि) होऊं ॥ ५ ॥

ये धीवानो स्थकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।

उपस्तीन् पर्णं मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥६॥

(ये) जो (धीवानः) धीमान् ब्राह्मण-इंजिनियर (स्थकाराः) यान आदि यन्त्र बनाने वाले शिल्पी कलाकार (कर्माराः) कर्म करने वाले-श्रमिकजन (ये) जो (मनीषिणः) मनस्वी ऋषि मुनि योगी जन हैं (सर्वान्) उन सब को (पर्णं) हे सोमपत्रमणि ! (त्वम्) तू सेवन में आया हुआ मेरे अन्दर अद्भुत गुण लाकर (मह्यम्-उपस्तीन्-अभितः-कृणु) मेरे लिये पास रहने वाले कर ॥ ६ ॥

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।

उपस्तीन् पर्णं मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥७॥

१ "अर्यमा-अरीन् नियच्छति" [निरु० ११।२२]

(ये) जो (राजकृतः-राजानः) राजा को बनाने वाले राजा लोग है (ये सूताः) जो मन्त्रीजन (च) और (ग्रामण्यः) ग्रामनेता मुख्य जन (उपस्तीव) इन्हें मेरे पास रहने वाले कर ॥ ७ ॥

पुर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।

संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥८॥

(मणे) हे सोमपत्र रूप मणि ! तू (मया वीरेण) मुझ वीर राजा के साथ (सयोनिः) समानाश्रयी-एकाङ्ग (वीरः) वीर स्वरूप-वीस्ताप्रद गुणों वाला (तनूपानः) शरीररक्षक (पर्णः) पत्र (असि) हो-बन^१ (तेन) तिसलिये-इसलिये (संवत्सरस्य तेन तेजसा) मूर्य के तेज से युक्त (त्वा बध्नामि) मैं पुरोहित तुझ मणि को बांधता हूं सुरक्षित रखता हूं ॥८॥

षष्ठ सूक्त

ऋषिः—जगःबीजं पुरुषः (परमात्मा)

देवताः—अश्वत्थः (घोड़े पर चढ़ा सैनिक)

पुमान् पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।

सं हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेषिं ये च माम् ॥१॥

(पुंसः पुमान् परिजातः) पौरुष शक्तिमान् से पौरुषशक्तिमान् घोड़े पर परिशोभित प्रसिद्ध होता है (खदिरात्-अधि-अश्वत्थः) जैसे-खदिर-सारवान् के ऊपर पीपल सारवान् हुआ करता है^२ (सः-मामकान्-शत्रून्-हन्तु)

१ "लिङ्गर्थे लेट्" [अष्टा० ३ । ४ । ७]

२ "लुप्तोपभावाचकालङ्कारः" "खदिरो दारूणां बहुसारः"

[श० १३ । ४ । ४ । ९]

वह पौरुष शक्तिमान् मेरे शत्रुओं को नष्ट करे (यान्-अहं द्वेषिम् ये च माम्)
जिनके प्रति मैं द्वेष करता हूँ और जो मेरे प्रति द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

तान्श्वत्थ निःशृणीहि शत्रून् वैबाध दोधतः ।

इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥२॥

(अश्वत्थ) सारवान् खदिर पर खड़े पीपल के समान-घोड़े पर चढ़े
वीर पुरुष तू (तान्) उन (वैबाध दोधतः) विविध बाधा पीड़ा पहुंचाना
कार्य जिनका है, ऐसे क्रोध करते हुए^१ (शत्रून्) शत्रुओं को (निःशृणीहि)
निःशेष नष्ट कर (वृत्रघ्ना-इन्द्रेण) शत्रुनाशक वैद्युतास्त्रधारी द्वारा (मित्रेण)
वायव्यास्त्रवान्^२ के साथ (वरुणेन) वारुणास्त्रवान् के साथ (च) और
(मेदी) स्नेही बना हुआ ॥ २ ॥

यथाश्वत्थ निरभ्नोऽन्तर्महत्यर्णवे ।

एवा तान्सर्वाभिर्भङ्घि यानहं द्वेषिम् ये च माम् ॥३॥

(यथा) जिस प्रकार (अश्वत्थ) हे अश्व पर स्थित वीर ! तू
(महति-अर्णवे-अन्तः-निरभन्) महान् प्राण-प्राणवान्^३-प्राणी समुदाय में
प्रविष्ट होकर उसे ललकारता है^४ (एव) ऐसे ही (तान् सर्वाभिर्भङ्घि)
उन शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करदे शेष पूर्ववत् ॥ ३ ॥

यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।

तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्साहिषीमहि ॥४॥

१ "दोधति ऋध्यतिकर्मा" [निघ० २ । १२]

२ "अयं वै वायुमित्रो योज्यं पवते" [शि० ६ । ५ । ४ । १४]

३ "प्राणो वा अर्णवः" [श० ७ । ५ । २ । १५]

४ "भण भाषार्थः" [भ्वादि०] मतुब्लोपश्छान्दसः ।

(अश्वत्थ) हे अश्व पर स्थित-घुड़सवार सैनिक वीर ! (सासहानः-
श्वभः-इव) अश्वों को बहुत दबाते हुए साण्ड के समान (सहमानः-चरसि)
शत्रुओं को सहने-अपने बल के अधीन करता हुआ विचरता है (तेन त्वया)
उस तेरे साथ (वयं सपत्नान् सहिषीमहि) हम शत्रुओं को सह सकें-स्वाधीन
कर सकें दबा सकें, दबा सकते हैं ॥ ४ ॥

सिनात्वैनान् निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः ।

अश्वत्थ शत्रून् मामकान् यानहं द्वेषिं ये च माम् ॥५॥

(अश्वत्थ) हे घुड़सवार सैनिक (एनान् मामकान् शत्रून्) इन मेरे
शत्रुओं (यान्-अहं द्वेषिं ये च माम्) जिनके प्रति में द्वेष करता हूँ और
जो मेरे प्रति द्वेष करते हैं उन्हें (निर्ऋतिः) पापरूप कृच्छ्रापत्ति (मृत्योः
पाशैः-अमोक्यैः सिनातु) मृत्यु के न छूटने वाले पाशों बन्धनों से बान्ध दे
बान्धती है ॥ ५ ॥

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेऽधरान् ।

एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वक् भिन्द्व सहस्व च ॥६॥

(अश्वत्थ) हे अश्व पर स्थित वीर सैनिक ! तू (यथा) जिस
प्रकार ! (वानस्पत्यान्-आरोहन्) प्राणों^१ से प्रसिद्ध-प्राणों से युक्त-प्रबल प्राण
वाले शक्तिशाली जनों पर आरोहण करता हुआ (अधरान्-कृणुषे) उन्हें नीचे
करता है प्रभावित करता है (एवा) ऐसे ही (मे शत्रोः-मूर्धानम्) मेरे शत्रु
के मूर्धा को (विष्वक्-भिन्धि) सब ओर से भेदन कर (च) और (सहस्व)
उसको स्वाधीन कर ॥ ६ ॥

तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।

न वैवाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्त्तनम् ॥७॥

१ "प्राणो हि वनस्पतिः" [ऐ० २ । ४]

(ते-ग्रधराश्वः) वे नीचे ताड़े हुए शत्रुजन (प्रप्लवन्ताम्) बह जावें (बन्धनात् छिन्ना नोः-इव) रस्से या श्रद्ध-खला बन्धन से अलग हुई नौका के समान (बैबाध प्रणुतानाम्) विविध बाधक-शत्रु प्रहारों से प्रहृतों-साधितों का (पुनः-निवर्तनं न-आस्ते) पुनः लौटना नहीं होता है ॥ ७ ॥

प्रैणान् नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ।

प्रैणान् वृक्षस्य शाखयाश्चत्थस्य नुदामहे ॥८॥

(एनात्) इन शत्रुओं को (मनसा प्र-नुदे) मन से मनोबल मनन से फटकारता हूँ (चित्तेन प्र०) चित्त बल से चिन्तन से-विचार से फटकारता हूँ (ब्रह्मणा) महती-बुद्धि-या अहङ्कार से फटकारता हूँ न केवल बाहिरी साधन से (एनात्) इन शत्रुओं को (अश्चत्थस्य वृक्षस्य शाखया नुदामहे) पीपल वृक्ष की शाखा बाण लग्न से या छेदन करने वाले घोंडे पर स्थित वीर सैनिक की शक्ति^१ अस्त्र के प्रहार से ताड़ित करते हैं ॥ ८ ॥

सप्तम सूक्त

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः (तेजस्वी प्राणवाक्)

देवता—१-३ हरिणः, ४ विचृत्वी तारके, ५ आपः ६-७ यक्षमनाशनम् ॥

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम् ।

स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥१॥

(रघुष्यदः) तीव्रगति वाले (हरिणस्य) हरिण के (शीर्षणि-अधि) शिर में (भेषजम्) ओषध है 'सींग' है (सः) वह हरिण (विषाणया)

१ "वृक्षो वृश्चनात्" [निरु० २ । ६]

२ "शाखा शक्नोते" [निरु० ६ । ३२]

सींग से (विषूचीनं क्षेत्रियम्) फैलने वाले या विशेष शूल पीड़ा प्रद माता पिता से जन्म से आए रोग को (अनीनशत्) नष्ट कर देता है ॥ १ ॥

अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् ।

विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षत्रियं हृदि ॥२॥

(विषाणे) हे सींग-हरिण के सींग (त्वा-अनु) तेरे साथ तेरे गुणों के अनुसार (वृषा हरिणः) बलवान् हरिण (चतुर्भिः-पद्भिः) चार पैरों से (अक्रमीत्) दौड़ता है, अतः (अस्य) इस रोगी के (हृदि) हृदय में (यत्) जो (क्षेत्रियम्) माता, पिता या जन्म से प्राप्त रोग (गुष्पितम्) गुष्पित-ग्रन्थित-जमा बैठा है उसे (विष्य) विनष्ट कर ॥ २ ॥

अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव छ्छदिः ।

तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गैभ्यो नाशयामसि ॥३॥

(अदः) वह (यत्) जो (छ्छदिः) छत के समान हरिण (चतुष्पक्षम्-इव) चारों पक्षों-चारों कोणों-चारों रंगों से युक्त (अवरोचते) नीचे पृथिवी पर खड़ा अच्छा लगता है (तेन) उससे-उसके सींग के द्वारा (ते) तेरे (अङ्गैभ्यः) अङ्गों से (सर्वं क्षेत्रियम्) सब क्षेत्रिय रोग को (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।

वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥४॥

(दिवि) द्युलोक में-आकाश में (अमू ये) वे जो (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्य के सम्पादक (नाम) स्पष्ट-प्रत्यक्ष (विचृतौ तारके) विशेष ग्रन्थित-पिण्डरूप सूर्य चन्द्र ग्रह हैं, वे दोनों (क्षेत्रियस्य) क्षेत्रियरोग के (अधम-पाशम्) कठिन कष्ट बन्धन को (विमुञ्चताम्) छुड़ावें ॥ ४ ॥

आप इद् वा उं भेषजीरापो अमीवचातनीः ।

आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥५॥

(आपः) बहते हुए वृष्टि जल तथा फैलते हुए भाप जल (इत्-वै-उ) अवश्य ही (भेषजीः) औषधरूप हैं (आपः) वे जल (अमीवचातनीः) रोगों को नष्ट करने वाले हैं (आपः) वे जल (विश्वस्य भेषजीः) समस्त रोग का औषध है (ताः) वे जल (त्वा) हे रोगी ! तुम्हें (क्षेत्रियात्) क्षेत्रियरोग से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ५ ॥

यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे ।

वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥६॥

(आसुतेः क्रियमाणायाः) प्रसूति की जाति हुई का-प्रसव बेला का (यत्) जो (क्षेत्रियम्) क्षेत्रियरोग (त्वा) हे रोगी ! तुम्हें (व्यानशे) तुम्हें व्याप्त हो गया है (तस्य) उसका (भेषजम्) औषध (ग्रहम्) मैं (वेद) जानता हूँ (त्वत्) तुझ से (क्षेत्रियं नाशयामि) क्षेत्रिय रोग हूँ नष्ट करते हैं ॥ ६ ॥

अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत् ।

अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥७॥

(नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (अपवासे) समाप्त हो जाने पर-छिप जाने पर (उत) तथा (उषसाम्) उषाओं के-उषा के (अपसवासे) समाप्त काल में (अस्मत्) अस्मात्, इस रोग (अपोच्छतु) दूर होवे (उत) तथा (क्षेत्रियम्) क्षेत्रियरोग (आपोच्छतु) दूर होवे ॥ ७ ॥

मातापिता से आये जन्म के हृदय रोग तथा अन्य प्रसव रोग, कुछ अण-बवासीर, वातरोग-गठिया आदि को बारहसिंगे के सींग-उसके स्पर्श, लेप,

पान, भस्म से^१ तथा सूर्यताप, चान्द की चान्दनी में बैठने, रात्रि के अन्तिम भाग, उषा बेला में बैठने, भ्रमण आदि से दूर हो जाते हैं ॥

अष्टम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर-अडिग)

देवता—१-४ मित्रादयो विश्वे देवाः, ५-६ मनः ।

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्त्रियाभिः ।

अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥१॥

(मित्रः) मृति-मृत्यु से त्राण करने वाला सूर्य^२ (पृथिवीम्) पृथिवी को (उस्त्रियाभिः संवेशयन्) किरणों से पूरित करता हुआ (ऋतुभिः कल्पमानः) बसन्त आदि ऋतुओं से समर्थ बनाने के हेतु (आयातु) आवे-प्राप्त होवे-होता है (अथ) अनन्तर (वरुणः-वायुः-अग्निः) आकाशीय-आकाश में फैलने वाला जल वायु और अग्नि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (संवेश्यं बृहत्-राष्ट्रं दधातु) बसने योग्य महात् राष्ट्र-भूभाग सम्पादित करे ।

सूर्य द्वारा पृथिवी पर ऋतुसंचार तथा उसके चारों ओर आकाश में सूक्ष्म जल बरसने योग्य, वायु अग्नि का प्रादुर्भाव भी मानवों के जीवन हेतु प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

धाता रातिः संवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः ।

हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्टा यथासानि ॥२॥

१ “दग्धमनिर्गतधूममृगशृङ्गं । गोधृतेन सह लीडम् । हृदयनितम्बशूलं हरति शिखीदारु निह्वामिव” [भैषज्यरत्नावली शूलरोगाधिकार ५४]

२ “मित्रः प्रमितेस्त्रायते” [निरु० १० । २१]

“मित्रो दाधार पृथिवीमुत्तचाम्” [ऋ० ३ । ५९ । १]

(धाता) पुरोहित^१ (रातिः) दानाध्यक्ष (सविता) प्रेरक निजमन्त्री (इदं जुषन्ताम्) इस राष्ट्र को मेरे साथ सेवन करें (इन्द्रः) इस पृथिवी को दीर्घ करने वाला कृषक^२ (त्वष्टा) पशुरक्षक^३ (मे वचः प्रतिहर्यन्तु) ये तथा वे सब मेरे आदेश को चाहें-स्वीकार करें (अदिति देवीं शूरपुत्रां हुवे) शूर पुत्रों वाली राष्ट्र भूमि^४ देवी को अपनाता हूँ-उसे उपयोगी बनाता हूँ (यथा) जिससे (सजातानां मध्यमेष्टा-असामि) समान शासकों में समान वंश वालों के मध्य में होने वाले प्रतापी यशस्वियों की श्रेणि में मैं हो जाऊं ॥ २ ॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्यां अहमुत्तरत्वे ।

अयमग्निर्दीदायद् दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥३॥

(अहम्) मैं राष्ट्रपति (सोमं सवितारं नमोभिः-हुवे) शान्तस्वरूप ब्राह्मण ऋषि को तथा राष्ट्रकल्याणार्थ राष्ट्रचालक सचिव को अग्नादि विविध उपहारों द्वारा सत्कृत करता हूँ (विश्वान्-आदित्यान्-उत्तरत्वे) समस्त-इस अदिति-पृथिवी राष्ट्र भूमि के वासियों के ऊपर शासकरूप विराजमान होने के लिये राजपद पर त्रिराजमान होता हूँ (अप्रतिब्रुवद्भिः सजातैः) समानवंशीय प्रतिवाद न करने वाले-अप्रतिकूल बोलने वालों-अनुकूल बोलने वालों के साथ (इद्धः) प्रतापवान् (अयम्-अग्निः) यहराजसूयकी अग्नि (दीर्घम्-एव दीदयत्) दीर्घकाल तक प्रकाशित रहे ॥ ३ ॥

१ "पुरोहितः-पुरोदधाति" धाता अत्राय जुहोतु [तै० सं० ३।३।१०।१]

२ "इन्द्रं वयं शुनासीरमस्मिन् यज्ञे हवामहे" [काठ० २१।१४]

३ "त्वष्टा वै पशूनाभीष्ट" [श० ३।७।३।११]

४ "अदितिः पृथिवी" [निघ० १।१]

५ "सोमो वै ब्राह्मणः" [काठ ११।५]

६ "यद्धि कल्याणं तस्मै सविता प्रसवति" [काठक सं० ४९।१]

७ "ह्वयति-अर्चति कर्मा" [निघ० ३।१४]

इहिसाथ न परो गमाथेयीं गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।

अस्मै कामायोर्ष कामिनीविश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥४॥

(इह-इत्-असाथ) हे प्रजाओं ! तुम इस ही राष्ट्र में सुख से रहो (न परः-गमाथ) राष्ट्र से बाहर न जाओ (अयं-गोपाः पुष्टपतिः) प्रजाधिकारी गोरक्षक पोष का अधिकारी (वः-आजत्) तुम्हें प्राप्त है^२ (वः कामिनीः) तुम सुख की कामना करने वालियों को (अस्मै कामाय) इस समस्त राष्ट्र या प्रजागण की कामनापूर्ति के लिये (विश्वेदेवाः-उपसंयन्तु) तुम्हारे राष्ट्रधिकारी विद्वान् उपलब्ध है ॥ ४ ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।

अमी ये विव्रता स्थन तान् वः संः नमयामसि ॥५॥

(वः-मनांसि संनमामसि) हे प्रजाजनों ! तुम्हारे मनों को एकता में ढालता हूँ (व्रता सम०) तुम्हारे कर्मों को एकता में ढालता हूँ (आकूतीः सम०) तुम्हारी अहमन्यताओं को एकता में ढालता हूँ (ये-अमी विव्रताः-स्थन) जो वे तुम विविध कर्मशक्ति वाले हो (तान् वः-संनमयामसि) तुमको अपनी कर्मशक्ति में ढालता हूँ ॥ ५ ॥

अहं गृष्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्तमान एत ॥६॥

(अहं मनांसि मनसा गृष्णामि) हे प्रजाजनों मैं तुम्हारे मनों को अपने मन से ग्रहण करता हूँ-तुम्हारे मनो भावों को अपने मन से अपनाता हूँ-पुनः करता हूँ-करूंगा (मम चित्तम्-अनुचित्तेभिः-एत) मेरे चित्त-चिन्तन के अनुसार अपने चित्तों से चलो (वः-हृदयानि) तुम्हारे हृदय-

“इरा-अन्ननाम” [निघ० २।७]

“अज गतिकेपणयोः” [श्वादि०]

हादिक अभिक्रांतायें (जैम बक्षिषु कृणोमि) मेरे-अपने बसों में-अधिकारों में करता हूँ (मम यातं वर्तमानः-एत) मेरे चलने को लक्ष्य बनाकर यात्री बनकर चली ॥ ६ ॥

नवम सूक्त

ऋषिः—वामदेवः (वननीय देव जिसका है ऐसा आस्तिक)

देवता—द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः ।

कर्शफस्य विशफस्य द्यौषिता पृथिवी माता ।

यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः ॥१॥

(देवाः) हे विद्वानों ! (कर्शफस्य विशफस्य) कर-हाथरूप^१ कुंज वाला प्राणी रीछ, व्याघ्र, भेड़िया आदि का (विशफस्य) विशेष शफ कुंज जिसका है^२ गौ घोड़ा ऊंट हाथी आदि पशु का (द्यौः-पिताः) सूर्यपिता-पालक (पृथिवी माता) पृथिवी आश्रय दात्री जननी है (यथा) जैसे (अभिचक्र) इनको उत्पन्न करे (तथा) वैसे (पुनः-अप कृणुत) फिर तुम यथा योग्य व्यवहार द्वारा अपने को उनसे बचाओं या स्वाधीन करो ॥ १ ॥

अश्रेष्माणो अधारयन् तथा तन्मनुना कृतम् ।

कृणोमि वाधि विष्कन्धं मुष्कावर्हो गवामिव ॥२॥

(अश्रेष्माणः) अनासक्त-रागद्वेषरहित जन (अधारयन्), उन वन्य और ग्राम्य पशुओं को धारण करते हैं उपयुक्त बनाते हैं (तथा) वैसे ही (मनुना तत् कृतम्) सर्वज्ञ परमात्मा ने उनका रचन किया है तथा (वाधिकृणोमि) बन्धन योग्य करता हूँ स्वाधीन करता हूँ रस्ती नके

१ "अस्मदो द्वयोश्च" [अष्टा० १ । २ । ५९]

२ "अकारलोपश्छान्दसः ।

शृङ्खला आदि द्वारा (गवां विष्कन्धम्-इव) गौश्रो में विशेष कन्धे वाले बाल की भांति, जैसे (मुष्काबहः) अण्डकोश कुचला गया जैसा उसे कर देते है स्वाधीन करलेते हैं ॥ २ ॥

विशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बन्धन्ति वेधसः ।

श्रवस्युं शुष्मं कावधं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥३॥

(वेधसः) मेघावी जन^१ (पिशङ्गे सूत्रे) मांसल सूत्र-तान्त के रस्से में (खृगलम्) खनन करने के लोह को भी चला लेता-पचा लेता है उस ऐसे गेण्डे को भी (बन्धन्ति) बाँध लेते (तदा) तब फिर (बन्धुरः) बान्धने वाले^२ (श्रवस्युं शुष्मं कावधम्) प्रसिद्ध शोषक वा बलवान्^३ कबरे वर्ण वाले सर्प को (वध्रिं कृण्वन्तु) बन्धन योग्य करते हैं ॥ ३ ॥

येन श्रवस्यवध्ररथ देवा इवासुरमायया ।

शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काववस्य च ॥४॥

(येन) जिस व्यवहार से (श्रवस्यः- चरथ) अन्न चाहने वाले दुम खेग विचरते हो (असुरमायया) प्राणप्रद परमात्मा की बुद्धि कुशलतः से देवों के समान (शुनां कपिः-इव दूषणः) कुत्तों का दूषण करने वाला-घुड़कनेवाला बन्दर जैसे (काववस्य च बन्धुरा) और कबरे सर्प के बान्धने वाले भी ऐसे ही विचरते हैं ॥ ४ ॥

दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काववम् ।

उदाश्वो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥५॥

हे दुष्ट प्रवृत्तिवाले (काववं त्वा) कबरे सांप से जैसे तुझको (दुष्ट्यै हि) दुष्टता के कारण (भत्स्यामि) बांधूंगा (दूषयिष्यामि)

१ "वेधाः मेघाविताम" [निघ० ३ । १५]

२ अम् स्थाने सुः ।

३ "शुष्मं बलनाम" [निघ० ३ । ९] मतुष्कोपमच्छान्दसः ।

ठहराऊंगा (रथाः-भाशवः-इव) रथस्थ-रथमें बन्धे घोड़ों की भांति (शपथेभिः) फट्कार बचनों के द्वारा (उत्-सरिष्यथ) यथावत् मार्ग में चलोगे ।

दुष्ट मनुष्य विनाफट्कार और बन्धन के सर्पवृत्ति न छोड़ेंगे, उन्हें फट्कारों तथा रथ में बन्धे घोड़ों के समान ठीक मार्ग पर चलाना चाहिए ॥ ५ ॥

एकाशतं विष्कन्धानि विष्टिता पृथिवीमनु ।

तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणि विष्कन्धदूषणम् ॥६॥

(पृथिवीम्-अनु) राष्ट्रभूमि पर (एकाशतं विष्कन्धानि विष्टिता) एक-अकेले प्रजापालक राजा के सौ-सैकड़ों कन्धों से विगत करने वाले-निर्वीर्य करने वाले दुष्ट जन विराजमान हैं (तेषाम्-अग्रे) उनके-उनके सामने उठने वाले (त्वां विष्कन्धदूषणं मणिम्-उज्जहरुः) कन्धे तोड़ने वालों को निर्बल करने वाले तुझ शिरोमणि राजा को प्रजाएँ ऊपर उठाती हैं शिरोघायक करती हैं ॥ ६ ॥

दशम सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिर जन)

देवता—अष्टका (प्रलयानन्तर सृष्टि)

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद् यमे ।

सा नः पर्यस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥१॥

१ "प्रजापतिर्वा एकः" [तै० ३ । ८ । १६ । १]

(यमे) संसार मार्ग में^१ (प्रथमा ह व्युवास) वह प्रथम सर्व प्रथम-
प्रमुख एकाष्टा^२ प्रथमा व्यापने वाली महा प्रलयानन्तर रात्रि^३ रात्रिरूप उषा-
उषा-दिन का पूर्वरूप-कल्पारम्भ बेला^४ उदित हुई-विशेष रूप फैली-विकसित
हुई (सा धेनुः-अभवत्) वह तृप्त करने वाली या सुषुप्ति में पड़े जीवों को
जाग्रत करने वाली धेनु-दुधारी गौ के समान प्रकट हुई (सा) वह (नः)
हमारे लिए (उत्तराम्-उत्तरां समाम्) आगे प्रातर्वेला अवसर पर^५
(पयस्वती दूहाम्) प्राणवती प्राणों को दुहती^६ रहे ॥ १ ॥

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम् ।

संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥२॥

(देवाः) विद्वान् जन (याम्-उपायतीं रात्रिं धेनुं प्रति नन्दन्ति)
जिस उपन्नत होती हुई-जीवन में उपयुक्त होती हुई प्रतिदिन रमणीया जीवन
दात्री प्रातर्वेला रूप तृप्ति को प्रशंसित करते हैं-पसन्द करते हैं (या
संवत्सरस्य पत्नी) जो आगे प्रवर्तमान विश्वकाल-या काल की पत्नी-काल
सन्तति षडी, प्रहर, दिन, पक्ष, मास ऋतुओं की प्रकट करने वाली है (सा
नः सुमङ्गली-अस्तु) वह हमारे लिये सुमङ्गल उत्तम कल्याण वाली हो ॥२॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्योर्षेण सं सृज ॥३॥

१ "यमः पन्थाः" [तै० २ । ५ । ७ । ३]

२ "एकाष्टके" [अथर्व० ३ । १० । ५]

३ "ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततोराल्यजायत" ।

४ "प्राजापत्यमेतदहर्षदष्टकाः" [श० ६ । २ । २ । २३]

५ "समाभिरेवाग्निः ऋतून् वर्धयति [काठ २० । १]

६ "प्राणः पयः" [श० ६ । ५ । ४ । १५]

(रात्रिः) हे रात्रिः-प्रातर्बेला ! तू (संवत्सरस्य प्रतिमा) संवत्सर-विश्वकाल एवं वर्ष की प्रतिमान कराने वाली-प्रति बोधका या आधाररूपा है (यां त्वा-उपास्महे) जिस तुझ को हम सेवन करें-जीवन में चरितार्थ करें-ब्रह्मयज्ञ-जीवनयज्ञ का अनुष्ठान करें^१ (सा नः-आयुष्मतीं प्रजाम्) वह तू हमारी आयु वाली प्रजा-सन्तति करती हुई (रायः-पोषेण संसृज) धनैश्वर्य भोगादि के पोष-लाभ से संसृष्ट-संयुक्त कर ॥ ३ ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।

महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्बधूर्जिगाय नवगज्जनिनी ॥४॥

(इयम्-एव) यह ही (सा प्रथमा व्यौच्छत्) यह प्रथम सृष्टि के आरम्भ में प्रकट हुई उषा-प्रातर्बेला है (आसु-इतरासु प्रविष्टा चरति) अन्य उषाओं-प्रातर्बेलाओं में मानों प्रविष्ट हुई आ रही है (अस्याम्-अन्तः) इसमें-इसके अन्दर (महान्तः-महिमानः) बड़े महिमा वाले दिव्य पदार्थ या गुण है (नवगत-जनिनी बधुः-जिगाय) नवीन प्राप्त हुई जननी बधु की भांति प्रभाव डाल रही है ॥ ४ ॥

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत ह्विष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।

एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥५॥

(एकाष्टके) हे प्रथम संख्या वाली आदि सृष्टि वाली रात्रि रूप उषा बेला ! तुझे लक्ष्यकर (वानस्पत्याः-ग्रावाणः) आरम्भ सृष्टि में प्राणों से युक्त^२ विद्वान् वैदिक ऋषि^३ (परिवत्सरीणम् ह्विः-कृण्वन्तः-वयम्) सूर्य सम्बन्धी^४

१ "संवत्सरस्य प्रतिमा यां त्वा रात्रि यजामहे" [२।२।१८]

२ "प्राणो वै वानस्पतिः" [ऐ० २।४]

३ "विद्वान्सो हि ग्रावाणः" [श० ३।९।३।१४]

४ "सूर्यः परिवत्सरः" [तां० १४।१३।१७] "वत्सरान्तश्छन्दसिसंपरिपूर्वात् ख च" [अष्टा०-५।१।९१] इतिख प्रत्ययः ।

मास एव वर्ष को^१ सेचन करते हुए हम (सुप्रजसः सुवीराः) उत्तम प्रजनन शक्ति वाले, उत्तम पुत्रों वाले^२ तथा (रयीणां पतयः स्याम) धत्तैश्वर्यों के स्वामी होंगे ॥ ५ ॥

पुनश्च—

इडायास्पदं धृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय ।

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥६॥

(जातवेदः) उत्पन्न होते ही जानने योग्य प्रसिद्ध अग्नि ! तू (इडायाः-पदम्) पृथिवी^३ के प्राप्तव्य या प्राप्त स्थान को (धृतवत्) जलवाले^४ (सरीसृपम्) पुनः पुनः हल द्वारा तैयार किये जाने वाले (हव्या प्रति) हव्यों को लक्ष्य कर-शोधन वनस्पतियों को लक्ष्यकर (गृभाय) ग्रहण करा (ये ग्राम्याः पशवः-विश्वरूपाः) जो सब रूपों वाले ग्रामीण गौ आदि पशु हैं (तेषां सप्तानाम्) उन सातों या आने वालों की (रन्तिः) रमणीयता-सुखलाभ (मयि) मेरे निमित्त (अस्तु) हो ॥ ६ ॥

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम ।

पूर्णा देवे परा पत सपूर्णा पुनरा पत

सर्वान् यज्ञान्त्संशुञ्जतीषभूर्जे न आ भर ॥७॥

(रात्रि) हे रात्रि-उषो वेला ! (मा) मुझे (पुष्टे च पोषे च अत्र) पुष्ट-पक्व-पोष-पोषणीय, सम्प्रति प्राप्त कृषि के पक्व फल और अविध्य में पकने

१ “मासा हवीषि” [श० ११।२।७।३] “वर्षं हविः [गो० १।१।३२]

२ “पुत्रो वै वीरः” [श० ३।३।१।१२]

३ “इडा पृथिवीनाम” [निघ० १।१]

४ “धृतमुदकनाम [निघ० १।१२]

पकाने योग्य कृषिफल के निमित्त 'आगच्छ' आ प्राप्त हो' (देवानां सुमतौ स्याम) हम वैदिक विद्वानों की कल्याणकारी मति में चलें (दर्वे) हे अन्धेरे को दीर्घ करने वाली उषोवेला ! तू (पूर्णा परापत) पूर्ण दिन का रूप धारण करके आगे बढ़ (पुनः) अगले दिन (सुपूर्णा) सुपुष्ट हुई (आपत) प्राप्त हो इस प्रकार (सर्वान् यज्ञान्) सारे यजनीय सङ्गमनीय प्राप्तव्य कर्म फलों को (भुञ्जती) भोग कराने हेतु हुई-बनी (नः) हमारे लिये (इषम्-ऊर्जम्-आ भर) अन्न रस को आभरित कर ॥ ७ ॥

आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥८॥

(एकाष्टके) हे प्रथमा व्यापने वाली उषो बेला ! (तव पतिः) तेरा पतिरूप (अयं संवत्सरः-आगत) विश्वकाल या वर्षकाल आ गया-आ जाता है तेरे प्रादुर्भूत होने के साथ ही वर्तमान हो जाता है-तेरे द्वारा क्षण षड़ी मुहूर्त प्रहर दिन पक्ष मास ऋतुओं को उत्पन्न करने वाला (सा) वह तू (रायः-पोषेण) धनैश्वर्य भोग के पोष सहित (नः प्रजाम्-आयुष्मतीं संसृज) हमें आयुवाली-दीर्घ जीवन वाली सन्तति को सङ्ग्राह कर ॥ ८ ॥

ऋतून् यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।

समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥९॥

(भूतस्य पतये यजे) उत्पन्न जगत् के पति परमात्मा मैं अपने को समर्पित करता हूँ अध्यात्म याजक-शात्मयाजी बनूँ, तदर्थ जगत् में उसके निमित्त (ऋतून्) ऋतुओं को (ऋतुपतीन्) सूर्य वायु पृथिवी को (भार्तवान्) ऋतु विभाग दो दो मासों को (हायनान्) धान्यों को पकाकर छोड़ने वाले षड् मासात्मकों (समाः) चान्द्रवर्षों गत विभाग पक्षों को

(संवत्सरात्) सूर्यप्रमित वर्षों (मासान्) मासों को (यजे) मैं यजन करता हूँ-प्रत्येक काल सन्धि पर अर्ध्यात्म यजन चलाता हूँ ॥ ९ ॥

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।

धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥१०॥

(त्वा) तुझे लक्ष्यकर (ऋतुभ्यः) ऋतुओं के लिये (आर्तवेभ्यः) ऋतु भागों दो-दो मासों के लिये (माद्भ्यः) मासाद्मासों के लिये (संवत्सरेभ्यः) वर्षों के लिये (धात्रे) धारण करने वाले (विधात्रे) उत्पन्न करने वाले (समृधे) संहार करने वाले (भूतस्य पतये यजे) जगत् के स्वामी के लिये यजन करता हूँ ॥ १० ॥

इड्या जुह्वतो वयं देवान् घृतवता यजे ।

गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥११॥

(वयं जुह्वतः) हम होम करते हुए (घृतवता-इड्या देवान् यजे) घृत वाले पाक यज्ञ^१ मिष्ट आदि पके पदार्थ द्वारा यजन करें (वयम्) हम (अलुभ्यतः-गोमतः-गृहान्) लोभ प्रसङ्ग न रहे ऐसे सर्व सुख पूर्ण प्रशस्त गौओं वाले घरों में (समुपविशेम) भली भांति प्रवेश करें-रहें ॥ ११ ॥

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।

तेन देवा व्यषहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२॥

(एकाष्टका) सृष्टि के प्रारम्भ में प्रथमा उषा (तपसा तप्यमाना) संवत्सर के^२ लक्ष्य से-संवत्सर को पूरा करने के हेतु तपती हुई-चमकती हुई ने (महिमानम्-इन्द्रं गर्भं जजान) महान् सूर्य को^३ गर्भ रूप में उत्पन्न किया

१ "इडा खलु वै पाक यज्ञः" [तै० सू० १।७।१।१]

२ "संवत्सरो वाव तपः" [श० ८।४।१।१४]

३ "असी वा आदित्य इन्द्रः" [काठ० १३।७]

(तेन देवाः शत्रून् व्यसहन्त) उसी सूर्य द्वारा देवों ने शत्रुओं को सहन किया-
जीता, अन्धकार रोगादि को वश में किया, कारण कि (शचीपतिः) वह कर्म
शक्ति का स्वामी सूर्य (दस्यूनं हस्ता-अभक्त) क्षीण करने वाले पदार्थों का नष्ट
कर्ता-नाशक है ॥ १२ ॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितारिं प्रजापतेः ।

कामानस्मार्कं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥१३॥

(इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे) हे सूर्य पुत्र वाली तथा चन्द्र पुत्र वाली ! दिन
के प्रारम्भ में सूर्यपुत्र रूप में है और रात्रि के अन्त में चन्द्र पुत्र है जिसका
ऐसी उषोबेला ! तू (प्रजापतेः-दुहिता-असि) प्रजापति परमात्मा के द्वारा
प्रकट की गई है (अस्माकं कामान् पूरय) हमारी कामनाओं को पूरा कर
(नः) हमारी (हविः) यज्ञ को-ब्रह्मयज्ञ-देवयज्ञ को (प्रतिगृह्णाहि)
स्वीकार कर-अनुकूल बना ॥ १३ ॥

एकादश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च (मनस्वी और-तेजस्वी प्राणवान्)

देवता—इन्द्राग्न्यायुषो, यक्ष्मनाशनञ्च (वायु, अग्नि, दीघायु, यक्ष्म
नष्ट करना)

मुश्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥१॥

(त्वा) हे रोगी ! तुझे (अज्ञातयक्ष्मात्) अज्ञात रोग से (उत)
अपि और (राजयक्ष्मात्) राजयक्ष्म-क्षयरोग से (जीवनायकम्) जीवित
रहने के लिये (हविषा) होम द्वारा (मुश्चामि) मैं छुड़ाता हूँ (यदि-एनम्)

यदि इस रोगी को (ग्राहिः) अङ्गों एवं मन को पकड़ने-जकड़ने वाली व्याधि
वे (एतत्-एनं-जग्रह) इसे पकड़ लिया है (तस्याः) उससे (इन्द्राग्नी) हे
वायु और अग्नि तुम दोनों (एनं प्रमुमुक्तम्) छुड़ा दो ॥ १ ॥

यदि क्षितायुर्धदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।

तमा हारामि निर्र्तिरूपस्थादस्पर्शमेनं शतशारदाय ॥२॥

(यदि क्षितायुः) यदि क्षीण आयु वाला-जरा को प्राप्त (वा) या
(परेतः) जीवन से निराशा (यदि मृत्योः-अन्तिकं-नीतः-एव) यदि मृत्यु के
निकट पहुंचा हुआ ही अर्थात् मरणासन्न हो तो (तम्-निर्र्तिः-उपस्थात्-
आहारामि) उसको निर्र्तिः-घोर आपत्ति या मृत्यु की गोद से हटा ले आता
हूँ बचा लेता हूँ (शतशारदाय) सौ वर्षों वाले जीवन के लिए या बहुत वर्षों
वाले जीवन के लिये (एनम्-अस्पर्शम्) इसको मैं स्पर्श करता हूँ प्रबल हाथों
में लेता हूँ अर्थात् इसकी सफल चिकित्सा करता हूँ ॥ २ ॥

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।

इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥३॥

(सहस्राक्षेण) बहुत व्यापने वाले (शतवीर्येण) अत्यन्त शक्ति वाले
(शतायुषा) सौवर्ष आयु तक ले जाने वाले (हविषा) होम द्वारा (एनम्)
इसको (आहार्षम्) मैं बचालाया हूँ (यथा) जिस प्रकार (इन्द्रः) वायु या
विद्युत् (एनम्) इसको (विश्वस्य-दुरितस्य) सब रोग के (पारम्)
पार-परे (शरदः) जीवन के वर्षों को-सर्व आयु को (अतिनयाति) भली
भांति ले जाता है ॥ ३ ॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताच्छतमु वसन्तान् ।

शतं त इन्द्रो अग्निः सविता

बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥४॥

(शतशरदः) सौ शरदियों तक (शतं हेमन्तात्) सौ हेमन्त ऋतुओं तक (शतं वसन्तात्) सौ वसन्त ऋतुओं तक (वर्धमानः) बढ़ता हुआ (जीव) जीवित रह (ते) हे रोगी ! तेरे (शतम्) सौ वर्ष आयु को (इन्द्रः) विद्युत् (अग्निः) अग्नि (सविता) सूर्य (बृहस्पतिः) वायु प्रदान करे (शतायुषा) सौ वर्ष की आयु देने वाले (हविषा) होम से (एनम्) इसको (आहार्षम्) बचा ले आता हूँ ॥ ४ ॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।

व्यङ्ग्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥५॥

(प्राणापानौ) हेश्वास प्रश्वास शक्तिरूप प्राण अपान तुम दोनों ! (प्रविशतम्) शरीर में प्रविष्ट होओ-बने रहो (अनड्वाहो-इव व्रजम्) जैसे दो बैल गोस्थान में रहते हैं (अन्ये मृत्यवः-वियन्तु) अन्य अन्यथा प्रकार के मृत्यु इससे दूर रहे (यान्-इतरान् शतम्-आहुः) जिन अन्य मृत्युओं को सैकड़ों कहते हैं ॥ ५ ॥

इहैव स्तं प्राणापानौ मापं गातभितो युवम् ।

शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥६॥

(प्राणापानौ युवम्) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (इह एव स्तम्) यहीं बने रहो (इतः-मा-अपगातम्) यहाँ मे मत निकलो (अस्य) इस रोग मुक्त के (शरीरम्-अङ्गानि) शरीर तथा शरीरस्थ नेत्र आदि अङ्गों को (जरसे) जरावस्थस्था के लिये-जरावस्था तक (पुनः-वहतम्) विशेष रूप^१ मे ले जाओ-पहुँचाओ ॥ ६ ॥

१ "णीन् प्रापणे" [श्वादि०] लुङ् सामान्यकाले ।

"छन्दसि लुङ् लङ् लिटः" [अष्टा० ३।४।६]

जरायै त्वा परिं ददामि जरायै नि ध्रुवामि त्वा ।

जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्युन्ये

यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥७॥

(त्वा) हे रोगमुक्त जन ! तुझे (जरायै परिददामि) जरावस्था के लिये समर्पित करता हूँ-जरावस्था तक पहुंचने के लिये मैं चिकित्सक स्वस्थ करता हूँ (त्वा) तुझे (जरायै नि ध्रुवामि) जरावस्था के लिये-जरावस्था तकपहुँचने के लिये नियत करता हूँ-प्रेरित करता हूँ (त्वा) तुझे (जरा भद्रा नेष्ट) जरा कल्याणरूप या भजनीय भोगों को प्राप्त करावे (अन्ये मृत्यवः) और मृत्युएँ (वियन्तु) इससे अलग हो जावे (यान्-इतरान् शतम्-ग्राहः) जिनको दूसरी सैकड़ों कहते हैं कह सकते है ॥ ७ ॥

अभि त्वा जरिमाहितं गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।

यस्त्वा मृत्युरभ्यघत्त जायमानं सुपाशया ।

तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥८॥

(गाम्-उक्षणम्-इव रज्ज्वा) गौ को बैल को जैसे रस्से से बान्धते हैं ऐसे (त्वा) तुझे (जरिमा-अभि-ग्राहित) जरावस्था बान्धती है-मृत्यु की ओर बान्धकर ले जाती है जरा के पश्चात् मृत्यु अनिवार्य है रोग का औषध तथा जरा से पूर्व मृत्यु का औषध है परन्तु जरा के पश्चात् मृत्यु का औषध नहीं है (यः-मृत्युः) जो मृत्यु (तं त्वा) उस तुझे (जायमानम्) उत्पन्न हुए को (सुपाशया-अभ्यघत्त) कठिन पाश से बान्धे हुए है (ते) उस मृत्यु से (बृहस्पतिः) सर्वज्ञ परमात्मा (सत्यस्य हस्ताभ्याम्-अमुञ्चत्) अपने सत्य हाथों से छुड़ाता है, अमर बनाता है ॥ ८ ॥

द्वादश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (शिल्परूपरेखाविज्ञ-इन्द्रिनियर)

देवताः—शाला, वास्तोष्पतिः (गृह, गृहकलाकार-राजमित्री)

इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा ।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥१॥

(इह-एव) इस अनुकूल भूभाग में ही (ध्रुवां शालां निमिनोमि) हृदशाला-हवेली को निर्मित करता हूँ-नियमित रूप में स्थापित करता हूँ बुनियाद रूप में धरता हूँ (घृतम् उक्षमाणा क्षेमे तिष्ठाति) रहने वालों को आयु^१ का सिञ्चन करती हुई कल्याण के निमित्त स्थिर रहे (तां त्वा शाले) उस तुझ को हे शाला ! (सर्ववीराः सुवीराः-अरिष्टवीराः-उप सं चरेम) हम सब पुत्रादि जन सहित, सुन्दर गुणवान् हुए, अहिंसित परिवार वाले होते हुए रहें निवास करें विचरें ॥ १ ॥

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्रावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥२॥

(शाले) हे शाला-हवेली ! तू (इह-एव) इस भूमिका पर ही (ध्रुवा प्रति तिष्ठ) ध्रुव प्रतिष्ठित रह (अश्रावती) प्रशस्त घोड़ों वाली (गोमती) प्रशस्त गौओं वाली (सूनृतावती) उत्तम वाणी वेदाध्यायन प्रवचन जिसमें होता रहे ऐसी (ऊर्जस्वती) भरपूर अन्न वाली (घृतवती) पुष्कल घृतवाली (पयस्वती) पुष्कल दूध वाली होती हुई (महते सौभगाय-उच्छ्रयस्व) महान् सौभाग्य के लिये ऊंची उठ ॥ २ ॥

१ "आयुर्वं घृतम्" [तै० सं० २।३।२।२]

२ "अन्नमूर्जम्"] को० २८।५]

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या ।

आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्यन्दमानाः ॥३॥

(शाले) हे शाला-बड़ेघर ! तू (धरुणी) खम्बों वाली (बृहच्छन्दाः) बड़ी छत वाली (पूतिधान्या) पवित्र अन्नवाली (असि) है-हो (त्वा) तुझे-तेरे अन्दर (वत्सः) बच्चे (आगमेत्) आवें-प्राप्त रहें (कुमारः-आ) कुमार बालक आवें-प्राप्त रहें (धेनवः स्यन्दमानाः सामम्-आ) गौवें दौड़ी हुई सायं जङ्गल से चरकर प्राप्त हों ॥ ३ ॥

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।

उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥४॥

(इमां शालाम्) इस शाला को (सविता) राष्ट्रपति^१ तथा सूर्य (वायुः) पुरोहित^२ तथा हवा (इन्द्रः) खनन कर्ता तथा विद्युत् (बृहस्पतिः) विद्वान् शालाविद्या वेत्तातथा आकाश (प्रजानन्) सुबोध देते-अनुमति देता हुआ या अनुकूल होता हुआ (निमिनोतु) जांचे परखे अनुमति दे-संसिद्ध करे (मरुतः) ऋत्विज जन^३ (उद्ना घृतेन-उक्षन्तु) उछलते हुए तीव्र घृतसे सींचे होम द्वारा (राजा भगः-नः कृषिं नितनोतु) राजमान भजनीय परमात्मा हमारी सन्ततिरूपक्षेती प्रवृद्ध करे ॥ ४ ॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे ।

वृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥५॥

१ "सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः" [श० ११ । ४ । ३ । १४]

२ "वायुर्वा पुरोहितः" [ऐ० ८ । १७]

३ "मरुतः-ऋत्विजः" [निघ०]

(मानस्य पत्नि) मान वाले-स्वजीवनयात्रा को मान से व्यतीत करने वाले, श्रेष्ठ मनुष्य की पालने वाली रक्षिका शाले ! (शरणा स्योना देवी) शरण देने योग्य सुखकरी क्रीडा स्थली (अग्ने देवेभिः-निमिता-असि) आरम्भ में ऋषियों-विद्वानों द्वारा लक्ष्य में लाई गई चित्रित की गई है (तृणं वसाना सुमनाः-असः) छेदन योग्य काष्ठदि को धारण की हुई अच्छा मन करने वाली हो (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (सहवीरं रयि दाः) पुत्रों सहित धनैश्वर्य भागैश्वर्य दे ॥ ५ ॥

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून् ।

मा ते रिषन्नपसत्तारो गृहाणां शाले

शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥६॥

(वंश) हे वंश-वननीय शहतीर ! (ऋतेन) नियतरूप से (स्थूणाम्-अधि) धूणी-खम्बे पर रोहण कर-चढ (उग्रः-विराजन्) ऊंचा उठा हुआ तथा विशेष राजमान हुआ (शत्रून् वृङ्क्ष्व) नष्ट करने वाले विरोधी को दूर रख (शाले ते) हे शाला ! तेरे (गृहाणाम्-उपसत्तारः) घरों-कोठों के अन्दर रहने वाले (सर्ववीराः) सब पुत्रादि सहित (शतं शरदः-जीवेम) सौ वर्ष तक जीवित रहें ॥ ६ ॥

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।

एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥७॥

(इमाम्) इस शाला को-में (कुमारः) बालक (तरुणः) युवा (आ-अगुः) आ पहुंचें-प्राप्त हों (वत्सः-जगता सह-आ०) बच्चा शिशु अन्य जङ्गम के साथ आर्वे-प्राप्त हों (इमाम्) इस शाला को-में (परिस्रुतः-कुम्भः-आ) पतले रस-रसदार वस्तु का घड़ा प्राप्त रहे (दध्नः कलशैः सह-आ०) दही के घड़ों के साथ प्राप्त हो ॥ ७ ॥

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतैः संभृताम् ।
इमां पात्रीमृतैः समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥८॥

(नारि) हे गृहपत्नी ! तू (एतत् कुम्भं प्रभर) इस रस आदि से भरे घड़े को सम्भाल (अमृतैः संभृतां घृतस्य धारामृतैः) अमृत के द्वारा सम्यक् भरी और घृत की धारा को सम्भाल (इमां पात्रीम्) इस पीने वाली प्रजापति को (घृतेन समङ्ग्धि) घृत सिञ्चित करदे (एनाम्) इसको (इष्टापूर्तम्-अभि) यज्ञ सामाजिक पूरक वस्तु (अभिरक्षति) सब ओर से रक्षा करता है ॥ ८ ॥

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतैः सहस्रिणां ॥९॥

(इमाः-अयक्ष्माः-यक्ष्मनाशनीः-आपः-प्रभरामि) इन रोगरहित शुद्ध, रोगनाशक जलों को शाला में प्रभरित करता हूँ-सुरक्षित भरकर रखता हूँ^१ (गृहानुप) घरों को-मैं उपगत होकर-प्राप्त होकर प्रकृष्ट रूप से रहता हूँ (अमृतैः-अग्निना सह) अन्नाद्य^२ और अग्नि के साथ ॥ ९ ॥

त्रयोदश सूक्त

ऋषिः—शृगुः (तेजस्वी)

देवता—सिन्धुः-आपः-वरुणः ।

यददः संप्रयतीरहावनदता हते ।

तस्मादा नद्योऽ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥१॥

१ “शसः स्थाने जस्” व्यरययेन ।

२ “अन्नाद्यं वा अमृतम्” [का० ४९ । ६]

(यत्-अदः-अहौ हते) कि उस हत हुए मेघ में-मेघहत होने पर (संप्रयतीः-अनदत्) तदन नाद करती हुई हो (तस्मात्) तिस से (नद्यः-नाम-आस्थ) नदी प्रसिद्ध पृथिवी पर फैल गई हो (वः-नामानि सिन्धवः) तुम्हारे नाम सिन्धु हो ॥ १ ॥

यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीर्षं समवल्गत् ।

तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु घ्न ॥२॥

(यत्) जब (वरुणेन) आकाश को वरण करने वाले घेरने वाले मेघ से (प्रेषिताः) प्रेरित हुआओं को (शीभम्) शीघ्र^१ (समवल्गत्) मिला या मिलकर चलने लगे^२ (तत्-यतीः-इन्द्रः-आप्नोत्) चलते हुआओं को वायु पालिया (तस्मात्-वः-आपः-अनु-स्थन) इससे तुम 'आपः' आप नाम अनुस्मि हो गये हो ॥ २ ॥

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत् वो हिकम् ।

इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥३॥

(वः-अपकामं स्यन्दमानाः) तुम कामना हितस्वभाव से बहते हुआओं को (हिकम्) सुख से (इन्द्रः) वायु ने (देवीः-शक्तिभिः) तुम दिव्य गुणों को (अवीवरत्) वरा (तस्मात्-वाः-नाम हितम्) अतः हितकर नाम "वाः" ॥ ३ ॥

एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।

उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥४॥

(वः स्यन्दमानाः-यथावशम्) तुम बहते हुआओं को स्वाधीन कर (एक देवः-अपि-अतिष्ठत्) एक देवः-सूर्य अधिकार करता है (महीः-उदानिषुः)

१ "शीभं क्षिप्रम्" [निघ० २ । १५]

२ "बला गत्यर्थः" [भ्वादि०]

उसके द्वारा महान् हुए ऊपर गति करते हैं^१ (इति तस्मात्) इससे उदकम्-
उच्यते) उदक कहे जाते हो ॥ ४ ॥

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः ।

तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥५॥

(आपः-भद्राः) जल कल्याणकारी है (घृतम्-इत्-आपः-आसत्)
जल-घृत रूप है जीवन में स्नेह और तेज के रूप में है (अग्नीषोमौ-ताः-
आपः-इत्) प्राण अपान^२ को जल ही धारण करते हैं (मधुपृचा तीव्रः-रसः)
मधु से मधुर स्वाद से सम्पृक्त जलों का तीव्र-रस (अरङ्गमः) पर्याप्त जीवन-
प्रापक (मा) मुझे (प्राणेन वर्चसा आगमेत्) प्राण से तेज से प्राप्त हो ॥५॥

आदित् पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाड् मासाम् ।

मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥६॥

(आसां वः) इन तुम्हारे रूप को (आत्-इत्-पश्यामि) हां ठीक मैं
देखता हूँ (उत वा शृणोमि) अपि वा तुम्हारे शब्द को सुनता हूँ (मा)
मेरे प्रति (घोषः-आगच्छति) कारण कि नाद आता है (मावाड्) मेरी
ओर तुम्हारे साथ अन्य वाणी आती है (अमृतस्य भेजानः-मन्ये) मैं अपने
को अमृत का सेवन करता हुआ मानता हूँ (तर्हि हिरण्यवर्णाः यदा-अतृपम्)
तब हे मेध्य निर्मल जलों^३ जबकि तुम्हें पानकर तृप्त हो जाता हूँ ॥ ६ ॥

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः ।

इहेत्येतं शक्नीर्यत्रेदं वेश्यामि वः ॥७॥

१ "अनिति गतिकर्मा" [त्रिष० ३ । १४]

२ "प्राणापानावग्नीषोमौ" [ऐ० १ । २]

३ "मेध्यं हिरण्यम्" [काठ० २० । ८]

(ऋतावरीः-आपः) हे अमृत, रसवाले जलो ! (वः-इदं हृदयम्) यह तुम्हारा रस हृदय है-सार है (अयं वत्सः) यह बच्चा है (शक्वरीः) जीवन रस देने में शक्त समर्थ (इह-इत्थम्-आ-इत्) यहाँ हमारे में इस प्रकार आओ (वः-यत्र-इदं वेशयामि) तुम्हारे जिस हृदय स्थान में इस अमृत स्वरूप को प्रविष्ट करता हूँ मैं तृप्त हो जाता हूँ ॥ ७ ॥

चतुर्दश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा (मनस्वी)

देवता—गोष्ठः, अयमादयो मन्त्रोक्ता (गोस्थान-अयमा आदि)

सं वौ गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभृत्या ।

अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं संजामसि ॥१॥

(वः) हे गौत्रो ! तुम्हें (गोष्ठेन) गोस्थान-गोशुह से (सुषदा) सुन्दर बैठने रहने की स्थली से (संसृजामसि) हम संयुक्त करते (रय्या सम्) पुष्टि पुष्ट करने वाली भोजनचर्या से संयुक्त करते हैं (सुभृत्या सम्) उत्तम प्रजनन व्यवस्था^३ से संयुक्त करते हैं (अहर्जातस्य यत्-नाम) दिन प्रतिदिन-दैनिक सम्पन्न होने वाले भोजन के नमन-यज्ञ-बलिद्वारा भाग हैं (तेना वः संसृजामसि) उससे संयुक्त करते हैं ॥ १ ॥

सं वः सृजत्वयमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।

समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद् वसु ॥२॥

१ "ऋतममृतमित्याह" [जै० २।१६०]

१ "पुष्टं वै रयिः" [श० २।३।४।१३]

२ "पुरुषो वै सुभृतम्" [जै० २।२७]

(वः) हे गौत्रो ! तुम्हें (अर्यमा संसृजतु) सूर्य अपने साथ अपने प्रकाश से संयुक्त करे (पूषा सम०) पृथिवी अपने स्थान भ्रमण चारे से संयुक्त हो (बृहस्पतिः सम०) वायु^१ शुद्ध श्वास प्रदान द्वारा संयुक्त हो (यः-धन-ञ्जयः-इन्द्रः सम) जो जीवन धन को जय कराने वाला विद्युत् मेघो में वर्तमान संयुक्त हो (यत्-वसु मयि पुष्यत) जो वसु-दूधघृत तुम्हारा है मेरे में पुष्टि दे

॥ २ ॥

संजग्माना अविभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।

बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥३॥

(संजग्मानाः) हे गौत्रो ! तुम परस्पर मिली हुई-अविरोधी बनी हुई (अविभ्युषीः) निर्भय हुई (करीषिणीः) प्रशस्य पुरीष-गोबर वाली (सोम्यं मधु बिभ्रतीः) सोम गुण युक्त मधुर दूध धारण करती हुई (अनमीवाः) रोग रहित हुई (अस्मिन्-गोष्ठे-उपेतन) इस गोस्थान में उपस्थित रहो-प्राप्त रहो-प्राप्त होओ ॥ ३ ॥

इहैव गाव एतनेहो शकैव पुष्यत ।

इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥४॥

(गावः) गौत्रो ! तुम (इह-एव) यहाँ गोस्थान में ही (एतन) आओ-प्राप्त होओ (इह-उ शका इव पुष्यत) यहाँ ही भौम वस्तु दूध आदि की भांति पुष्ट होओ (इह-एव) यहाँ ही आओ (इह-एव-उत प्रजायध्वम्) और यहाँ ही प्रजनन करो (वः-मयि संज्ञानम्-अस्तु) तुम्हारे मेरे में ममत्व हो ॥ ४ ॥

शित्रो वो गोष्ठो भवतु शारिशकैव पुष्यत ।

इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥५॥

(वः) हे गौत्रो ! तुम्हारा गोस्थान (शिवः-भवतु) कल्याण कर हो-है (शारिशाका-इव पुष्यत) शाली-सांठी की शाखाओं-कोपलों के समान पुष्ट होओ, (उत) और (इह-एव) यहाँ ही (प्रजायध्वम्) प्रजनन करो-प्रजा को बढ़ाओ (मया वः संसृजामसि) हम अपने साथ तुम्हें सयुक्त करते हैं-अपनाते हैं ॥ ५ ॥

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।

रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥६॥

(गावः) हे गौत्रो ! तुम (मया गोपतिना) मुझ गोस्वामी के साथ (सचध्वम्) समवेत होओ-अनुकूल रहो (वः-अयं गोष्ठः) तुम्हारा यह गोस्थान है (इह पोषयिष्णुः) इस में मैं तुम्हारा स्वामी पोषणकर्त्ता हूँ (रायस्पोषेण बहुला भवन्तीः जीवन्तीः) भोग-खान पान के पोष-भरण पोषण द्वारा तुम बहुत होती और जीवन शक्ति धारण करती हुई को (जीवाः-उपसदेम) हम जीवन धारण करते हुए तुम्हें प्राप्त रहें ॥ ६ ॥

पञ्चदश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा पण्यकामः (स्थिर मन वाला स्तुति का इच्छुक)

देवताः—१ इन्द्रः, २ पन्थानः, ३ अग्निः, ४ प्रपणो विक्रयश्च,
५ देवाः, अग्निः, ६ देवाः, इन्द्रः, प्रजापतिः, सोमः, अग्नि
७ वैश्वानरः, ८ जातवेदाः ।

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु ।

नुदन्नराति परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनुदा अस्तु मह्यम् ॥१॥

(अहम्) मैं (वणिजम्-इन्द्रं चोदयामि) वणिक-व्यापाराध्यक्ष-राजकीय व्यापाराधिकारी को प्रेरित करता हूँ-प्राथित करता हूँ (सः) वह

(नः-एतु) हमें प्राप्त हो (नः) हमारा (पुरः-एता-अस्तु) अग्रगन्ता होवे (अराति परिपन्थिनं मृगं नुद्व) न देने वाले अपितु छीनने वाले मार्ग पर रोककर लूटने वाले हिंसक को ताडित करता हुआ (सः-ईशानः) वह समर्थ (मह्यं धनदाः-अस्तु) मेरे लिए धन-व्यापार लाभ का दाता होवे ॥ १ ॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।

ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥२॥

(ये बहवः पन्थानः-देवयानाः) जो बहुत से मार्ग कुशल व्यापारियों के गमन योग्य (द्यावापृथिवी-अन्तरा संचरन्ति) आकाश भूमि के मध्य स्थल जल गगन में रथ पोत विमान वाले चलते हैं (ते) वे (पयसा घृतेन मा जुषन्ताम्) दूध आदि रसीले तथा घृत आदि स्निग्ध पदार्थों द्वारा मुझे प्रसन्न करें (क्रीत्वा धनम्-आहराणि) क्रय विक्रय कर धनलाभ पा सकें ॥ २ ॥

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय ।

यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां विर्यं शतसेयाय देवीम् ॥३॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (इच्छमानः) लाभ चाहता हुआ (तरसे बलाय) व्यापार के निमित्त वेग तथा बल प्राप्ति के लिए (इध्मेन घृतेन हव्यं जुहोमि) समिधा और घृत के साथ होम द्रव्यों को मैं होमता हूँ (ब्रह्मणा वन्दमानः) मन्त्र से परमात्मा की वन्दना करता हुआ (यावत्-ईशे) जब तक मैं धन का स्वामी बना रहूँ-धनस्वामी होकर भी मैं अग्निहोत्र और परमात्मा की वन्दना करता रहूँगा, त्यागूँगा नहीं (इमां देवीं विर्यं शतसेयाय) इस दिव्य बुद्धि को बहुत लाभ प्राप्ति के लिए प्रयुक्त करने में समर्थ होता हूँ

॥ ३ ॥

इयामग्ने शरणि मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम् ।

शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिर्न मा कृणोतु ।

इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥४॥

(अग्ने) हे आगे होने वाले व्यापार के मध्यस्थ दलाल ! (नः-इमां शरणि मीमृषः) हम व्यापारियों-लेने देने वालों की इस बढ़-बढ़ कर मूल्य मांगने देने की काट को सहन कर या मध्यस्थ होकर सौदा करा (यम्-अध्वानं दूरम्-अगाम) जिस दूर मार्ग में हम चले गये, लेने वाले और देने वाले भाव-ताव में दूर हो गये हैं (नः प्रपणः-विक्रयः-च शुनम्-अस्तु) हमारा मूल्य लेना और बेचना सुखकर हो-हितकर हो (प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु) पुनः आगे ले जाकर ग्राहकों को बेचना मुझे फलवान् करे लाभ पहुंचावे (इदं हव्यं सं विदानीं जुषेथाम्) ठीक है व्यापारियो तुम दोनों लेन-देन करने वालो इस ग्राह्य वस्तु को एक मन होकर समझौता करते हुए सेवन करो (नः) ठीक है हमारा इस ग्राह्य वस्तु का (चरितम्-उत्थितं च) चलाना बेचना और उठाना (शुनम्-अस्तु) सुखरूप हो ॥ ४ ॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।

तन्मे भूर्यो भवतु मा कनीयोऽग्रै सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ॥५॥

(देवाः) हे व्यापारियो ! (धनेन धनम्-इच्छमानः) मूल धन से लाभ धन को चाहता हुआ (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस मूलधन से मैं क्रय-व्यापार करता हूँ (तन्-मे भूर्यः-भवतु) वह मेरे लिए अधिक हो (मा कनीयः) वह मेरे लिए कम न हो (अग्ने) हे आगे होने वाले मध्यस्थ दलाल ! तू (हविषा) अपनी भेंट दलाली द्वारा (सातघ्नः-देवान् निषेध) अधिक लाभ प्राप्त करने वाले व्यापारियों को नियतरूप से सिद्ध कर ॥ ५ ॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।

तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दधातु

प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥६॥

(देवाः-धनेन धनम्-इच्छमानः) व्यापारियो ! मूलधन से लाभधन चाहता हुआ (येन धनेन प्रपणं चरामि) जितने मूल धन से मैं व्यापार करता

हूँ (तस्मिन्) उस लाभ में-के निमित्त मेरे लिये (इन्द्रः) 'इन्द्रः' किसान (प्रजापतिः) प्रजास्वामी-मुख्य जन (सविता) प्रेरक-व्यापाराधिकारी (सोमः) सोम्यस्वभाव विद्वान्-धर्माध्यक्ष (अग्निः) आगे आने वाला मध्यस्थ दलाल (रुचिम्-आदधातु) रुचि-पुष्टि सम्पोषण समन्तरूप से धारण करावे

॥ ६ ॥

उप त्वा नमसा वयं होतवैश्वानर स्तुमः ।

स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥७॥

(वैश्वानर होतः) हे विश्व को सन्मार्ग-सद् व्यापार में चलाने वाले वाक्पति^१ धर्मोपदेशक !^२ (वयं त्वा नमसा-उपस्तुमः) हम तुझे अन्नादि द्वारा^३ उपयुक्त-उपासित-सेवित करते हैं (सः) वह तू (नः-आत्मसु प्रजासु-प्राणेषु गोषु जागृहि) हमारे आत्माओं सन्तानादिओं प्राणों इन्द्रियों गौ आदि पशुओं के निमित्त जगाता रह-सावधान करता रहे, इस व्यापारवश इन के सम्बन्ध में पाप न कर सके ॥ ७ ॥

विश्वाहा ते सदमिद्धरेमाश्रयिव तिष्ठते जातवेदः ।

रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेश रिषाम ॥८॥

(जातवेदः) वेदः-व्यापार धन ऐसे मध्यस्थ व्यापारमाधक हे जन ! (विश्वाहा) निरन्तर (ते सदम्-इव) तेरे सदन-स्थान को अवश्य हम व्यापारी भरें (तिष्ठते-अश्रय-इव) यात्रार्थ रहने वाले घोड़े के लिए जैसे चरणस्थान को चारे से भरते हैं (रायः-पोषेण) धन व्यापार के पोष-लाभ से (इषा) अन्न भोजन से^४ (सम्मदन्तः) सम्यक् आनन्दित होते

१ "वाक्पतिर्होता" [तै० ३।१।१]

२ "होतुर्धर्ममभिष्टुहि" [तै० आ० ५।४।१]

३ "नमोऽन्ननाम" [निघ० २।७]

४ "इषमन्नम्" [निघ० २।१४] "अन्नं वा इषः" [ऐ० आ० १।१।४]

हुए (अग्ने ते प्रतिवेशाः-मा रिषाम) हे आगे-व्यापार में आगे आने वाले व्यापार पालक जन तेरे प्रतिसङ्गी हम हिंसित न हों ॥ ८ ॥

षोडश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा (स्थिरजन)

देवताः—अग्नीन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः ।

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातमित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥१॥

आध्यात्मिक दृष्टि—

(प्रातः-अग्निम्) प्रातः उठकर सर्व प्रथम अग्नि-स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा को “अग्ने नय सुपथा.....” [यजु० ४०।१६] (प्रातः-इन्द्रम्) प्रातःकाल इन्द्र-ऐश्वर्यवान् परमात्मा को (हवामहे) स्तुत करें-स्तुति में लावें (प्रातः-मित्रावरुणा) प्रातः ही उसे मित्र-प्रेरक तथा वरुण वरयिता-धारक (प्रातः-अश्विना) प्रातः अध्यापक उपदेशक एवं माता पिता रूप को (प्रातः-भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिम्) प्रातः ही ऐश्वर्य के विभाजक, पोषक, और वेदस्वामी को (प्रातः सोमम्-उत रुद्रं हवामहे) प्रातः ही सोम-शान्त स्वरूप को, तथा रुद्रम्-नास्तिक एवं दुष्ट के रूलाने वाले परमात्मा को प्रशंसित करें ॥ १ ॥

व्यावहारिक दृष्टि—

(प्रातः-अग्निम्) प्रातःकाल में अग्नि को होमद्वारा (प्रातः-इन्द्रम्) प्रातः ही इन्द्र-सूर्य को सेवन द्वारा (हवामहे) प्रशंसित करते हैं (प्रातः-मित्रावरुणा) प्रातः ही प्राण और उदान को प्राणायामद्वारा “प्राणोदानी वै मित्रावरुणौ” [शत० १।८।३।१२] (प्रातः-अश्विना) प्रातः ही अध्यापक, उपदेशक को अध्ययन और श्रवण से (प्रातः-भगं पूषणं ब्रह्मण-

स्पतिम्) प्रातः ही भग-जीवन निर्वाहक वस्तुमात्र को निरीक्षण से, पूषा-पोषक वायु को भ्रमण से अथवा पूषा-पृथिवी को "पूषा पृथिवीनाम" [निघ० १।१] शोधन कृषिकर्म से तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी को उपासना से (प्रातः सोमम्-उत खद्रं हवामहे) प्रातः ओषधिरस दुग्ध मिश्रित को आहार रूप से और खद्र-रोगविनाशक-पथ्य पदार्थ को प्रशंसित करते हैं ॥ १ ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेयो विधर्ता ।

आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षित्याह ॥२॥

आध्यात्मिक दृष्टि—

(प्रातः-जितम्) प्रातः जय कराने वाले, मानव जीवन को सफल बनाने वाले (उग्रं भगम्) तेजस्वी एवं भगवान्-ऐश्वर्य के भागी बनाने वाले (अदितेः पुत्रम्) अखण्ड सुखसम्पत्ति के बहुत रक्षक परमात्मा की "पुत्रम्-पुत्रम्-रूपोपश्छान्दसः" (वयं हवामहे) हम स्तुति करें (यः-विधर्ता) जो विश्व का विशेष धारक है (यम्-आध्रः-चित्) जिसको दरिद्र भी (यं तुरः-चित्) जिसको वेगवान्-बलवान् भी (यं राजा चित्) जिसको राजा भी (यं भगं मन्यमानः) जिसको भग भजनीय मानता हुआ (भक्षि-इत्याह) सेवन करूँ: ऐसा कहता है ॥

व्यावहारिक दृष्टि—

(प्रातः-जितम्) प्रातः-जय-उत्कर्ष कराने वाले (उग्रं भगम्) उद्गीर्ण-ऊपर गये हुए प्रवृद्ध अन्नादि ऐश्वर्य (अदितेः पुत्रम्) पृथिवी के पुत्र समान को "अदितिः पृथिवी नाम" [निघ० १।१] (वयं हवामहे) हम प्रशंसित करते हैं (यः-धर्ता) जो मनुष्यों को विशेष रूप से धारण करने वाला है (यम्-आध्रः-चित्) जिसको दरिद्र भी (यं तुरः-चित्) जिसको बलवान् भी (यं राजा चित्) जिसको राजा भी (यं भगं मन्यमानः) जिसको भजनीय-सेवन करने योग्य मानता हुआ (भक्षि-इत्याह) सेवन करूँ: ऐसा कहता है ॥ २ ॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।

भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥३॥

आध्यात्मिक दृष्टि—

(प्रणेतः भग) हे जगद्रचयिता भगवान् 'भग-इत्यकारो मत्वर्थीयः' (भग सत्यराधः) हे सत्य धन वाले भगवान् ! (इमां धियं ददत्) इस बुद्धि को देता हुआ (नः-उदव) हमें उन्नत कर (भग गोभिः-अश्वैः-नः प्रजनय) भगवन् ! गौ आदि दुधारु पशुओं से और घोड़े आदि वाहक पशुओं के द्वारा हमें बढ़ा (भग नृभिः-नृवन्तः स्याम) भगवन् ! प्रशस्त पारिवारिक जनों से हम जनवाले, हों ॥

व्यावहारिक दृष्टि—

(भग प्रणेतः) हे ऐश्वर्य ! तू सब कार्य के प्रणयन कर्ता ! (भग सत्यराधः) हे ऐश्वर्य ! तू सत्य धन है (इमां धियं ददत्) इस बुद्धि को देता हुआ (नः-उदव) हमें उन्नत कर-हमारे द्वारा श्रेष्ठ कर्मों में व्यय हो (भग गोभिः-अश्वैः-नः-प्रजनय) हे ऐश्वर्य तू गौ आदि दुधारु पशुओं और घोड़े आदि वाहक पशुओं के द्वारा हमें बढ़ा-हमें गौ घोड़ों वाला बना (नृभिः-नृवन्तः-स्याम) प्रशस्त मित्र आदि जन वाले कार्य समर्थ हों ॥ ३ ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत्त प्रपित्व उत्त मध्ये अह्नाम ।

उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम् ॥४॥

आध्यात्मिक दृष्टि—

(मघवन्) ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! (उत्त-इदानीम्) हां इस समय (देवानां सुमती) प्रथम मन्त्रोक्त अग्नि आदि से तेरे दिव्य स्वरूपों की यथार्थ स्तुति में "मन्यते अर्चति कर्मा" [निघ० ३ । ४] (वयं स्याम) हम हों तो (भगवन्तः स्याम) उस उस नाम के ऐश्वर्य वाले हो जावें, यथान्यत्र—

“तेजोसि तेजो मयि ब्रहेहि” [यजु० १९।९] (उत प्रपित्वे) और सायं उनकी सुस्तुति में हो जावें तो सायं ही हम ऐश्वर्य गुण वाले हो जावें (उत मध्ये-ब्रह्माम्) और दिन के मध्य में “जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्” [अष्टा० १।२।५८] उनकी सुस्तुति में होवें तो दिन के मध्य में ही हम उनसे ऐश्वर्य वाले हो जावें (उत सूर्यस्य-उदितौ) और सूर्य के उदय होने पर उनकी सुस्तुति में हो जावें तो सूर्य के उदय काल में ही हम उनसे ऐश्वर्य वाले हो जावें ॥

व्यावहारिक दृष्टि—

(भगवन्) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! (उत-इदानीं देवानां सुमती स्याम भगवन्तः स्याम) और इस समय तरे उपासकों की श्रेष्ठ मति में हम हो जावें तो हम इस समय ही ऐश्वर्य वाले हो जावें । आगे सुगम पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम ।

तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥५॥

दोनों दृष्टियों में समान—

(भगवान् देवः-भगः-एव-अस्तु) भगवान् परमात्मदेव ही हम उपासकों का ऐश्वर्य हो हम अन्य ऐश्वर्य को नहीं चाहते (तेन वयं भगवन्तः स्याम) उससे हम ऐश्वर्य वाले हों (भग तं त्वा सर्वः-इत्-जोहवीमि) हे भगरूप परमात्मन् उस तुझको सर्व परिवार युक्त मैं पुनः पुनः प्रशंसित कर रहा हूँ (भग सः-इह नः पुरः-एता भव) भग-ऐश्वर्यरूप परमात्मन् ! वह तू इस परिवार में या इस संसार में हमारा अग्रगन्ता हो ॥ ५ ॥

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।

अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥६॥

(उषसः-अध्वराय सन्नमन्त) उषाएं ब्रह्मयज्ञ और होमयज्ञ के लिए मनुष्यों को झुकाती हैं-प्रवृत्त कराती हैं (दधिक्रावा-इव शुचये पदाय) जैसे

मनुष्य को धारण किए छोड़ा शोभमान प्राप्त स्थान के लिए प्रवृत्त कराता है (वसुविदं भगं नः) वे उषाएँ प्रतिदिन प्रवर्तमान वसु-धन के प्राप्त कराने वाले भजनीय परमात्मा को हमें प्राप्त करावें (अर्वाचीनं रथम्-इव वाजिनः-श्रावहन्तु) जैसे बलवान् छोड़े प्राप्त रथ को प्राप्तव्य स्थान की ओर समस्तरूप से ले जावें ॥ ६ ॥

अश्रावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।

घृतं दुहाता विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

(उषसः) ये उषाएँ प्रतिदिन (अश्रावतीः) ईश्वर वाली, ईश्वरो-पासना के लिये प्रेरणा देती हुई "ईश्वरो वा अश्रः" [तै० ३।८।१।३] (गोमतीः) यज्ञवाली-यज्ञ का संकेत देने वाली (वीरवतीः) प्राणवाली "प्राणा वै वीराः" [शत० १२।८।१।२२] अथवा सब घोड़ों वाली, गौओं वाली, पुत्रों वाली होती हुई (भद्राः-नः सदम्-उच्छन्तु) कल्याणकारी स्थान को प्राप्त हों चमकावें-प्रकाशित करें (विश्वतः प्रपीताः) सब ओर प्रवृद्ध हुई (घृतं दुहाताः) अर्घ्यात्म तेज को प्रपूरित करती हुई या रेतः को सींचती हुई "रेतो घृतम्" [शत० ९।२।३।४४] (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पातः) शुभ कल्याण भावनाओं से सदा हमारी रक्षा करो ॥ ७ ॥

सप्तदश सूक्त

ऋषिः—विश्वामित्रः (सर्वमित्रः)

देवता—सीता (क्षेत्रभक्ति)

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।

धीरा देवेषु सुम्नयो ॥१॥

(देवेषु धीराः कवयः) विद्वानों में धीर धैर्य वाले कर्मठ कृषिवल जानने वाले कृषक (सीरा युञ्जन्ति) हलों को जोतते हैं (युगा पृथक्-

वितन्वते) जुओं को पृथक् पृथक् बैलों पर वितानित करते हैं-बांधते हैं (सुम्नयो) मनुष्य के सुख कामना के निमित्त^१ ॥ १ ॥

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।

विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो

नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन् ॥२॥

(सीरा युनक्त) हे कृषको ! हलों को जोतो (युगा वि तनोत) जुओं को वितानित करो-बैलों के कन्धों पर डालो (इह कृते योनौ) हल की फाल से इस फटी क्यारी में (बीजं वपत) बीज बोओ (विराजः श्नुष्टिः सभराः-असत्) अन्न की बाल जब दाने भरी हो जावें (नेदीयः-इत्-नः सृण्यः-पक्वम्-आयवन्) तो तुरन्त हमारी द्रात्रियाँ पके हुए के पास काटने को समन्त-रूप से अलग करें-काटलें ॥ २ ॥

लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु ।

उदिद् वपतु गामर्वि प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफुव्यम् ॥३॥

(लाङ्गलम्) हल (पवीरवत्) पवी-शल्य-लोहशूल-फालवाला^२ (सुशीमम्) मिट्टी या खेत में सुष्ठु शयन-धुसने योग्य को^३ (सोमसत्सरु)

१ "सुम्नं सुखनाम" [निघ० ३ । ६] छान्दसे भावे क्यचि निमित्त सप्तमी

२ "पवीः-पवी शल्यो भवति तद्वत् पवीरवमायुधम्" [निरु० २२ । ३०]

स्त्रियां डीष् पवी, अणिस्तद्वात् अणिमान् फालः-फालोऽस्मिन्नस्तीति फालवत्-लाङ्गलम् ॥

३ सु पूर्वात् 'शीङ् शयने' इत्यस्माद् धातोः यक् प्रत्ययः-अौणादिकः बाहुल-कात् ।

अग्नों, ओषधियों, वनस्पतियों के सदन तक कुटिल प्रेरक-हलमुष्टिवाला^१ (इत्) अवश्य (प्रस्थावत्-उद्वपतु) प्रकृष्टस्थिति-जीवन देने वाले अन्न को उगाता है-उत्पन्न करता है (च) और ओषधि वनस्पति के उगने उत्पन्न होने पर (गाम्-अवि रथवाहनं पीवरीं प्रफर्व्यम्) गौ, भेड़-बकरी, रथ ले जाने वाले बैल, घोड़े, पुष्टिवाली भैंस, फर फर गतिवाली कर्मशील मानव सन्तति-मनुष्य पीढी को उत्पन्न करता है-बनाता है ॥ ३ ॥

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥

(इन्द्रः सीतां निगृह्णातु) आदित्य-सूर्य^२ हलफाल द्वारा बनी रेखा खाई क्यारी को यथावत् ग्रहण करे, किरणों से अच्छी बलवती करे (पूषा ताम्-अभिरक्षतु) पृथिवी^३ उसे पुष्ट करे (सा) वह (पयस्वती) जलसिक्त हुई (उत्तराम्-उत्तरां समाम्) उत्तरोत्तर वर्ष विभागों-ऋतु-ऋतु, फसल-फसल को (नः) हमारे लिए (दुहाम्) दूहें-उपजावें ॥ ४ ॥

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।

शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥५॥

(कीनाशाः) कृषक-किसान^४ (वाहान्-शुनम्-अनुयन्तु) हल लेकर सुख शान्ति पूर्वक बैलों, घोड़ों के साथ चलें, यतः (सुफालाः भूमिं वितुदन्तु) उत्तम फाल-फाल वाले हल भूमि को सुख से तोड़ें-कुरे दें (शुनासीरा) वायु और सूर्य दोनों^५ (हविषा) ग्राह्य अन्न शक्तिप्रद रश्मि पवनधारा द्वारा

१ “अन्नं वै सोमः” [मै० ३।१०।७] “ओषधयः-सोमः” [मै० २।५।५] “सोमो वै वनस्पतिः” [मै० १।१०।९] ‘त्सर छद्मगतौ’ [श्वादिः]

२ “असौ वा आदित्य इन्द्रः” [काठ० १३।७]

३ “पूषा पृथिवीनाम” [निघ० १।१]

४ “कृषकाः [उणादि० ५।५६]

५ “शुनो वायुः सीर आदित्यः” [निरु० ९।४०]

(लोशमाना) भूमि को, खेत को बढ़ाते हुए-प्रवृद्ध शक्ति देते हुए^१ (अस्मै) इस कृषक या भूमिभाग के लिए (सुपिप्पलाः-श्रोषधीः-कर्त्तम्) अच्छे फलवाली श्रोषधियां करें-उत्पन्न करें ॥ ५ ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।

शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्टामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

(वाहाः शुनम्) बैल घोड़े ; सुखार्थं (नरः शुनम्) मनुष्य सुखार्थं (लाङ्गलं शुनं कृषतु) हल सुखार्थं खेत खीचें-जोते-कुरेदें (वरत्रा शुनं बध्यन्ताम्) बन्धन रस्सी सुखार्थं बांधी जावें (अष्टां शुनम्-उदिङ्गय) शरीर में व्यापने वाले अणिदण्ड को सुखार्थं प्रेरित करे ॥ ६ ॥

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् ।

यद् दिवि चक्रधुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

(शुनासीरा) हे वायु और सूर्य तुम दोनों (इह स्म मे जुषेथाम्) यहाँ मेरे हव्य होमे हुए द्रव्य को आहुति रूप को सेवन करो (यद् पयः) जिस जल को (दिवि चक्रधुः) नुम आकाश में सम्पन्न करते हो (तेन) उस मेष जल से (इमाम्) इस कृषिभूमि को (उपसिञ्चतम्) उपसिञ्चित करो-सींचो ॥ ७ ॥

सीते वन्दामहे त्वार्वाचीं सुभगे भव ।

यथा नः सुमना असौ यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

(सीते) हे हल फाल से बनी खेत क्यारी (त्वा वन्दामहे) हम तेरी स्तुति-प्रशंसा करते हैं^२ (सुभगे-अर्वाची भव) हे हमारे लिये सौभाग्य के में निमित्तभूत तू हमारी ओर-हम सफल करने वाली हो (यथा नः

१ "तोशा वर्धकौ" [ऋ० ३ । १२ । ४ दयानन्दः] 'जुश वैदिकधातुः' ।

२ "वदि-अभिवादनस्तुत्योः [भ्वादिः]

सुमनाः-असः) जिस से हमारे लिये सुमन करने वाली-हृषारे मन को प्रसन्न करने वाली बढ़ती हुई हो (यथा नः सुफला भुवः) जिस से हमारे लिये अच्छे फल देने वाली हो ॥ ८ ॥

**घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वेदेवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा नः सीते पर्यसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥९॥**

(मधुना घृतेन समक्ता सीता) मधुर जल से^१ सम्यक् सींची हुई क्यारी (विश्वैः-देवैः-मरुद्भिः-अनुमता) समस्त दिव्य गुण वाले भौतिक पदार्थों और वायुओं से अनुकूलता को प्राप्त हुई (सा) वह (सीते) हे क्यारी ! तू (पर्यसा-ऊर्जस्वती) रस से रसभरी^२ (घृतवत् पिन्वमाना-अभ्याववृत्स्व) घृत के समान सींचती हुई हमें अभिवर्तित हो-प्राप्त हो ॥ ९ ॥

अष्टादश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा, ऋग्वेदे इन्द्राणी ।

देवताः—वनस्पतिः (बाणपर्णी) ऋग्वेद उपनिषत् सपत्नीबाधनम् ।

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।

यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥

(वीरुधां बलवत्तमाम्) विरोहण करने वालियों में अत्यन्त बलवती (इमाम्-ओषधिं खनामि) इस अन्यथा कामदाह को पीनेवाली बूटी को मैं निष्पन्न करता हूँ^३ या खोजता हूँ^४ (यया) जिसके द्वारा (सपत्नीं बाधते)

१ “घृतमुदकनाम” [निघ० १ । १२]

२ “रसो वै पयः” [श० ४ । ४ । ४८]

“ऊर्जस्वती रसवती रित्येवैत्याह” [श० ५ । ३ । ४ । ३]

३ “खनामि निष्पादयामि” [यजु० ११ । २८ दयानन्दः]

४ “खनन्तः-खोज करते हुए” [यजु० ११ । २१ दयानन्दः]

भार्या सपत्नी को हटाती है (यया पति सं विन्दते) जिसके द्वारा निजभार्या पति को सम्यक् प्राप्त करती है ॥ १ ॥

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।

सपत्नीं मे परां शुद्धं पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥

(उत्तानपर्णे) हे ऊपर-उन्नत धर्मों वाली, सुष्ठु ऐश्वर्य वाली ! (देवजूते) विद्वानों एवं दिव्यगुणों से प्रेरित या पूरित (सहस्वति) बलवती श्लोषधि ! (मे) मेरी (सपत्नीं परां शुद्धं) सपत्नी-अधर्मस्वभावा, काम-वासना की आधारभूत रामा को परे करदे (मे केवलं पतिं कृधि) केवल मेरे लिए ही पति को कर-बना ॥ २ ॥

नहि ते नामं जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ ।

परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥

(ते नाम न जग्राह) मैंने तो तेरा नाम तक नहीं लिया-मेरे अन्दर कभी अन्य पुरुष के प्रति कामवासना नहीं आई (अस्मिन् पतौ न रमसे) इस मेरे पति में रमण न कर (सपत्नीं परावतः पराम्-एव गमयामसि) पति के अन्दर से सपत्नीवाली कामवासना को दूर से दूर हटाती हूँ ॥ ३ ॥

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।

अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

(उत्तरे) हे उत्कृष्ट धर्म शिक्षा ! श्लोषधि (अहम्-उत्तरा) मैं उत्कृष्ट हूँ-अन्य के प्रति कामवासना रहित हूँ (उत्तराभ्यः-उत्तरा) अपि तु उत्कृष्ट पवित्र सदाचारिणियों से भी उत्कृष्ट सदाचारिणी हूँ (या सपत्नी) जो सपत्नी भावना (अधः) निकृष्ट है (सा-अधराभ्यः-मम-अधरा) वह मेरे लिए नीच वृत्तियों में भी नीच है-मैं उसे पसन्द नहीं करती हूँ ॥ ४ ॥

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।

उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥

(अहं सहमाना-अस्मि) मैं सहमाना-कामवासना को अपने अन्दर वश में करने वाली हूँ (अथ-उ) और फिर (त्वम्-सासहिः-असि) तू भी कामवासना को अपने अन्दर वश में करने वाला है, धर्म शिक्षा ओषधि (उभे सहस्वती भूत्वा) दोनों कामवासना को सहन करने-वश में करनेवाली होकर (मे सपत्नीं सहावहै) मेरी सपत्नी कामवासना को वश में करें ॥ ५ ॥

अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम् ।

मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु

पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

(ते सहमानाम्-अभिधाम्) हे पतिदेव, कामवासना को वश में करने वाली धर्म शिक्षा ओषधि को तेरे समर्पित करती हूँ (सहीयसीं ते उपधाम्) कामवासना को अत्यन्त सहन करने-वश में करने वाली धर्म शिक्षा ओषधि को तेरा आश्रय बनाती हूँ (ते मनः-माम्-अनु) तेरा मन मेरे अनुकूल हो (गौः-वत्सम्-इव-धावतु) जैसे गौ बछड़े के प्रति दौड़ती है (वाः-पथा-इव धावतु) और जैसे जल निम्न मार्गों में स्वतः दौड़ता है ॥ ६ ॥

पति पुरुष के अन्दर से सपत्नी की कामवासना को मिटाने के लिए गृह्य धर्म शिक्षा, ब्रह्मीबूटी आदि ओषधियों का सेवन करना चाहिए ।

एकोनविंश सूक्त

ऋषिः—वसिष्ठः (राजनीति में अत्यन्त बसा हुआ)

देवताः—विश्वेदेवा इन्द्रश्च (विद्वान् और राजा)

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम् ।

संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णु येषामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥

(मे-इदं ब्रह्म संशितम्) मेरा यह ज्ञान तेजस्वी है (वीर्यं बलं संशितम्) आत्मबल और मनोबल तेजस्वी है (क्षत्रं संशितम्-अजरम्-अस्तु) अतः क्षात्रबल तीक्ष्ण और क्षीणतारहित हो (येषां जिष्णुः पुरोहितः-अस्मि) जिनका मैं जयशील पुरोहित हूँ ॥ १ ॥

समहमेषां राष्ट्रं श्यामि समोजो वीर्यं बलम् ।

वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

(एषां राष्ट्रम्) इन अपने राजाओं के राष्ट्र को (संश्यामि) सम्पुष्ट करता हूँ (ओजः-वीर्यं बलं सम्) आत्मबल को और मनोबल को सम्पुष्ट करता हूँ (अनेन हविषा) इस प्रेरण प्रभाव से (शत्रूणां बाहून् वृश्चामि) शत्रुओं के बाधक बलों को छिन्न-भिन्न करता हूँ ॥ २ ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।

क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥

(ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्) जो हमारे युद्ध विद्याकुशल^१ ऐश्वर्यवान् राजा के प्रति संग्राम करें, (नीचैः पद्यन्ताम्) वे नीचे गिरें-दुर्दशा को प्राप्त हों (अधरे भवन्तु) अधीन हो जावें (अहं ब्रह्मणा अमित्रान्-क्षिणामि) मैं ब्रह्मास्त्र से उन शत्रुओं को क्षीण करता हूँ (स्वान्-उन्नयामि) और अपने लोगों को उन्नत करता हूँ ॥ ३ ॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।

इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥

१ "सूरिं युद्धविद्याकुशलम्" [ऋ० १ । १९ दयानन्दः]

(येषां पुरोहितः-अस्मि) जिन राजाओं का मैं पुरोहितः हूँ, वे (परशोः-तीक्ष्णीयांसः) परशु-कुठार से तीक्ष्ण रूप से शत्रुओं का छेदन भेदन करने वाले हैं (उत) अपितु (अग्नेः-तीक्ष्णतराः) अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण रूप में शत्रुओं को भस्म कर देने वाले हैं (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्र-विद्युत् प्रहार के बल से भी तीक्ष्ण रूप में शत्रुओं को प्राणों से रहित करने वाले हैं ॥ ४ ॥

एषामहमायुधा सं श्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।

एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

(एषाम्-आयुधा-अहं श्यामि) इन अपने राजाओं या शस्त्रों को तीक्ष्ण करता हूँ (एषां सुवीरं राष्ट्रं वर्धयामि) इनके अच्छे वीरों से युक्त राष्ट्र को बढ़ाता हूँ (एषां क्षत्रम्-अजरम्-अस्तु) जिससे इनका क्षात्र बल न क्षीण होने वाला हो (विश्वे देवाः) सब विद्वान् (एषां जिष्णुः-चित्तम्-अवन्तु) इनके जयशील चित्त की रक्षा करें ॥ ५ ॥

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामितु घोषः ।

पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् ।

देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥

(मघवन्) हे ऐश्वर्यवन् राजन् ! (वाजिनानि-उद्-हर्षन्ताम्) अश्वानि खुला हर्ष करें (वीराणां जयताम्-घोषः-उदेतु) जयशील वीरों का घोष उच्च हो (घोषाः पृथक्-केतुमन्तः-उलुलयः-उदीरताम्) घोष अलग-अलग और चमचमाते हुए 'उरुलवः' बहुत छेदन करने वाले शस्त्रास्त्र ऊपर उठें (मरुतः-देवाः-इन्द्रज्येष्ठाः सेनया यन्तु) सैनिक विद्वान्-प्रधान सैनिक इन्द्र विद्युत्-वैद्युत् अस्र प्रमुख बल जिनके पास है ऐखे' वे सेना के साथ चलें-आक्रमण करें ॥ ६ ॥

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।

तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोऽग्रायुधा अबलानुग्रवाहवः ॥ ७ ॥

(नरः) हे नेता जनो ! तुम (प्रेत) प्रगति करो-आगे बढ़ो (जयत) जय प्राप्त करो (वः) तुम्हारे (बाहवः) बाहुएं-भुजाएं (उग्राः सन्तु) उन्नत बलवाले हों-हैं (तीक्ष्णेषवः) तीक्ष्ण बाणों वाले (उग्रायुधाः-उग्रबाहवः) तीक्ष्ण शस्त्राल्त्र वाले बलवाली भुजाओं वाले तुम (अबल धन्वनः-अबलान् हत) बलहीन धनुष वाले बलरहित शत्रुओं को मारो ॥ ७ ॥

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।

जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥८॥

(शरव्ये) हे ब्राह्मशक्ति से तीक्ष्ण हुई शरों-हिंसित करने वाले शस्त्रों में साधु बलिष्ठ बाण शस्त्र (अवसृष्टा) तू छोड़ी हुई (परापत) शत्रुओं की ओर जा (अमित्रान् जय) शत्रुओं को जीत (प्रपद्यस्व) उन पर प्रपतन कर-प्रहार कर (एषां वरं वरं जहि) इन में से मुख्य मुख्य को मार (अमीषां कश्चन मा मोचि) इन में से किसी को भी मत छोड़ना ॥ ८ ॥

विंश सूक्त

ऋषिः—वसिष्ठः ।

देवताः—अग्निः, मन्त्रोक्ता नानादेवता ।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।

तं जानन्नन्न अग रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (अयम्) यह आत्मा-आत्म-रूप इहम्^१ (ऋत्वियः-योनिः) ऋतु-समय पर प्राप्त होने वाला अभ्यास

१ "अयं त इहम् आत्मा"

वैराग्य से साधित हुआ मिलन का इच्छुक या मिलने का घर-स्थान है^१ (यतः-जातः) जिस आत्मा घर-स्थान से प्रसिद्ध-प्रचारित हुआ तू (अरोचथाः) जगत् में प्रकाशमान होता है । आत्मा स्वयं अपने में साक्षात् करके संसार में प्रसिद्ध करता है (तं जानन्) उस स्वग्रह आत्मा को जानता-अपना बनाता हुआ (आरोह^२) समन्तरूप से बढ़, इस आत्मा को बढ़ा (अधः) पुनः-साथ ही (नः) हमारे लिये (रयिं वर्धय) ऐश्वर्य-जीवनैश्वर्य को-अध्यात्म धन को बढ़ा ॥ १ ॥

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।

प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशक परमात्मन् ! (नः-इह) हमारे इस जीवन में (अच्छ वद) कल्याणकारी ज्ञान का उपदेश कर (नः प्रत्यङ् सुमनाः-भव) हमारे प्रति हमारे अन्दर प्राप्त हुआ हमारे मन को अच्छा बनाने वाला हो (विशां पते) हे जडजङ्गम प्रजाओं के पालक परमात्मन् (त्वं नः-धनदा-असि) तू हमारा धन का देने वाला है, अतः (नः-प्रयच्छ) हमारे लिए प्रदान कर ॥ २ ॥

प्र णो यच्छत्वयमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः ।

प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे ॥ ३ ॥

(अयमा) मोक्षैश्वर्य का सूर्यसमान दाता परमात्मा (यः) जो (नः) हमारे लिए (प्रयच्छतु) मोक्ष दे (भगः प्र) ऐश्वर्यवात् भजनीय परमात्मा हमारे लिए धन दे (बृहस्पतिः-प्र) बड़े-बड़े देवों का स्वामी बृहस्पति सुख प्रदान करे (देवीः प्र) परमात्मा की दिव्य शक्तियां दिव्य धन प्रदान करें

१ "योनिः गृहनाम" [नि० ३।४]

२ "रोह वर्धयस्व" [ऋ० ३।८ ११ दयानन्दः]

(सूत्रताः-मे रयि दधातु) उसकी उत्तम वेदवाणी मेरे लिए ज्ञान आदि धन धारण करावे ॥ ३ ॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।

आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

(अवसे) अपनी रक्षा के लिये (सोमम्) शान्तस्वरूप (राजानम्) संसार के राजा (अग्निम्) ज्ञानप्रकाशक (आदित्यम्) अदिति अखण्ड सुख-सम्पत्ति मुक्ति के स्वामी (विष्णुम्) व्यापक (सूर्यम्) प्रेरक (ब्रह्माणम्) महात् (च) और (बृहस्पतिम्) वेदवाणी के स्वामी परमात्मा को (गीर्भिः) स्तुतियों से (हवामहे) आमन्त्रित करते हैं ॥ ४ ॥

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।

त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशक परमात्मन् ! (त्वम्-अग्निभिः) अन्य ज्ञान प्रकाशक अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा के द्वारा, अन्दर साक्षात् ज्ञान प्रकाशित करके (नः) हमारे (ब्रह्म) वेदज्ञान को (च) और (यज्ञम्) वेदानुसार श्रेष्ठतम कर्म को (वर्धय) बढ़ा-बढ़ाता है (देव) हे ज्ञान दान आदि गुणों से युक्त परमात्मन् ! (त्वम्) तू (नः) हमारे में जो (दातवे) अन्यों को ज्ञान दान देने वाला है उसके लिए (दानाय) अन्यों को देने के लिये (रयि चोदय) ज्ञानादि धन को प्रेरित कर-प्रदान कर ॥ ५ ॥

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।

यथा नः सर्व इज्जन्तः संगत्यां सुमन्ना

असद् दानकामश्च नो भुवत् ॥ ६ ॥

(सुहवा-उभौ-इन्द्रवायू) सुष्ठु बुलाने योग्य, हे दोनों धनों से युक्त ऐश्वर्यवान् तथा जीवनप्रद परमात्मन् ! (इह) इस अध्यात्म कल्याण प्रसङ्ग

में तुम्हें (हवामहे) हम बुलाते हैं-स्मरण करते हैं (यथा) जिस से (नः) हमारे में से (सर्वः-जनः-इत्) सब जन-प्रत्येक जन (सङ्गत्याम्) सङ्गति में-परस्पर मेल में (सुमनाः-असत्) अच्छे मनवाला हों (नः) हमारे में से प्रत्येक (दानकामः-भवतु) परस्पर दान, सहयोग का देने वाला हो जाये, ऐसा कर ॥ ६ ॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।

वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

(अर्यमणम्) तापवान् आदित्य को^१ (बृहस्पतिम्) मेघ सम्पादिका गर्जना के पालक स्तनयित्तु को (इन्द्रम्) विद्युत् को (वातम्) पृथिवी को स्पर्श करने वाले वायु को (सरस्वतीम्) पृथिवी पर बहने वाली नदी को (सवितारम्) उत्पन्न करने वाली पृथिवी^२ (च) और (वाजिनम्) ऋतु को^३ (दानाय चोदय) अपने गुण व्यवहार देने के लिए हे परमात्मन् ! प्रेरित कर ॥ ७ ॥

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।

उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥८॥

(वाजस्य प्रसवे नु सम्बभूविम) पूर्वोक्त भौतिक देवों द्वारा दिये अन्न-बल की प्राप्ति में शीघ्र हम समर्थ होते हैं (च) और (इमा विश्वा भुवनानि-अन्तः) ये सारे भूत प्राणी भी^४ इसके अन्दर हैं, वे भी अन्न बल से जीवन निर्वाह करने को समर्थ होते हैं (उत) अपि च (अदित्सन्तं जानन्) न देने की इच्छावाले को जानता हुआ परमात्मा (दापयतु) न देने वाले से दिलावे-

१ "असौ वा आदित्योऽर्यमा" [तै० २।३।४।१]

२ "इयं पृथिवी वै सविता" [श० १३।१।४।२]

३ "ऋतवो वै वाजिनः" [कौ० ५।२]

४ "भुवनं भूतानि" [निरु० १०।१२]

दिलाता है, उस के द्वारा रचा प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी रूप में हमें लाभ देने वाला होता है (च) और (नः सर्ववीरं रयि नियच्छ) हमारे लिए सर्व बलसम्पन्न धन प्रदान कर ॥ ८ ॥

दुहां मे पञ्च प्रदिशो दुहामुर्वीयथाबलम् ।

प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥

(मे पञ्च प्रदिशः-यथाबलं दुहाम्) मेरे लिये पांच प्रमुख दिशाएँ पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण और ऊर्ध्व दिशा यथा शक्ति अपना अपना लाभ दोहन करें, तथा (ऊर्वीः-दुहाम्) छः उर्वियां-अग्नि, पृथिवी, जल, दिन, रात्रि^१ अपना मन से बुद्धिलाभ दोहन करें (सर्वाः-आकूतीः) सारी कामनाओं को (मनसा च हृदयेन) मन से और बुद्धि से (प्रापेयम्) प्राप्त करूँ ॥ ९ ॥

गोसनि वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि ।

आ रून्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

(गोसनि वाचम्-उदेयम्) मैं परमात्मा की स्तुति भरी वाणी बोलूँ^२ (मां वर्चसा-अभ्युदिहि) मुझे तेज से ऊपर उभारे-अभ्युदय को प्राप्त करावे (वायुः) प्राणस्वरूप परमात्मा या वायु (सर्वतः-आरून्धाम) सब ओर से अपने में धारण करे (त्वष्टा में पोषं दधातु) निर्माणकर्ता परमात्मा या सूर्य मेरे अन्दर पुष्टि धारण करावे ॥ १० ॥

१ "षण्मोर्वीरैर्हसस्यात्वग्निश्च पृथिवीचापश्च वातश्चाहश्च रात्रिश्च"

[श० १।५।१।२२]

२ 'वद धातोः "लिङ्चाशिष्यङ्" [अष्टा० ३।१।८६] इत्यङ्, सम्प्रसारणञ् ।

एकविंश सूक्त

ऋषिः—वसिष्ठः ।

देवताः—अग्निः ।

ये अग्नयो अप्स्वन्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।

य आविवेशौषधीर्यो बनस्पतीस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥१॥

(ये-अग्नयः) जो अग्नियां-अग्नि (अप्मु-अन्तः) जलों-जलाशयों के अन्दर वाडवानल रूप से हैं (ये वृत्रे) जो अग्नि मेघ में विद्युद्रूप में है (ये पुरुषे) जो अग्नि शरीर में वैश्वानर-जाठराग्निरूप से (ये-अश्मसु) जो अग्नि पत्थरों चुम्बकीय अयस्कान्त आदि में (यः-ओषधीः-यः-वनस्पतीन्-आविवेश) जो फलपाक कारी ओषधियों और वनस्पतियों में आविष्ट है (तेभ्यः-अग्निभ्यः) उन अग्नियों के लिए (एतत्-हुतम्-अस्तु) यह हवन हो ॥ १ ॥

यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु ।

य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥२॥

(यः सोमे-अन्तः) जो अग्नि सोम ओषधि विशेष के अन्दर मदकारी हर्षकारी रूप में (यः-गोषु-अन्तः) जो अग्नि गवादि पशुओं में दूध परिणामकारी है (यः वयः सुः-मृगेषु-आविष्टः) जो पक्षियों में उदान शक्ति प्रद और जाङ्गलिक पशुओं में पराक्रमकारिरूप में आविष्ट है (यः-द्विपदः-यः-च-चतुष्पदः-आविवेश) जो दो पैर वाले मनुष्यों में ज्ञानकारी और जो चार पैर वाले नागरिक पशुओं में श्रमकारी रूप में आविष्ट है (तेभ्यः-अग्निभ्यः) उन सब अग्नियों के लिए (एतत्-हुतम्-अस्तु) यह यथोचित भाग हो ॥ २ ॥

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।

यं जोहवीमि पृतनासु सासहि तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥३॥

(यः-देवः) जो क्रीडाशील^१ काम अग्नि (इन्द्रेण सरथं याति) आत्मा के साथ समानरथ-शरीर रथ में चलता है (वैश्वानरः) सब चलने वाले प्राणियों में रहने वाला (उत) अपि (विश्वदाव्यः) सबको परित्यापित करने वाला (यं सासहि पृतनासु जोहवीमि) जिस बहुत दबाने वाली को पुनः पुनः अपने अन्दर पचाता हूँ, अनेक संग्रामों में उन अग्नियों के लिए यथोचित हवन हो ॥ ३ ॥

यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्य दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।

यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥४॥

(यः-देवः-विश्वात्) जो क्रीडाशील सबको खा जाने वाला है (यम्-उ कामम्-आहुः) जिसे कामवासनारूप कामाग्नि कहते हैं (प्रतिगृह्णन्तं दातारम्-आहुः) लेते हुए को देने वाला कहते हैं-शरीर के सत्त्वरूप वीर्य बल को लेता है फिर भी उसे देने वाला मानते हैं कामीजन (यः-धीरः-शक्रः) जो शक्ति देने वाला, काम समय में उसकी पूर्ति हेतु निर्बल में भी शक्ति पैदा करने वाला (परिभूः) सब प्राणियों पर छाने वाला (अदाभ्यः) अदमनीय इन सब अग्नियों के लिये यथोचित होम प्रयोग उपाय हो ॥ ४ ॥

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।

वर्चोधसे यशसे सनुतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥५॥

(यं त्वा होतारम्) जिस तुझ होता कल्याणदाता परमात्मा को (पञ्च मानवाः) पांच-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व, शूद्र और निषाद-वनवासी भील

१ “दिवु क्रीडायां [दिवादिः] “यमु काममाहुः” [अथर्व ३।२१।४]

(भोवनाः-त्रयोदश) भुवन-संवत्सर में होने वाले तेरह मासों में^१ (मनसा अभिसंविदुः) मन से विवेचन द्वारा समझते हैं-जानते हैं, उस (वर्चोधसे) तेज धारण कराने वाले (यशसे) यशोरूप^२ (सूनृतावते) शोभन वेदवाणी वाले परमात्मा के लिए उन सब अग्नियों के लिए यथायोग्य उपहार उपयुक्त प्रयोग हो ॥ ५ ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।

वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥

(उक्षान्नाय) सूर्य^३ से अन्न जो देता है ऐसे (वशान्नाय) पृथिवी से^४ जो अन्न देता है ऐसे (सोमपृष्ठाय) ओषधियों में जिसने पोषण दिया है ऐसे (वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः) वायु ज्येष्ठ श्रेष्ठ जिसने दिया है ऐसे (वेधसे) विघाता परमात्मा अग्नि के लिए (तेभ्यः-अग्निभ्य-एतत् हुतम्-अस्तु) उन सब अग्नियों के लिए यथायोग्य हवन प्रयोग हो ॥ ६ ॥

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युत्तमनुसंचरन्ति ।

ये दिक्ष्वन्तर्ये वार्ते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥७॥

(ये दिवं पृथिवीम्-अन्तरिक्षम्-अनु सञ्चरन्ति) जो अग्नि-अग्निरूप परमात्मा या परमात्मतेज शक्तियां बृलोक-सूर्य के प्रति, पृथिवी के प्रति, अन्तरिक्ष के प्रति उनके स्थिति स्थापक रूप में सञ्चार करता है या करती हैं (विद्युत्तम्-अनु) विद्युत् के प्रति सञ्चार करता है या करती हैं (ये दिक्षु-

१ अत्र "सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्" इति वार्तिकेन सप्तमी स्थाने जस् ।

'भवन्ति भूतानि यस्मिन् स संवत्सरः, तत्रभवाः मुख्याः-द्वादशमासाः अघिमासश्च त्रयोदशः ।'

२ "यस्य नाम महद्यशः" [यजु०]

३ "उक्षा सूर्यः" [ऋ० ४ । ५६ । १ दयानन्दः]

४ "इयं पृथिवी वै वशा" [श० ५ । १ । ३ । ३]

अन्तः) जो दिशाओं के अन्दर (ये वाते-अन्तः) जो वायु के अन्दर सञ्चार करता या करती हैं, उस या उन अग्निरूप परमात्मा या परमात्मतेजः शक्तियों के लिए हवन यथायोग्य सेवन उपयोग हो ॥ ७ ॥

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।

विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥

(हिरण्यपाणिं सवितारम्) सूर्य आदि हिरण्यमय या हिरण्य-मोक्ष जिसके पाणि-हाथ में है ऐसे उत्पादक (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् (बृहस्पतिम्) वेदवाणी के स्वामी (वरुणम्) वरने योग्य तथा वरने वाले (मित्रम्) प्रेरक (अग्निम्) ज्ञानप्रकाश स्वरूप परमात्मा को (विश्वान् देवान्-अङ्गिरसः) सब दिव्य गुण वाले अङ्गों के रसरूप परमात्मा को (हवामहे) आमन्त्रित करते हैं (इमं क्रव्यादम्-अग्निं शमयन्तु) इस मांस खाने वाली कामाग्नि का शमन करे ॥ ८ ॥

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।

अथो यो विश्वदाव्यस्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥ ९ ॥

(क्रव्यात्-अग्निः-शान्तः) परमात्मदेव तथा उसकी विभूतियों को धारण करने से मनुष्य के जीवित मांस को खाने वाली कामाग्नि शान्त हो गयी (पुरुषरेषणः शान्तः) मनुष्य की हिंसक कामाग्नि शान्त हो गयी (अथ-उ) और भी (यः-विश्वदाव्यः) जो विश्व को परित्यापित करने वाली कामाग्नि है (तं क्रव्यादम्-अशीशमम्) उस जीवित मनुष्य के मांस को खाने वाली अग्नि को मैं शान्त करता हूँ ॥ ९ ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।

वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १० ॥

(ये पर्वताः) जो पर्वत (सोमपृष्ठाः) सोम ओषधि पृष्ठ पर जिनके ऐसे (उत्तानशीवरीः) अनावरण खुले शयन करने वाले बहने वाले (आपः) जल (वातः) वायु (पर्जन्यः) मेघ (आत्) अनन्तर (अग्निः) होमाग्नि (ते) वे ये (ऋग्व्यादम्-अशीशमम्) जीवित मांस को खाने वाले कमाग्नि को शमन करते हैं ॥ १० ॥

द्वाविंश सूक्त

ऋषिः—वसिष्ठः

देवताः—विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वचंः

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संवभूव ।
तत् सर्वे समदुर्महामेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥

(हस्तिवर्चसम्) हाथी का तेजोबल (प्रथताम्) मेरे शरीर में फैले-प्रवेश करे (यत्) जो (अदित्याः-तन्वः) अविनाशी आत्मा' अर्थात् परमात्मा से (यत्-संवभूव) जो उत्पन्न हुआ (बृहद् यशः) जो बड़ा यशोनिमित्त है (सर्वे) सब (विश्वेदेवाः) प्राण^२ (अदितिः सजोषाः) अविनाशी आत्मा परमात्मा के साथ^३ समान प्राप्ति वाले होकर परमात्मा की कृपा से मुक्त हुए (तत् मह्यं सम्-अदुः) उसने मेरे लिये दिया है

॥ १ ॥

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेतु ।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥ २ ॥

१ आत्मा वै तन्न [श० ७।२।६]

२ प्राणा वै विश्वेदेवाः [श० १४।२।२।३७]

३ तृतीया स्थाने प्रथमा] अष्टा० ७।१।३९]

(मित्रः-च वरुणः-च इन्द्रः-च रुद्रः-च चेततु) सूर्यं और जल और वायु और अग्नि^१ मेरे अन्दर वर्च-तेजोबल को चेतावे-बढ़ावे (विश्वधायसः-देवासः) विश्व को धारण करने वाले देव भी (ते) वे (मा वर्चसा-अञ्जन्तु) मुझे तेजोबल से चमकावें ॥ २ ॥

येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्वः ।

येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विर्न कृणु ॥ ३ ॥

(येन वर्चसा हस्ती सम्बभूव) हाथी जिस तेजोबल से सम्पन्न हुआ-होता है (अप्सु-अन्तः-मनुष्येषु-येन-राजा) आत प्रजाजनों^२ के अन्दर राजा जिस तेजोबल से सम्पन्न हुआ-होता है (अग्रे देवाः-देवताम्-येन-आयन्) आरम्भ सृष्टि में देव जिस तेजोबल से देवत्व को प्राप्त कर सके (तेन-वर्चसा) उस तेजोबल से (अग्ने) हे परमात्मन् ! (माम्) मुझे (अद्य वर्चस्विर्न कृणु) आज वर्चस्वी-तेजस्वी कर ॥ ३ ॥

यत् ते वर्चो जातवेदो बृहद् भवत्याहुतेः ।

यावत् सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः ।

तावन्मे अश्विना वर्च आ घत्तां पुष्करस्रजा ॥ ४ ॥

(सूर्यस्य-यावत्-वर्चः) सूर्य का जितना तेजोबल है (च) और (आसुरस्य-हस्तिनः) आसुर हाथी का प्राणों में उन्मत्त प्राण शक्ति सम्पन्न रमण करने वालों में प्रबल हाथी का तेजोबल (मे) मेरे लिये-मेरे में

१ अथ यत्रैतत्प्रथमं^२ समिद्धो भवति, धूप्यतऽएव तर्हि हैष भवति रुद्रः-
[माश २।३।२।९]

२ "मनुष्या वा आपश्चन्द्राः" [श० ७।३।१।२०]

"आपः-आतः प्रजा" [६।२७६ दयानन्दः]

(पुष्करस्रजा-अश्विना) आकाश को मेघ से सर्जन करने वाले विद्युत् और वायु^१ (तावत्) उतना (वर्चः) तेजोबल (घत्ताम्) धारण करावें ॥ ४ ॥

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते ।

तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्वस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

(यावत्) जितना (चतस्रः-प्रदिशः) चारों प्रमुख दिशाएं (वर्चः) तेजोबल रखती हैं (यावत्) जितना (चक्षुः समश्नुते) तेजोबल आँख सम्यक् प्राप्त प्रभावकारी दूरतक लिये हुए है (तावत्-हस्तिवर्चसम्) उतना हाथी का तेजोबल (मयि-इन्द्रियं समेतु) उतना मेरे में इन्द्रिय अर्थात् आत्मा का लिङ्ग अङ्ग बन प्राप्त हो ॥ ५ ॥

हस्ती मृगाणां सुषदांमतिष्ठावान् बभूव हि ।

तस्य भगेन वर्चसाऽभि विश्रामि मामहम् ॥ ६ ॥

(सुषदां-मृगाणाम्) सुख से बैठने-रहने वाले वन्य पशुओं में (हस्ती-मतिष्ठवान्) हाथी अत्यन्त स्थित बलवान्^२ (बभूव-हि) हुआ है । (तस्य-भागेन-वर्चसा) उसके भजनीय तेजोबल से (माम्) अपने को (अहम्-अभिषिञ्चामि) मैं अभिषिक्त करता हूँ ॥ ६ ॥

त्रयोविंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा

देवता—योनिः

१ “अश्विना वायुविद्युतौ” [यजुर्वेद २ । १ । ५८ दयानन्दः]

२ “बलेषु हस्तिवद्यामीनि” (योग दर्शन)

“दृष्टिवत् आवेश की सिद्धि है ।”

येन बेहद् बभूविथ नाशयामसि तत् त्वत् ।

इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे नि दध्मसि ॥ १ ॥

(येन) हे स्त्री ! जिस कारण से तू (बेहव्) गर्भपातिनी बन्ध्या (बभूविथ) हो गई (तत्) उसे (त्वत्) तुझ से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं (इदं-तत्) इस उस दोष को (त्वत्) तेरे से (अन्यत्र दूरे) अन्यत्र दूर (अपनिदध्मसि) हटाते हैं ॥ १ ॥

आ ते यानि गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।

आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ २ ॥

(ते) हे स्त्री तेरी ! (योनिम्) योनि में-गर्भाशय में (बाण इव-इषुधिम्) बाण के घर तरकस में बाण की भाँति (पुमान् गर्भः) पुत्र गर्भ (आ-एतु) आवे-प्राप्त हो (ते) तेरा (दशमास्यः) दस मास में उत्पन्न होने वाला (वीरः पुत्रः) वीर पुत्र (अत्र) इस वंश में या इस घर में (अपनि अजायताम्) जन्मे ॥ २ ॥

पुमांस पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।

भवसि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥ ३ ॥

(पुमांस पुत्रम्) हे देवी ! तू बालक सन्तान को (जनय) उत्पन्न कर (तम्-अनु) उसके पीछे फिर (पुमान्) बालक (जायताम्) उत्पन्न हो (जातानां पुत्राणाम्) उत्पन्न हुए पुत्रों की (माता भवसि) माता हो (च) और (यान्) जिनको (जनयाः) पुनः उत्पन्न करे उनकी भी माता हो ॥ ३ ॥

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।

तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूधेनुका भव ॥ ४ ॥

(ऋषभाः) ऋषभक ओषधियाँ (यानि च) जिन भी (भद्राणि बीजानि) भद्र गर्भबीजों को (जनयन्ति) उत्पन्न करती हैं (तैः) उनसे (त्वम्) तू (पुत्रम्-विन्दस्व) पुत्र को प्राप्त कर (सा) वह तू (प्रसूः-धेनुका भव) प्रसव होने वाली बच्चे को दूध पिलाती हुई-जीवितवत्सा हो ॥४॥

इस मन्त्र में 'ऋषभ' ओषधि का वर्णन है, अष्ट वर्गों की ऋषभक ओषधि का नाम ऋषभ है। 'ऋषभक' में गर्भशक्ति देने के गुण हैं "जीव कर्षभको ज्ञेयी हिमद्रिशिखरोद्भू वा ।.....ऋषभो वृषभो धीरो विषाणी द्राक्ष इत्यपि ॥" (भाव प्रकाश नि०) "ऋषभको मधुः शीतो गर्भसन्धानकारकः । शुक्रघातु कफानां च कारको बलदायकः । (निघण्टु रत्नाकर) इन वचनों में 'ऋषभक' ओषधि को ऋषभ कहा है और उसे गर्भशक्ति देने वाली भी बतलाया है ॥ ४ ॥

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भं एतु ते ।

विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥५॥

(नारि) हे स्त्री ! (ते) तेरे लिये (प्राजापत्यम्) प्रजापतिकर्म-सन्तानोत्पादक कर्म (कृणोमि) करता हूँ (ते योनिम्) तेरी योनि में-गर्भाशय में (गर्भः-आ-एतु) गर्भ प्राप्त हो (त्वम्) तू (पुत्रं विन्दस्व) पुत्र को प्राप्त कर (यः) जो (तुभ्यम्) तेरे लिये (शम्) कल्याणदायक (असत्) हो । और (त्वम्) तू (तस्मै) उसके लिये (शम्-उ) अवश्य कल्याणसाधक (भव) हो ॥ ५ ॥

यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।

तास्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

(यासां वीरुधाम्) जिन ओषधियों का (द्यौः पिता) द्युलोक मेष जनक है (पृथिवी माता) पृथिवी धारिका-पोषिका है (समुद्रः-मूलम्) जलराशि मूल (बभूव) है (ताः दैवीः-ओषधयः) वे दिव्य ओषधियाँ (पुत्र-

विद्याय) पुत्र प्राप्ति के लिये (त्वा) तेरी (प्रावन्तु) रक्षा करें अथवा (समुद्रः-मूलम्) अन्तरिक्ष जिन का मूल है (ताः-देवीः-ओषधयः) वे दिव्य ओषधियाँ जल^१ (त्वा प्रावन्तु) तेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥

इस मन्त्र में वृष्टि के जल बन्ध्या रोग की चिकित्सा के लिये उपयोगी बतलाए हैं ॥ ६ ॥

इस सूक्त में “ऋषभक” और ‘वृष्टि के जल’ से स्त्री के बन्ध्या रोग की चिकित्सा करने का विधान है । ‘ऋषभक’ को वृष्टि के जल से घिस कर-घोट कर सेवन करना चाहिये तथा इन के पृथक्-पृथक् सेवन करने से उक्त रोग दूर हो सकता है ऐसा भी समझा जा सकता है ।

चतुर्विंश सूक्त

ऋषिः—भृगुः ।

देवता—वनस्पतिः, प्रजापतिः ।

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मामकं वचः ।

अथो पर्यस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

(पर्यस्वतीः-ओषधयः) प्रशस्त रस वाली^२ ओषधियाँ हों (अथ-उ) पुनः (पर्यस्वतीनाम्) रस वाली ओषधियों के (सहस्रशः-अहम्-आभरे) बहुविध-धान्य को^३ मैं आभरित करूँ जिनके सेवन से (मामकं वचः-पर्यस्वत्) मेरा वचन-स्तुति कथन रसवाला-प्रभावक हो ॥ १ ॥

१ “सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु” (यजु० ३६ । २३)

२ “पर्यस्वती पयः प्रशस्तो रसो विद्यते यस्या सा” [यजु० २ । २७ दयानन्दः]

३ “अगले मन्त्र में देखो ।

वेदाहं पर्यस्वन्तं चकारं धान्यंबहु ।

सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अयज्वनो गृहे ॥२॥

(अहं-पर्यस्वन्तं वेदः) मैं रस वाले को जानता हूँ । (धान्यम् बहु-चकार) जो बहुत धान्य करता है (यः-देवः-नाम सम्भृत्वा) जो देव-मेघ धान्य को सम्भरण करने वाला, बरस कर सम्पुष्ट करने वाला है (तं वयं हवामहे) उस मेघ को हम अपनी ओर समय पर बरसने के लिये आमन्त्रित करते हैं-आकर्षित करते हैं (यः-यः) जो-जो हैं-जो कि (अयज्वनः-गृहे) यज्ञ-होम न करने वाले के घर में भी बरसा करता है, फिर हम तो यज्ञ करने वाले हैं कैसे हमें कृतार्थ न करेगा ॥ २ ॥

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।

वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

(याः-इमा-पञ्च-प्रदिशः) जो ये पाँच प्रदिशाएं-राष्ट्र की चारों सीमाएं तथा राष्ट्र के मध्य वाली हैं उनमें (पञ्च-मानवाः-कृष्टयः) पाँच मानव कर्म वाली प्रजाएँ हैं^१ वे (वृष्टे-स्फातिम्-समावहान्) मेघ बरस जाने पर अन्न की स्फाति-वृद्धि-बहुतायत को सम्यक् प्राप्त करते हैं-भरपूर होते हैं (नदीः-शापम्-इव) जैसे नदियाँ बरसा हो जाने पर सुखदायक जल जिसमें है ऐसे पूर को^२ बहालाती हैं ॥ ३ ॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् ।

एवास्माक्रेदं धान्यंसहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥

१ "कृष्टयः कर्मवन्तो भवन्ति" [निरुक्त १० । २२]

२ शापः आपो यस्मिन् स शापः तं शापम्

(शतधारम् सहस्रधारं) सैकड़ों धारावाले सहस्रो धारा वाले (अक्षितम्) क्षयरहित (उत्सम्) मेघ को (उत्) 'उत्पूरयति' परमात्मा जल से उत्पूरण करता-ऊपर वृष्ट कर देता है (एव) ऐमे ही (अस्माक) हमारा^२ (इदं धान्यम्) यह धान्य या धान्य स्थान-खेत (सहस्रधारम्-अक्षितम्) सहस्रो धाराओं दानों को धारण करने वाली बालों से युक्त ऊपर तक भरपूर हो ॥ ४ ॥

शतहस्त समाहर् सहस्रहस्त सं किर ।

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फाति समावह ॥ ५ ॥

(शतहस्त समाहार सहस्रहस्त सं किर) हे मानव ! तू वनस्पति की भाँति-जैसे वनस्पति-फलवाद् वृक्ष सौ मूलभागों द्वारा भूमि से आहार रस लेता है और सहस्र शाखा भागों द्वारा फल प्रदान करता है ऐसे तू भी सौ हाथों द्वारा अन्यो से दान-धन, गुण, शक्ति ले तो ऐसी स्थिति अपनी बना सहस्र हाथों वाला हो कर अन्यो को धन, गुण, शक्ति प्रदान कर; सो कैसे (कृतस्य-कार्यस्य च-इह) किए हुए और आगे किये जाने वाले कर्तव्य के बीच में (स्फाति समावह) वृद्धि को सम्यक् प्राप्त कर वनस्पति ने अपने जीवन की लता को बढ़ाया तब सैकड़ों मूलभागों द्वारा आहार लेकर सहस्र शाखा-भागों द्वारा फल प्रदान करने योग्य बना, ऐसे जीवन की लता को बढ़ा

॥ ५ ॥

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।

तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥

१ 'अददरूत्सम' "उत्तरणाद्दोत्सदनाद्वत्स्यन्दनाद्वा" [नि० १०।१०]

३ मकार लोपश्छान्दसः

(गन्धर्वाणाम्) गौ-पृथिवी को धारण करने वाले सूर्य, वायु, अग्नि इन तीनों की^१ (तिस्रः-मात्राः) तीन मात्राएं-‘तेज, जीवन, रसपाक’ [गौ-पृथिवी में धारण करना, किसान का खेत जोतना, बीज बोना, खाद-जल देना, किसान का यत्न, रक्षा करना, काटना, गाहन-दाने अलग-अलग करना भी समझो] धान्य निर्माण करने की शक्तियाँ^२ (गृहपत्न्याः- चतस्रः) गृह-पत्नी की चार मात्राएं-धान्य निर्माण शक्तियाँ हैं-धान्य को पृथिवी के गर्भ में^३ रखना, पोषण देना, बाहिर अङ्कुरित करना, बढ़ाना-धारण करना (तासां या स्फातिमत्तमा) उनमें अत्यन्त वृद्धि वाली मात्रा-शक्ति है-फलप्राप्ति (तथा त्वा-अभिमृशामसि) उससे हे धान्य-धान्यतरु तेरा अभिमर्श करते हैं पर्याप्त स्फूर्ति करते हैं ॥ ६ ॥

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते ।

ताविहा बहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

(प्रजापते) हे धान्य दाता प्राणि-प्रजा के पालने वाले-कृषक-किसान (ते) तेरे (क्षत्तारौ) तुझे तथा जनता की क्षत से त्राण कर्ता है (उपोहः-च समूहः-च) उपोहन करने वाला-धान्य को ऊपर से प्राप्त कराने वाला धान्य के पौधों से ले लेने वाला, दूसरा सम्यक् ऊहन करने वाला धान्य गाह कर धान्य दाने का बुरा अलग करने वाला है यह समय पर ऐसा न करे, धान्य खेत में खड़ा विखर जावे, पक्षी खा जावें बुरा से धान्य अलग न करे तो धान्य की प्राप्ति न हो सके (ती) ये दोनों (इह) यहाँ राष्ट्र में या घर में (स्फातिम्-बहुं-भूमानम्-अक्षितम्-आवहताम्) वृद्धि-समृद्धि को बहुत विभूति को क्षयरहित धान्य को समन्तरूप से लावे ॥ ७ ॥

१ त्रयो गन्धर्वाः, तेषां भक्ति । अग्नेः पृथिवी वायोरन्तरिक्षम्, आदित्यस्य

द्यौः [य० २ । १४१]

२ “यदेव मिमित तस्मान्नाता” [श० ३ । ९४ । ८]

३ “सेयं पृथिवी देवानां पत्नी” [श० १ । ३ । १ । १५१]

पञ्चविंश सूक्त

ऋषिः—भृगुः ।

देवता—कामेषुः, मित्रावरुणौ ।

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।

इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥

(उत्तुदः) उत्पीडक कामभाव (त्वा) हे कामयुक्त कुमादी (त्वा) तुम्हे (उत्तुदतु) उत्पीड़ा करे-कर रहा है (स्वे-शयने) अपने शयनस्थान-विस्तरे पर (मा धृथाः) धैर्य को प्राप्त नहीं कर रहा है, ऐसी अवस्था में (कामस्य या भीमा-इषुः) कामभाव का जो भयङ्कर बाण (तया) उसके द्वारा (त्वा-हृदि-विध्यामि) तुम्हे हृदय में ताड़ित करता हूँ जो तेरे कामभाव को पूरा करे ॥ १ ॥

आधीपर्णा कामशल्यामिषुं सङ्कल्पकुलमलाम् ।

तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥

(आधीपर्णाम्) मानसी पीड़ारूप-पत्तं फल वाले (कामशल्याम्) कामना-रतिभावनातीक्ष्ण अणि-नोक जिसमें है (सङ्कल्पकुलमलाम्) प्रवल इच्छा है मध्य-जोड़ जिसमें ऐसी (तां इषुम्) उस इषु-बाण (सुसन्नतां कृत्वा) ठीक लगाकर (कामः) कामनावाला जन (त्वा हृदि विध्यतु) तुम्हे हृदय में ताड़ित करे ॥ २ ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसन्नता ।

प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

(या कामस्य-इषुः) जो कामभाव का बाण (सुसन्नता) ठीक लगा हुआ (प्लीहानं शोषयति) प्लीहा-हृदय भाग^१ सुखाना है (प्राचीनपक्षा-

१ "प्लीहा हृदयस्यावयवेन" [यजु० २५ । ८ दयानन्दः]

व्योषा) सामने पंख रखने वाला विशेष दाहक बाण है (तथा) उससे (त्वा हृदि-विध्यामि) तुझे हृदय में ताड़ित करता हूँ ॥ ३ ॥

शुचा विद्वा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा ।

मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥

(शुचा) शोकप्रद (व्योषया) विशेष दाहक कामबाण से (विद्वा) ताड़ित हुई (शुष्कास्या) सूखे मुख वाली हुई, तू हे कामातुरा (मा-आभि-सर्प) मेरे प्रति प्राप्त हो (मृदुः) कोमल स्वभाव वाली-बन-सरल बन (निमन्युः) न्याक्-पृथक् कृत क्रोध वाली अब उत्तेजनारहित हुई (केवली) एकाश्रय-एक पति के आश्रय वाली (प्रियवादिनी) पति के प्रति मीठा हितकर बोलने वाली (अनुव्रता) अनुकूल विचार क्रिया वाली हो ॥ ४ ॥

आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः ।

यथा मम क्रताबसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

(त्वा यथा-आ-अजन्या) तुझे समन्तरूप से अजनी-सन्तान जनन रहित जायापन रहित अन्य की जाया न होती हुई पूर्ण ब्रह्मचारिणी कुमारी के साथ (मातुः-अथ-उ-पितुः-परि-आ-अजामि) माता और पिता की पहिचान में विवाह कर लाया हूँ (यथा) जिस से (मम क्रती-असः) मेरे कर्म-गृहस्थ कर्म में सहयोगिनी रह-हो (मम चित्तम्-उपायसि) मेरे चित्त को प्राप्त हो मेरे अनुकूल चल मेरी प्रिया बन ॥ ५ ॥

व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् ।

अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥

(मित्रावरुणौ) हे स्नेह तथा रक्षण करने वाले प्राण उदान के समान पारिवारिक स्त्री-पुरुषो^२ (अस्यै) इस वधू के लिये (हृदः-चित्तानि) हृदय-

१ "जनीनाम् जायानाम्" [निरुक्त १२। ४६]

२ "मित्रावरुणौ प्राणोदानाविव स्त्रीपुरुषौ" [ऋ० ६। ४२। ५ दयानन्दः]

हितभावनाए और हितचिन्ताए (वि-अस्यतम्) विशेषरूप से प्रेरित करो-
प्रदान करो (अथ-एनाम्-अक्रतुं कृत्वा) और इसको मुझ से भिन्न सङ्कल्प-
कामनारहित या मुझ से भिन्न कर्म-मेरी जानकारी के बिना अपना कर्म न
करने वाली (कृत्वा) बनाकर (मम-एव वशे-कृणुतम्) मेरे वश में-मेरे
कमनीय सङ्कल्प में या कार्य में करो-बनाओ ॥ ६ ॥

षड्विंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा

देवता—साग्नयो हेतयः; सकामा-अविष्यवः; अवयुक्ता वैराजः;
सवाताः प्रविध्यन्तः; सौषधिका निलिम्पाः; बृहस्पति युक्ता
अवस्वन्तः

येऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥१॥

(अस्यां प्राच्यां दिशि) इस पूर्व दिशा में (ये हेतयः-देवाः-नाम स्थ)
जो शत्रुओं के घातक व आदि शस्त्राशस्त्र वाले सैनिक जिगीषु-विजयशील प्रसिद्ध
हैं (तेषां वः-इषवः-अग्निः) उन तुम्हारे चलने वाले बाण अग्नि हैं अग्नि
के सहश जलाने वाले या तापक हैं (ते) वे तुम (नः-मृडत) हमें सुख प्रद
होवें (ते) वे तुम (नः-अधिब्रूत) अधिभाषण करो-सावधान करो या
हमारी रक्षा का आश्वासन दो या साहस वचन बोलो (वः-तेभ्यः-नमः) उन
तुम्हारे किये अन्नादि पदार्थ हैं (वः-स्वाहा) तुम्हारे लिये साधुवचन हैं ॥ १ ॥

येऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम

देवास्तेषां वः काम इषवः ।

ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥२॥

(अस्यां दक्षिणायां दिशि) इस दक्षिण दिशा में (ये अविष्यवः-
देवाः-नाम स्थ) जो रक्षण इच्छुक सेना के भी रक्षक विजयशील प्रसिद्ध हों
(तेषां वः-इषवः-कामः) उन तुम्हारे चलने वाले बाण काम के समान अन्तः
करण को भस्म करने वाले या अचेत या व्याकुल करते हैं (ते नः.....) वे
तुम हमें सुखी करो हमें सावधान करो आश्वासन दो साहस वचन बोलो तुम्हारे
लिये अन्नादि हैं और साधुवचन हैं ॥ १ ॥

येऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा

नाम देवास्तेषां वः आप इषवः ।

ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥३॥

(अस्यां प्रतीच्यां दिशि) इस पश्चिम दिशा में (ये वैराजाः-देवाः-
नाम स्थ) जो बरुणशक्तिसम्पन्न वारुण अस्त्र प्रयोक्ता^१ विजयशील प्रसिद्ध हों
(तेषां वः-आपः-इषवः) उन तुम्हारे 'आपः' जल चलने वाले बाण है (ते
नः.....) वे तुम हमें सुखी करो, हमें सावधान करो साहस वचन बोलो
आश्वासन दो तुम्हारे लिये अन्नादि हैं और साधुवचन है ॥ ३ ॥

येऽस्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो

नाम देवास्तेषां वो वात इषवः ।

ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥४॥

(अस्याम्-उदीच्यां दिशि) इस उत्तर दिशा में (ये प्रविध्यन्तः-देवाः-
नाम स्थ) जो प्रकृष्ट या प्रबलरूप से शत्रुओं का ताड़न करने वाले विजयशील
प्रसिद्ध हों (तेषां नः-इषवः-वातः) उन तुम्हारे चलने वाले बाण वात झञ्झा-
वात प्रबल वायुप्रहार चलने वाले हैं (ते नः.....) वे तुम हमें सुखी करो

हमें सावधान करो साहस वचन बोलो आश्वासन दो तुम्हारे किये अज्ञादि पदार्थ और साधुवचन है ॥ ४ ॥

ये३स्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा

नाम देवास्तेषां वः ओषधीरिषवः ।

ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥५॥

(अस्यां ध्रुवायां दिशि) इस ध्रुवा-पृथिवी की दिशा में (ये निलिम्पा:-देवा:-नाम स्थ) जो निलिम्पन शत्रुओं को-अन्दर अस्त्र चुभने में कुशल विजयशील प्रसिद्ध हों (तेषां वः-इषवः-ओषधीः) उन तुम्हारे चलने वाले बाण ओषधि-विषयुक्त वस्तुएं हैं (ते नः...) वे तुम हमें सुखी करो सावधान करो साहस वचन बोलो आश्वासन दो तुम्हारे लिये अज्ञादि पदार्थ और साधुवचन है ॥ ५ ॥

ये३स्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम

देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः ।

ने नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥६॥

(अस्याम्-ऊर्ध्वायां दिशि) इस ऊपर की दिशा में (ये-अवस्वन्तः:-देवा:-नाम स्थ) जो रक्षा साधन वाले विजयशील प्रसिद्ध हों (तेषां वः-बृहस्पतिः-इषवः) उन तुम्हारे से चलने वाले बाण कड़कड़ाहट करने वाला अस्त्र फेंकने वाला है (ते नः.....) वे तुम हमें सुखी करो हमें सावधान करो साहस वचन बोलो आश्वासन दो-तुम्हारे लिये अज्ञादि पदार्थ और साधुवचन है ॥ ६ ॥

सप्तविंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा ।

देवता—प्राची, अग्निः, असितः, आदित्याः, २ दक्षिणा, इन्द्रः, तिरश्चिराजिः, पितरः ३ प्रतीची, वरुणः, पृदाकुः, अन्नम्, ४ उदीची, सोमः, स्वजः, अशनिः, ५ ध्रुवा, विष्णुः, कल्माष-ग्रीवः, वीरुधः, ६ ऊर्ध्वा, बृहस्पतिः, श्वित्रः, वर्षम् ।

प्राची दिग्ग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो

नम् इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

(प्राची-दिक्) प्राची दिशा है-रात्रि के पश्चात् सबसे प्रथम दीखने वाली दिशा, इसका (अग्निः-अधिपतिः) अग्नि अधिपति है “प्राची ही दिग्गनेः” [श० ६ । ३ । ३ । २] अर्थात् प्राची दिशा अग्नि की है वह प्राची दिशा में दीखने वाले सूर्य का कारण है जिसका पिण्डीभाव साकार स्वरूप पिण्ड सूर्य बन गया, इसका-(असितः-रक्षिता) असित रक्षक है अग्नि को इस प्रकार पिण्डीभूत सूर्यरूप में रखने वाला असित-सित-शुक्ल असित कृष्ण नाम का सूर्यान्तर्गत एक भाग है, सूर्य में दो भाग हैं एक प्रकाशमान तेजोस्वरूप दूसरा अप्रकाशमान कृष्णरूप हैं^१ ये भाग सूर्य के अन्दर कृष्ण कन्द्राम्रो Sunspots के रूप में दिखलाई पड़ जाता है यही जल-जल कर सूर्य को गोल रूप में बनाये रखता है जैसे पृथिवी पर कोयलादि ईधन अग्नि को स्थिर रखता है इसके (आदित्याः-इषवः) आदित्य वर्ग इषु हैं हमारी ओर प्रेरित

१ “तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्योरूपं कृणुते द्यौरूपस्थे । अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्वरितः संभरन्ति ॥” (ऋ० १ । ११५ । ५)

किये जाने वाले पृथिवी पृष्ठ पर प्रात होने वाले पदार्थ हैं 'इष गतौ' धातु से इषु शब्द बना है 'इषेः किञ्चे' [उण० १।१३] यहाँ आदित्य से अभिप्राय सूर्यकिरणों तथा दिन रात के आठ पहर हैं^१ इस पूर्व दिशा से पृथिवी पृष्ठ पर वस्तुरूप में किरणों और कालरूप दिन रात के आठ पहर प्रात होते हैं (तेभ्यां-नमः-अधिपतिभ्यो नमः-रक्षितृभ्यः-नम इषुभ्यः-नम एभ्यः-अस्तु) उन अधिपति रक्षिता और इषुओं के लिये नमन अर्थात् उनके प्रति उपयोगप्रवृत्ति हमारी हों यहाँ पर बहुवचन एक वचन में छान्दस है (यः-अस्मान् द्वेष्टि यं वयम्-द्विष्मः-तं-वःजम्भे दध्मः) जो हमसे द्वेष करता है या जिस द्वेष करने वाले के प्रति हम द्वेष करते हैं उसे तुम्हारे नाशक साधन में "जभि नाशने" [चुरादि] में रखते हैं ॥ १ ॥

दक्षिणा दिग्निद्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो

नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

(दक्षिणा दिक्) दक्षिण हाथ की ओर दिशा दक्षिण है । "दक्ष गति-वृद्धयोः" (भ्वादि) जलप्रवाह इधर गति करते रहते हैं । इस दिशा में (इन्द्रोधिपतिः) इन्द्र अधिपति है । समुद्र में आन्दोलनरूप गति वायु के झोके से होती है । "वायुर्यद् दक्षिणतो वाति मातरिष्वैव भूत्वा दक्षिणतो वाति" 'तौ० ३२।३।५ ॥' "यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायु" उस समुद्र के प्रेरक वायु का नियन्त्रण करने वाला (तिरश्चिराजी रक्षिता) अन्तर्हित पंक्तियाँ बनाने वाला वातावर्त रक्षक है । "तिरोऽन्तरञ्चन्तीति

१ "एताभिर्वा आदित्या इन्द्रमाध्नुवन् मित्रश्च, वरुणश्च, धाता चार्यमाच, भगश्च, अंशश्च, इन्द्रश्च, विवस्वाश्च" ॥ [तां० २४।१२।४]

तिरश्चयः, तिरश्चयोऽन्तर्गति प्रेरका राजयः पंक्तयो यस्य यस्मिन् वा स तिरश्चि
 राजिः” “तिरोऽन्तर्दधाति” (निरु० १२।३२) उस तिरश्चिराजी नामक
 वायु मण्डल के केन्द्र में वर्तमान आन्तरिक आवर्त के (पितरः-इषवः) पितर
 अर्थात् ऋतुएं पृथिवी पृष्ठ पर पहुँचने वाले पदार्थ “षड् वा ऋतवः पितरः”
 (श० ९।४।३।८) दक्षिण से ऋतुएं आती हैं। “पितरो दक्षिणतः
 आगच्छन् (जै० उ० २।७।२) वायु ही ऋतुओं को प्रकट करता है
 (तस्माद्यथुं वायुः पवते) (तां० १०।९।२) ऋतुसंचार दक्षिण से
 होता है। दक्षिण से औषधियाँ पकती हुई आती हैं। “दक्षिणतोऽग्ने-ओषधयः
 पच्यमाना जायन्ते” (ऐ० ब्रा० १।२) (तेभ्योः-नमः) पूर्व की भाँति
 समझें। (योऽस्मान् द्वेष्टि) पूर्ववत् जानें ॥ २ ॥

प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्मिषवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो

नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥

(प्रतीची दिक्) प्रतीची दिशा है अर्थात् पीछे तक दीखने वाली दिशा
 सूर्य के अस्त होने के समय प्रकाश को दिखाती हुई दिशा है इस में (वरुणः-
 अधिपतिः) वरुण अधिपति है इस दिशा में चन्द्रमा प्रथम उदित होकर बढ़ता
 हुआ ठण्डी चन्द्रिका-चान्दनी फैलाता है इस प्रकार शीतल जल का सूक्ष्म स्वरूप देव
 अधिपति है “आपो यच्च वृत्वाऽतिष्ठं स्तद्वरुणोऽभवत् वा एतं वरणं सन्तं वरुण
 इत्याचक्षते परोक्षेण” [गो० पू० १।७] “प्रमाणवलना भीष्टग्रासादिहिमरश्मिवत्”
 [सूर्य सिद्धान्त । सूर्य ग्रहणअधिकार १३] इसे पिण्डरूप देने का (पृदाकुः-
 रक्षिता) पृदाकु रक्षक है-आधार-है पृदाकु नाम का हिमाच्छादित
 बरफीला पर्वत रूप चन्द्र लोकान्तर्गत एक भाग है। मन्त्रब्राह्मण में कहा है
 “यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्” [मन्त्र ब्रा० १।५।१३]

पृथिवी का हृदय अर्थात् वक्षःस्थल पर्वत है एवं चन्द्रमा में कृष्ण भाग पर्वत है पृदाकु अजगर को कहते हैं पर्वत की आकृति भी अजगर जैसी होती है । वैदिक साहित्य में पर्वत और अहि को मेघ के अर्थ में पर्याय भी माना हुआ है । पृदाकु का यौगिक अर्थ है कुत्सित शब्द करने वाला “पर्दे-नित्सम्प्रसारण-मलोपञ्च” [उणा० ३।८०] “पर्द-कुत्सिते अर्थे” [भ्वादि] “नित्त्वाद्-ञिनत्यादिनित्यम्-इत्याद्युदात्तः” ।

इस के (अन्नम्-इषवः) अन्न इषु हैं अर्थात् हमारी ओर प्रेरित किये जाने पृथिवी पृष्ठ पर प्राप्त होने वाले पदार्थ हैं । चांद की चंद्रिका में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया आदि क्रम से पूर्णिमा तक पहुँचती हैं पुनः कम होते होते अमावस्या तक जाती हैं इस प्रकार, शुक्ल पक्ष और-कृष्ण पक्ष की तिथियों में चन्द्रिकाओं से युक्त एक भासमान स्वरूप चित्रित होता है जो हमतक या पृथिवी पृष्ठ तक पहुँचे इषु हैं इसी का नाम चन्द्रमा है और इसी को अन्न भी कहते हैं । “अन्नं वै चन्द्रमाः” [तै० ३।२।३।४] “अथो चन्द्रमा वै भान्तः पञ्चदशः स च पञ्च दशाहान्यापूर्यतेपञ्चदशापक्षीयते तद्यत्तमाह भान्तरति भाति हि चन्द्रमाः” [श० ८।४।१।१०] सूर्य से जैसे अग्नि की किरणें उष्ण किरणें पृथिवी पर पहुँचती हैं एवं उसके प्रतिकूल चांद से हिम किरणें, आप की किरणें पृथिवी पर पहुँचती हैं । चांद की चांदनी से ओस का बरसना प्रत्यक्ष है ही । पृथिवी सूर्य से सूर्य कान्त के द्वारा, अग्नि जल पड़ती है एवं चांद से चन्द्रकान्त के द्वारा जल झिरने लगता है । (तेभ्योः-नमो) पूर्ववत् । (योऽस्मान् द्वेष्टि) पूर्ववत् ॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो

नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

(उदीची दिक्) ऊपर उठी हुई उत्तर दिशा उदीची है भ्रूवृत्त से ऊपर उठी हुई, उत्पन्न होती हुई पृथिवी इतनी ठोस नहीं थी ध्रुवीय आकर्षण से विद्युत् से भरा पृथिवीभाग ऊपर उठगया और जल भाग नीचे दक्षिण के महागर्त समुद्र में जा गिरा वह समुद्र पृथिवी के समतल में हो गया अत एव किसी भी पर्वत आदि ऊँचे भाग समुद्र के समतल से मापे जाते हैं, इस उदीची दिशा में (सोमः-अधिपतिः) सोम अधिपति है इस ऊँची दिशा में पहुँचने पर नक्षत्र मण्डल ध्रुव सूत्र में पिजरे के समान लटका हुआ चमचमाता हुआ घूमता हुआ दिखाई पड़ता है । “नक्षत्राणां वा एषा दिग्गुदीची” [ष० ३ । १] क्या सप्त ऋषि तारे क्या अन्य नक्षत्र और सितारे सभी सहस्र सूत्रों में लटकती घूमती हुई चमकती मणियों की भांति एक केन्द्र बनाकर चक्र रूप में नृत्य कर रहे हैं । कितना सुन्दर शान्त ज्योति का इस दिशा में राज्य है । यही तो सोम है “ज्योतिः सोमः” [श० ५ । १ । २ । १०] । इस ज्योतिश्चक्र का (स्वजोः-रक्षिता) स्वज रक्षक है । लिपटने तथा दूसरे को अपने साथ लपेटने वाला चुम्बक भण्डार रूप ध्रुव रक्षक-नियन्त्रक है, ष्वज “अभिष्वडे” [श्वादि०] तथा जो शक्ति का आगार है । वही समस्त नक्षत्र पिजरे को अपने साथ लटकाए लपेटे हुए और इनके साथ लिपटे हुए हे । “मित्रावरुणो त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै” [श० १ । ३ । ४ । ४] इस स्वजनामक चुम्बकीय शक्तिभण्डाररूप ध्रुव के (अशनिरिषवः) अशनि इषु है । हमारी ओर प्रेरित किए जाने वाले हम तक पृथिवी पृष्ठ पर पहुँचने वाले पदार्थ हैं । वही विचारशील मनुष्य देखता है कि उत्तर दिशा में विद्युत् अधिक चमकती है “अथैतस्यामुदीच्यां दिशि भूयिष्ठं विद्योतते” [ष० २ । ४] तथा ऊँचे पर्वतों से बरफ के गल गल कर झरने नीचे वेग से गिरते चले आते हैं इनके अन्दर वेग शक्ति है जो इन्हें बहाए लिये

चली आ रही है यह वेग शक्ति ही विद्युत् है। यह उत्तर से बही चली आ रही है जो सूक्ष्मरूप में समस्त पृथिवी पृष्ठ पर फैलती है वह शक्ति ऊँचे से गिरते हुए जल प्रवाहों से विद्युत् रूप में उत्पन्न भी की जाती है। न केवल इतना ही वे व्यापने वाली विद्युत् की लहरें इस पृथिवीगोल में व्याप्त होकर इसे लट्ठ की भांति ध्रुव केन्द्र पर निरन्तर घुमाती रहती हैं। यही घूम उत्तरायण और दक्षिणायन अर्थात् एक संवत्सर को बनाती हैं मानो वही व्यापने वाली विद्युत् ही संवत्सर शक्ति में [गारण्टी या इनर्जी में] प्राप्त होती है। यही व्यापने वाली विद्युत् ही अग्नि है "विद्युद्वा अग्निः" [श० ६।१।३।१४] निःसन्देह पृथिवी को इस प्रकार स्वकेन्द्र पर घुमाने के लिये उत्तरदिशा में स्थित ध्रुव से विद्युत् को लहरें आती हैं कहा भी है "उदीची दिक् मित्रावरुणौ देवता" [तै०।३।११।५।२] "मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा-विश्वस्यारिष्ट्यै" [श० १।३।४।४] ॥ (तेभ्योः-नमो) पूर्ववत् । योऽस्मान् द्वेष्टि पूर्ववत् ॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुधु इर्षवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितभ्यो

नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥

(ध्रुवा दिक्) नीचे पृथिवी की दिशा ध्रुवा दिक् है "पृथिवी ध्रुवा" [तै० ३।३।१।२] यह नीचे की दिशा निश्चल है स्तब्ध है इस दिशा में (विष्णुः-अधिपतिः) विष्णु अधिपति है पृथिवी का स्पर्श करने से घूल या मिट्टी लग जाती है आगे खोदने पर जमी हुई मिट्टी निकलती है और धीरे-धीरे ठोस नीचे मिलती जाती है। इससे स्पष्ट होता है वह सूक्ष्मरूप धूलि से बना पृथिवीपिण्ड है। ज्योतिष् शास्त्र में कहा भी है "मृद्भूः" [आर्यभट्टीय

गीतिकापाद] । मृदु बारीक मिट्टी है सूक्ष्म मृत्तिका ही भूलोक है यह धूलि रूप सूक्ष्म भाग ही विष्णु है जो पृथिवी गोल बनने से पूर्व आकाश में फैला हुआ होने से विष्णु कहा गया है । इस विष्णु अर्थात् सूक्ष्म धूलि भाग का (कल्माषग्रीवः-रक्षिता) कल्माषग्रीव रक्षक है । भूगर्भ में वर्तमान गुरुत्व का आधार केन्द्रीय आग्नेय तत्त्व या अग्नि रक्षक नियन्त्रक है । शतपथ में अग्नि को असितग्रीव कृष्णग्रीवा वाला कहा है “अग्निर्वा असितग्रीवः” [श० १३ । २ । ७ । २] कृष्ण को असित कहा है और कल्माष का कृष्ण अर्थ शब्दकल्पद्रुम में दिया है “कल्माषः कृष्णे” [शब्द कल्पद्रुमः] इस भूगर्भस्थ अग्नि के (वीरुधः-इषवः) वीरुधइषु हैं । हमारी ओर प्रेरित किये जाने वाले हम तक पृथिवीपृष्ठ पर पहुँचने वाले पदार्थ हैं । विचारशील मनुष्य पृथिवीपृष्ठ पर ओषधि वनस्पतियां अन्दर से बाहर फूट रही हैं यह प्रत्यक्ष देखता ही है । “वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात्” [निरु० ६ । ३] । (तेभ्योः-नमो) पूर्ववत् । (योऽस्मान् द्वेष्टि) पूर्ववत् ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो

नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

(ऊर्ध्वा दिक्) ऊपर की दिशा है । इस दिशा में (बृहस्पतिः-अधिपतिः) बृहस्पति अधिपति है । “बृहस्पते ब्रह्मणस्पते” [तै० ३ । १ । ४ । २] “ब्रह्म व वाचः परमं व्योम” [तै० ३ । ९ । ५ । ५] ध्वनि के परम आकाश अर्थात् मेघमण्डल का कारणरूप पति का नाम बृहस्पति है ।

जो सूक्ष्म अभ्रमय आकाश या सूक्ष्म भाप रूपा जल को संभालने वाले तापयुक्त गगन मण्डल का नाम बृहस्पति है। मेघ मण्डल का कारण सूक्ष्म वाष्पमय गगन बृहस्पति है। इस मेघ मण्डल का (श्वित्रः-रक्षिता) श्वित्ररक्षक है अर्थात् शुल्कभारूप विद्युत् है ऊपरमेघ मण्डल में तीन बातें हैं सूक्ष्म फैले हुए जल, विद्युत् और वर्षा। सो तीनों बातें इस मन्त्र में बृहस्पति, श्वित्र और वर्षा नाम से कही गयी हैं “आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोवन्तु सुदानवः” [अथर्व० ४।१५।९] यहां क्रमशः तुलना के लिये स्पष्ट कहा है कि प्रथम ‘आपः’ सूक्ष्म फैले हुए जल पुनः ‘विद्युत्’ फिर विद्युत् के विकास के साथ ‘अभ्र’ अर्थात् घनत्वरूप मेघ मण्डल, पश्चात् वर्षा होती है। श्वित्र-विद्युत् के (वर्षमृ-इषवः) वर्षा इषु हैं हमारी ओर प्रेरित किये जाने वाले पृथिवी पृष्ठ पर पहुंचने वाले पदार्थ है। “यत्ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टयः” [ऋ० ५।८४।३]। (तेभ्योः-नमो) पूर्ववत्। (योऽस्मान् द्वेष्टि) पूर्ववत् ॥

आध्यात्मिक दृष्टि में—

अग्नि आदि अधिपतियों के अधिकृत जो यह समस्त विश्व है उसका बनाने वाला एक देव परमेश्वर है। कहा भी है “द्यावाभूमि जनयन् देव एकः” वह सर्वत्र इस विश्व में व्यापक है। यह विश्व उसका कार्य है जैसे किसी शिल्पी का कार्य कोई यन्त्र (मशीन) होता है। यन्त्र या मशीन अपने बनाने वाले शिल्पी के जहां अस्तित्व सत्ता वर्तमानता को सिद्ध करता है साथ में उसके गुणों पर भी प्रकाश डालता है कि उसका बनाने वाला कितना

इन छहों मन्त्रों में आए असित से लेकर श्वित्र पर्यन्त रक्षिताओं के अर्थ सायण तथा कोई कोई विद्वान् सांप करते हैं। इसका विवेचन हमने “वेद में असित शब्द पर एक दृष्टि” पुस्तक में किया है। वहां देख सकते हैं।

योग्य तथा कितना विज्ञ और कुशल है । परन्तु मशीन या यन्त्र के बनाने वाला शरीरधारी है साकार है उसकी सत्ता मशीन से अलग अवकाश में रहती है । किन्तु विश्वरूप यन्त्र को बनाने वाला परमेश्वर सर्वव्यापक होने से वह उसके अन्दर रमा हुआ है । अत एव विश्व में जो दिव्य गुण या दिव्य शक्तियां हैं । वे सब उसके बोधक हैं क्या अग्नि में प्रकाश और क्या वायु में वेग सब उसी की महिमा है । कहा भी है “एतावानस्य महिमा” [ऋ० १० । १० । ३] उसी की ज्योति या सत्ता से सब की ज्योति और सत्ता है ।” “तमेव भान्तमनु-भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति” [कठोपनिषद्] इसलिये वह छहों दिशाओं में वर्तमान अधिनायक अग्नि का अग्नि, इन्द्र का इन्द्र, वरुण का वरुण, सोम का सोम, विष्णु का विष्णु, और बृहस्पति का बृहस्पति है । इन अग्नि आदि नामों से उस परमेश्वर का वर्णन किया जाता है । जैसा कि वेद में कहा है “इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मा । एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥” [ऋ० १ । १६४ । ४६] वह परमेश्वर एक है परन्तु विद्वाद् लोग उसको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, यम, वायु आदि अनेक नामों से वर्णन करते हैं । अस्तु । अब हम अग्नि आदि पृथक् पृथक् नामों से परमेश्वर का वर्णन वेद में आता है यह दिखलाते हैं ।

अग्नि—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव ।

वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो ।

भूयिष्ठान्ते नम उक्ति विधेम ॥

हे अग्ने अर्थात् प्रकाश स्वरूप परमेश्वर तू हमें सुखैश्वर्य प्राप्ति के लिये सत्य पथ से ले चल क्योंकि तू ही समस्त ब्रजानों को जानने वाला है । कृपया हमसे असरलता और दोष को दूर कर दे अत एव हम तेरी सेवा में बहुत बहुत करके नमस्कार की उक्तियां अर्पित करते हैं ।

इस मन्त्र में सर्वज्ञ परमेश्वर को अग्नि नाम से कहा है ।

इन्द्र—

इन्द्रो म॒ह्ना रोद॑स्री पप्रथ॒च्छव॑ इन्द्रः सूर्य॑मरोचयत् ।

इन्द्रे॑ ह॒ विश्वा भुव॑नानि येमि॒र इन्द्रे॑ सु॒वाना॑स इन्द्र॑वः ॥

[अथ० २० । ११८ । ४]

इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ने अपनी महिमा से विभुता से द्यावा-पृथिवी को सबल रूप में फैलाया, उसी इन्द्ररूप परमेश्वर ने सूर्य को प्रकाशमान किया। उसी के अन्दर समस्त लोक लोकान्तर और उत्पत्ति के सूक्ष्म द्रव्य नियन्त्रित हुए रखे हैं।

यहाँ विश्वरचयिता और विश्व का नियन्त्रण करने वाले परमेश्वर को इन्द्र नाम से कहा है ॥

वरुण—

उत स्वया तन्वा संवदेतत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि ।

किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम् ॥

[ऋ० ७ । ८३ । २]

मैं अपनी देह के साथ संवाद करता हूँ कि तुझे धारण करके वरुण अर्थात् विश्व को वरने वाले तथा वरणीय परमेश्वर के अन्दर कब स्थिर होऊ। वह मेरे किस समर्पण को अपनाता हुआ स्वीकार कर सकता है तथा मैं कब शान्तमन हो उस सुख स्वरूप को साक्षात् कर सकूँगा।

इस मन्त्र में विश्व के वरने वाले तथा वरणीय उपास्य परमेश्वर को वरुण नाम से कहा है

सोम—

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।

जनिताम्ने र्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥

[साम पू०, ६ । ४ । ३]

सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पितिः ॥

[ऋ० ५।५१।१२]

सोम अर्थात् उत्पादक परमेश्वर विश्व में प्राप्त है जो मनुष्यों को उत्पन्न करता है द्युलोक, पृथिवी लोक, अग्नि, सूर्य, विद्युत् तथा भूपरिमण्डल को उत्पन्न करता तथा विश्व का स्वामी है ।

यहाँ सूर्य आदि के उत्पन्न करने वाले विश्व के स्वामी परमेश्वर को सोम कहा है ।

विष्णु—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।

यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरू गाय ॥

[ऋ० १।१५४।१]

मैं विष्णु अर्थात् व्यापक परमेश्वर के गुण कर्मों का प्रवचन व्याख्यान करता हूँ जिसने पार्थिव लोक प्रकाश रहित लोकों और प्रकाशमान द्युमण्डल को सम्भाला हुआ है जो तीनों लोकों या त्रिभुवन में विभुगिति से प्राप्त और अत्यन्त कीर्तन योग्य है ।

इस मन्त्र में द्यावापृथिवीमय जगत् के रक्षक तथा उसमें व्यापक परमेश्वर को विष्णु नाम से कहा है ।

बृहस्पति—

यन्मेछिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाति तृणं बृहस्पतिर्मे

तद् दधातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पितिः ॥

[यजु० ३६।२]

जो मेरे नेत्र का हृदय का मन का छिद्र खुल गया है उसे बृहस्पति अर्थात् बड़े बड़े लोकों का रक्षक परमेश्वर पूर दे भर दे जो कि विश्व का स्वामी ह मेरे लिये सुख रूप हो ।

इस मन्त्र में जगत् के स्वामी परमेश्वर को बृहस्पति नाम से कहा ।

इस प्रकार इन प्रमाणों से आध्यात्मिक अर्थों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम, विष्णु, बृहस्पति शब्द छहों दिशाओं में व्यापक परमेश्वर के वाचक हैं । शेष 'असितः' आदि रक्षिता और 'आदित्याः' आदि इषुओं के अर्थ वैसे ही रहेंगे जो पूर्व आधिदैविक अर्थ कर आए हैं । यहां आध्यात्मिक अर्थों में केवल एक अलङ्कार की योजना ही करनी है । वह इस प्रकार कि—

मनुष्य इस संसार में क्या आया मानो एक संघर्ष क्षेत्र में या संग्राम स्थल में कूदा है वह अपने जीवन-विजय के लिये उतरा है सर्वत्र छहों दिशाओं में उसके जीवन घातक चेतन और जड़ शत्रु विद्यमान हैं वह उनसे संघर्ष लेने तथा बचने के लिए किसी को अपनी पृष्ठ पर देखना चाहता है उसकी शरण लेना चाहता है तब उसके ध्यान में एक अधिनायक आता है जो छहों दिशाओं में उसकी सहायता करता हुआ जान पड़ता है जिसे अग्नि आदि नामों से अधिपति कहा गया है, वह कैसे सहायता करता है 'आदित्यः' आदि इषुओं (बाणों) के द्वारा । इन इषुओं बाणों का इषुधि-तूणीर-तरकस या इषुओं के रखने का पात्र कौन हैं जिनमें से वह इषुओं को फँकता है वह इषुधि इषु रखने का पात्र जहाँ से उन्हें फँकता है वे हैं 'असितः' आदि रक्षिता अर्थात् इषुओं को रखने वाला या रखने का पात्र । वह विभुदेव परमेश्वर उसका अधिनायक पूर्व दिशा में अग्निरूप से वर्तमान हुआ सूर्य के अन्दर असित (कृष्णपदार्थ) इषुधि में से आदित्यों किरणरूप इषुओं को मनुष्य के जड़-चेतन शत्रुओं को परास्त करने के लिये फँकता है । एवं दक्षिण में इन्द्ररूप से वर्तमान हुआ वायव्य मण्डल में 'तिरश्चिराजि' (आन्तरिक गति देने वाले भंवर वस्तु) इषुधि में से पितरों ऋतुरूप इषुओं को, पश्चिम में वरुण रूप में वर्तमान हुआ चन्द्रलोक के अन्दर पृदाकु (जलस्तम्भक द्रव्य) इषुधि में से अन्न चन्द्रिका रूप इषुओं को, उत्तर में सोम रूप से वर्तमान हुआ ध्रुव के अन्दर स्वज (चुम्बक पदार्थ) इषुधि में से अशनि व्यापने वाली विद्युत् तरङ्ग रूप इषुओं को, नीचे विष्णु रूप से वर्तमान हुआ पृथिवी-गोल के अन्दर कल्पाषणीव

(गुरुत्व का निमित्त कृष्णवर्त्मा केन्द्रिय अग्निवस्तु) इषुधि में से वीरुध्रों ओषधियों को और ऊपर वृहस्पति रूप में वर्तमान हुआ सूक्ष्म भापमय गगन में स्थित (शिवत्रविद्युन्मय) इषुधि में से वर्षा वृष्टि धारारूप इषुओं को फैकता है । एवं छवों दिशाओं में सर्वत्र विराजमान वह विभु विश्वात्मा परमेश्वर मेरा सहायक है उसकी उपासना आराधना करते हुए उसकी सत्सङ्गति में रहते हुए इस संघर्ष क्षेत्र संसार में निर्भयता के साथ जीवन का लाभ उठाना चाहिये ।

अष्टाविंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा ।

देवताः—यमिनी ।

छन्दः—१ अति शकवरी गर्भा चतुष्पदाति जगती; २, ३ अनुष्टुप्;
४ यवमध्या विरट् ककुप्; ५ त्रिष्टुप् ६ विराड्गर्भा
प्रस्तारपंक्तिः ॥

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र
गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः ।
यत्र विजायते यमिन्यर्तुः सा
पशून् क्षिणाति रिफती रूशती ॥ १ ॥

(यत्र) जहाँ (भूतकृतः) भूतों के करने वाले परमाणु (विश्वरूपाः गाः-असृजन्त) नाना रूपों वाली गौवों को सर्जन किया (एकैकया सृष्ट्या) वहाँ एक एक सृष्टि सन्तानोत्पत्ति की रीति से (एषा सम्बभूव) यह सृष्टि प्रकट हुई-होती है (यत्र) जहाँ (यमिनी-अर्तुः-विजायते) जुड़वा बछड़े वाली ऋतु के विपरीत हुई विरुद्ध जनन करती है । (रफती रूशती) अपने को निन्दित करती हुई^१ हिंसित करती हुई पीडित होती हुई (पशून् क्षिणाति) अपने भावी पशुओं-बच्चों को क्षीण करती है ॥ १ ॥

१ "रिफकथन निन्दा०" [तुदादि०]

एषा पशून्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।

उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

(एषा) यह यमिनी दो-जुड़वां बच्चे देने वाली गौ (पशून् क्षिणाति) अपने भावी पशुओं वंश को क्षीण करती है (वि-अद्वरी) विरुद्ध रूप अपनी सन्तति को खाने वाली (भूत्वा) होकर (क्रव्यात्) मांस खाने वाले के समान है (एनाम्) इसको (उत) अपितु (ब्रह्मणे दद्यात्) ब्रह्मा-चिकित्सक^१ के लिये देवे-सौंप दे (तथा स्योना शिवा स्यात्) जिससे स्वस्थ^२ कल्याणकारी हो ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।

शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

(पुरुषेभ्यः शिवा भव) मनुष्यों के लिये कल्याणकारी हो मनुष्य नारीं में तेरा जुड़वां बच्चों वाला रोग न पहुँचे (गोभ्यः-अश्वेभ्यः शिवा) गौवों के लिये घोड़ों-घोड़ियों के लिये शिवा-कल्याणकारी हो रोगमुक्त होकर गौओं घोड़ियों में तेरा रोग जुड़वां बच्चे देने का न फैले (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा नः-इह एधि) इस सब निवास, ग्राम, नगर, देश के लिये कल्याणकारो रोग-मुक्त हमारी हो जा ॥ ३ ॥

इह पुष्टिरिह रसं इह सहस्रसातमा भव ।

पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

१ ब्रह्मा शब्द चिकित्सक के लिये आया है जैसे “देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः”० अथर्व० [२।९४] ब्रह्मा के साथ वीरुध-श्लोषधियां दी हैं तथा इससे पूर्व भी कहा है। “शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः०” [अथर्व० २।९।३]

२ स्योनामासीद सुषदामासीदेति शिवा-शगमामासीदेत्ये वैतदाह ।

[श० ५, ४, ४, ४]

(यमिनि) हे जुड़वां बच्चों वाली (इह पुष्टिः) तुझ रोगमुक्त हुई के द्वारा यहाँ हमारे में पोषण हो (इह रसः) यहाँ जीवन रस हो (इह सहस्रसातमा भव) : यहाँ बहुत प्रकार से सुख देने वाली हो (पशून् पोषय) स्वस्थ हुई अपने बच्चों को पुष्ट कर ॥ ४ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूश्च ॥५॥

(यत्र) जहाँ (सुहार्दः) शोभन हृदय वाली (सुकृतः) शोभन कार्य वाली जनहित साधने वाली स्वस्थ गौएँ (स्वायाः-तन्वाः-रोगं विहाय मदन्ति) अपनी देह के रोग को छोड़कर रोगरहित गौएँ आनन्द करती हैं मनुष्यों को आनन्द देती हैं (तं लोकम्) उस गोस्थान-गोष्ठ को (यमिनी) जुड़वां बच्चे वाली गौ (अभिसम्बभूव) रोगरहित सम्प्राप्त हो निवास कर (सा) वह जुड़वां बच्चे देने वाली न हो (नः पुरुषान् पशून् मा-हिंसीत्) अब हम मनुष्यों पशुओं को नहीं हिंसित कर-करेगी स्वस्थ हुई जुड़वां बच्चे देने वाले रोग को स्त्रियों गौओं में न फैला सकेगी ॥ ५ ॥

यत्रा सुहार्दा सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूश्च ॥६॥

(सुहार्दा सुकृतां यत्र लोकः) शोभन हृदयवालिओं-रोग रहित शान्त हृदयवालिओं का तथा जनहित साधने वालियों का जहाँ संघात-सङ्घ है (अग्निहोत्रहुतां यत्र) अग्नि होत्र अपने घृत से हुत होम रही हैं ऐसी गौओं का जहाँ सङ्घ है (तं लोकम्) उस गौसङ्घ को-गोष्ठ को (यमिनी) जुड़वां बच्चा देने वाली स्वस्थ हुई गौ (अभिसम्बभूव) सम्प्राप्त कर (सा) वह (नः-पुरुषान् पशून् मा हिंसीत्) हम मनुष्यों को-स्त्रियों को अन्य गौ अग्नि पशुओं को पीड़ा न पहुँचा-पहुँचाती हैं ॥ ६ ॥

एकोनत्रिंश सूक्त

ऋषिः—उद्दालकः ।

देवताः—१-६ शितिपाद् अविः, ७ काम; ८ भूमिः ।

छन्दः—१, ३ पथ्या पङ्क्तिः; २, ४-६ अनुष्टुप्; ७ षट्पदा
उपरिष्ठाद् वीबृहती ककुम्मती गर्भा विराड् जगती; ८
उपरिष्ठाद् बृहती ॥

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूत्स्यं षोडशं यमस्यामी सभासदः ।

अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥ १ ॥

(यमस्य-अभी सभासदः-राजानः) राष्ट्र एवं राजसभा के नियमनकर्ता राष्ट्रपति-राजा सभापति के वे प्रसिद्ध सभासद प्रतिष्ठित राज कर्मचारी (इष्टा पूत्स्ययद्-विभजन्ते) जनता की दृष्टि पूर्ति के कार्य-जल, प्रकाश, धर्मशाला, विश्राम स्थान चिकित्सालय आदि का जो आय में से विभाग करके लेते हैं (शितिपात्-दत्तः) वह धर्म का भाग^१ दिया हुआ (स्वधा) अपने धारण करने का साधन है (तस्मात्) उसके देने से (अविः-प्रमुञ्चति) भूमि प्रमुक्त^२ हो जाती है भूमि पर जो ऋण-करे राज्यव्यवस्था का हो उस से छूट जाती है-स्वामी के भोगने योग्य हो जाती है भूमिहार को यज्ञ यागों-सार्वजनिक हितकर कार्यों के लिये राजकर्मचारियों प्रमुखजनों को धन दान देना चाहिये ॥ १ ॥

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन् ।

आकूतिप्रोऽर्विदत्तः शितिपानोप दस्यति ॥ २ ॥

१ "शितिपादः-शितयः शुक्लाः पादा अंशा येषाम्" [ऋ० १।३५।५
दयानन्द]

२ "इयं पृथिवी उपविरियं हीमाः सर्वाः प्रजा भवति" [श० ६।१।२।
३३] "अविः रक्षणादि कर्त्री" यजु० २३।१२ दयानन्दः ।

(दत्तः शितिपात्) दिया हुआ धर्मभाग (सर्वाङ्ग-कामाङ्ग पूरयति) सारी कामनाओं को पूरा करता है । (भवन्-आभवन्-प्रभवन्-आकृतिप्रः) सत्तावाला यशोरूप में फैला हुआ प्रभाव वाला होता हुआ होकर इस प्रकार यह संकल्प को पूरा करने वाला है (अविः-न-उपदस्यति) भूमि उपक्षीण नहीं होती, राजकर्मचारी आदि से विनष्ट नहीं की जाती है ॥ २ ॥

यो ददाति शितिपादमर्षिं लोकेन संमितम् ।

स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥३॥

(यः-लोके संमित-अवि ददाति) जो समाज द्वारा सम्यक नियत धर्मभाग भूमि को आय को देता है दान करता है यज्ञ आदि में (सः-नाकम्-अभ्यारोहति) वह नितान्त-अभय सुख स्थान पर जावेगा (यत्र-अबलेन बलीयसे शुल्कः-न क्रियते) जहाँ निर्बल द्वारा बलवान् सहसा छीनने वाले के लिये अपना भी भाग^१ नहीं दिया जाता है राजपुरुषों को कर या पात्रों को दान देने वालों की लक्ष्मी का बलवान् अपहरण नहीं कर सकता है ॥ ३ ॥

पञ्चापूपं शितिपादमर्षिं लोकेन संमितम् ।

प्रदातोप जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥

(पञ्चापूपम्) पांच इन्द्रियों वाले^२ मनुष्य पशुपक्षी सरीसृप कृमि के निमित्त (अवि शितिपादम्) भूमिसम्बन्धी धर्म भाग दान (लोकेन सम्मितम्) जो राष्ट्र समाज ने स्वीकृत या सम्यक् नियत किये को (प्रदाता) प्रदान करने वाला भूमिहार (पितृणां लोके) अपने पिता पितामह प्रपितामह आदि के स्थान में (अक्षितम्-उपजीवति) क्षयरहित हुआ समृद्ध होकर जीता है ॥४॥

१ "श्रीर्वे शुल्कः" [जै० ३ । २५८]

२ "इन्द्रियमपूपः" [ऐ० २ । २४] "इन्द्रस्यापूपः" इतीन्द्रयं वा इन्द्र [मै० ३ । १० । ६]

पञ्चापूर्पं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।

प्रदातोर्षं जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥

(सूर्यामासयोः) पूर्वं मन्त्र में कहा हुआ ऐसा दाता सूर्य और चन्द्रमा के लोक में-मोक्ष में और अगले जन्म में उपाश्रित हो जाता है ॥ ५ ॥

इरैव नोर्षं दस्यति समुद्र इव पर्यो महत् ।

देवौ सवासिनाविव शितिपात्रोर्षं दस्यति ॥ ६ ॥

(इरा-इष) इरा-इडा पृथिवी के समान तथा (समुद्रः-इव) समुद्र के समान (महत् पर्यः) जो महात् जलरूप है (न-उपदस्यति) नहीं क्षय को प्राप्त होता है, तथा (सवासिनी देवौ-इव) सहवासी अश्विनौ-अग्नेय-सोम्य पदार्थ के समान (शितिपात्-न-उपदस्यति) धर्म भाग दिया हुआ क्षय को प्राप्त नहीं होता है ॥ ६ ॥

क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात् ।

कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश ।

कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत् ते ॥ ७ ॥

(इदं कः कस्मै-अदात्) इस शितिपाद् धर्म्य दान को कौन किसके लिये देता है अर्थात् कोई किसी के लिये नहीं देता है, किन्तु (कामः कामाय-अदात्) काम कामना के लिये देता है वास्तव में देने वाला मनुष्य कोई नहीं देता और लेने वाला भी कोई नहीं लेता है, कामना ही देती है और कामना ही लेती है, देने वाले में दातृभाव का अभिमान नहीं होना चाहिये मैं देता हूँ, और लेने वाले में हीन भावना न हो मैं लेता हूँ अपितु दोनों लेने वाला और देने वाला निर्लेपरूप से दे और देने वाले में कामना है मुझे धर्म भावी जन्म अच्छा मिले लेने वाले में कामना है मेरा यह लोक निष्पाप चले संसार में

कार्यों से आ जीविका करने में कुछ न कुछ पाप सम्पर्क होता है परन्तु अध्यात्म साधना विद्याप्रचार कर्म करने द्वारा लेने में मोक्ष-पाने की कामना है अतः (कामः-दाता कामः प्रतिग्रहीता) कामना ही देती है कामना ही लेती है (कामः समुद्रम्-आविवेश) काम भाव समुद्र में पहुँच गया समुद्ररूप हो गया कारण कि काम भाव का अन्त नहीं समुद्र का भी अन्त नहीं । (कामेन त्वा प्रति गृह्णाणि) काम भाव मेरे अन्दर है अतः तुझे धर्म भाग को लेता हूँ (काम-एतत्-ते) हे काम भाव यह तेरा श्रेष्ठकर्म पूरा करे ॥ ७ ॥

भूमिष्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।

माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजयां प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥८॥

(त्वा) हे धर्म दान तुझे (भूमिः-इदं महत् अन्तरिक्षं प्रतिगृह्णातु) पृथिवी यह महान् आकाश लेवे-स्वीकार करे-करता है-पृथिवी के प्राणवासी और आकाश के प्राणी इसका लाभ लें-लेकर उसका हित साधे (प्रतिगृह्य) उस धर्मदान को लेकर अकेला न भोग कर (अहं प्राणेन मा विराधिषि) मैं प्राणो से वर्जित न होऊँ या (आत्मना) आत्मा से वर्जित न होऊँ (मा प्रजया) सन्तान से रहित न होऊँ । दान लेकर दूसरों को लाभ भी देना चाहिये । जैसे दाता अकेला खाने वाला पापी होता है ऐसे लेने वाला भी ऐसा खाने वाला पापी होता है ॥ ८ ॥

त्रिंश सूक्त

ऋषिः—अथर्वा ।

देवता—सामनस्यम् ।

छन्दः—१-४ अनुष्टुप्; ५ विराड् जगती; ६ प्रस्तार-पङ्क्ति

७ त्रिष्टुप् ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमभि ह्येत वत्सं जातमिवाध्न्या ॥ १ ॥

(वः) तुम्हारा (सहृदयम्) समान हृदय-एक हृदयपना (सांमन-स्यम्) सम्यक् मनो भाव (कृणोमि) करता हूँ-किया है-किया करता हूँ, अतः (अन्यः-अन्यम्-अभिह्येत) अन्य अन्य को परस्पर प्रेम करो (अध्न्याजातं वत्सम्-इव) गौ नवजात बछड़े को जैसे प्रेम करती है ॥ १ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ २ ॥

(पितुः-अनुव्रतः पुत्रः) पिता के अनुव्रत-अनुकूल पुत्र कर्म करने वाला तथा (मात्रा संमनाः-भवतु) माता के साथ सम्यक् मनोभाव वाला-विवाद न करने वाला हो (जाया पत्ये मधुमतीं शान्तिवां वाचं वदतु) पत्नी पति के लिये मधु शान्ति वाली वाणी बोले ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

(भ्रातरं भ्राता मा द्विक्षत्) भाई के प्रति भाई द्वेष न करे (उत स्वसा स्वसारम्) और बहिन-बहिन से प्रति द्वेष न करें (सम्यञ्चः सव्रता-भूत्वा) सदा मिल-मिलाप को प्राप्त हुई-समान सद्भाव वाले होकर कल्याण भावना से वाणी बोलें ॥ ३ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।

तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

(न देवाः-न वियन्ति) जिसके द्वारा विद्वाद्-जन परस्पर विरुद्ध नहीं चलते हैं-एक मार्ग पर चलते हैं (न-उ) न ही (मिथः-विद्विषते) विद्वेष

करते हैं (तत् सञ्ज्ञान ब्रह्म) सहमातसाधकं मन्त्र-मननीय बोध को (वः-
गृहे पुरुषेभ्यः कृष्णः) तुम्हारे घर में समस्त मनुष्यों के लिये हितकर
करता हूँ ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्तश्चितिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।

अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

(ज्यायस्वन्तः) ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुरुषों वाले बड़े श्रेष्ठ को अपने ऊपर
मानने उनके आदेश में चलने वाले (चित्तिनः) प्रशस्तचित्त वाले या
परस्पर एक चित्त वाले-एक लक्ष्य वाले (संराधयन्तः) एक दूसरे के या
समान कार्य साधक होते हुए (सधुराः-चरन्तः) शोभन समान धुरा वाले-
समान कार्य करने वाले या समान मन वाणी वाले विचरण करते हुए (मा
वि यौष्ट) मत एक दूसरे से अलग होओ (अन्यः-अन्यस्मै वल्गु वदन्तः) अन्य
अन्य के लिये शोभन प्रिय बोलते हुए (एत) एक दूसरे के यहाँ आओ जाओ
(वः सध्रीचीनान् संमनसः कृणोमि) तुम्हें सह गति वाले-साथी सम्यक् एक
भाव वाले करता हूँ ॥ ५ ॥

समानी प्रपा सह वौऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वौ युनज्मि ।

सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

(वः) हे जनो तुम्हारा (प्रपा समानी) पीने का स्थान समान हो-
एक हो (अन्नभागः) भोजन स्थान एक हो-पुनः (सम्माने योवक्ते वः-सह
युनज्मि) समान जुए में एक योजना कार्य बन्धन में तुम्हें युक्त करता हूँ
(सम्यञ्चः-अग्निं सपर्यत) सम्यक् गति वाले का ज्ञान प्रकाश स्वरूप परमात्मा
का अर्चन-स्तुति आदि करो (अराः-नाभिम-इव-अभितः) जैसे चक्र नाभि के
अरा शलाकाएं आश्रित होते हैं ॥ ६ ॥

सध्रीचीनान् वः समनसस्कृणोम्येकंशुष्टीन्संवनेन सर्वांन् ।

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

(वः) तुम्हें (सध्रीचीनान्) साथ गति-प्रवाह वाले सम्यक् सावधान मन वाले (संवनेन) सम्यक् सम्भजन से (कृणोमि) मैं करता हूँ-बनाता हूँ (सर्वांन् एकंशुष्टीन्) सब को एक शीघ्र कार्य वाले समान मन्त्र भाव वाले करता हूँ (देवाः-इव-अमृतं रक्षमाणाः) मुद्धों की भाँति अमृत की रक्षण अमृत को रखने वाले (सायंप्रातः) प्रातः-सायं दोनों समय (सौमनसः-वः अस्तु) तुम्हारा सुमनो भाव हो ॥ ७ ॥

एकत्रिंश सूक्त

ऋषिः—ब्रह्मा ।

देवताः—अग्नादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः ।

छन्दः—१-३, ६-११ अनुष्टुप् ४ भुरिगनुष्टुप्; ५ विराट् प्रस्तार पङ्क्तिः ॥

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या ।

व्यृहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥

(देवाः) मुक्त आत्माएँ तथा सूर्य आदि (जरसा वि-आवृतन्) जरावस्था जीर्णता से व्यावृत हो गए अलग हो जाते हैं और (अग्ने) हे ब्रह्म-ज्ञान के प्रचारक नेता तथा प्रज्वलनशील अग्नि (त्वम्-अरात्याः-वि) तू अदानशील प्रवृत्ति से पृथक् हो जाता है अलग रहता है । ब्रह्मज्ञानी ज्ञान देता है अग्नि भी होमादि द्वारा स्वास्थ्य प्रद जल-वृष्टि देती है (अहम्) मैं प्रार्थी उपसक (सर्वेण पाप्मना वि) सारे मानस पापभाव से अलग हो जाता हूँ (यक्ष्मेण वि) शारीरिक पाप रोग से अगल हो जाता हूँ (आयुषा सम्) आयु से संयुक्त हो जाता हूँ ॥ १ ॥

व्यात्यां पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया ।

व्य॑हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण॑ समायुषा ॥ २ ॥

(पवमानः-आत्यां वि) ज्ञान स्वरूप परमात्मा या सोम ओषधि पीड़ा रोग से अलग हैं अलग करे (शक्रः पाप कृत्ययावि) शक्तिमय परमात्मा या वायु पाप क्रिया से अलग है, निर्दोष है करता है (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ २ ॥

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्या पस्तृष्णायासरन् ।

व्य॑हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण॑ समायुषा ॥ ३ ॥

(ग्राम्याः पशवः) नागरिक पशु गौ आदि (आरण्यैः-वि-असरन्) जंगली सिंह आदि पशुओं से दूर चले जाते या रहते हैं दूर रहने वाले अपने स्नेह व्यवहार द्वारा (आपः-तृष्णा वि०) जलाशय प्यास से दूर रहते दूर करते हैं (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ३ ॥

वी॒ड्मे द्यावा॑पृथि॒वी इतो॑ वि पन्थानो॑ दिशंदिशम् ।

व्य॑हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण॑ समायुषा ॥ ४ ॥

(ड्मे द्यावापृथिवी वि-इतः) ये द्युलोक और पृथिवी लोक अलग-अलग हैं (पन्थानः-दिशं-दिशं वि) मार्ग अपनी-अपनी दिशा-दिशा अलग-अलग जाते हैं (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ४ ॥

त्वष्टा॑ दुहि॒त्रे वह॑तुं यु॒न॒क्ती॒दिं विश्वं॑ भुव॒नं वि या॑ति ।

व्य॑हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण॑ समायुषा ॥ ५ ॥

(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति) सन्तान को विश्वासित करने वाला पिता कन्या के लिये अपने धन से दातव्य भाग को पृथक् नियत कर देता है अलग करता है । (इदं विश्वं भुवनं वि-याति) यह सारा संसार अलग-अलग रहता है । (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अग्निः प्राणान्तसं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः ।

व्य॑हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण॑ समायुषा ॥ ६ ॥

(अग्निः प्राणात् संदधाति) शरीरान्तर्गत जाठर-अग्नि प्राणों को सम्यक् धारण करता है (प्राणेन-चन्द्रः संहितः) प्राण से मन^१ सम्यक् धारण किया जाता है । (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ६ ॥

प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् ।

व्य॑हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण॑ समायुषा ॥ ७ ॥

(देवाः-विश्वतः-वीर्यं सूर्यम्) विद्वात् जन सर्वतः वीर्यरूप प्रतापवात् सूर्य को (प्राणेन समैरयन्) अपने प्राण से संयुक्त करते हैं अर्थात् सूर्य से प्राणों में शक्ति लेते हैं^२ । (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ७ ॥

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः ।

व्य॑हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण॑ समायुषा ॥ ८ ॥

(आयुष्मताम्-आयुष्कृताम्) प्रशस्त आयु वालों अन्य की आयु को करने वाले-बनाने वाले विद्वानों के (प्राणेन) प्राण बल की भांति प्राणसम्पादन के द्वारा (जीव) जीवन धारण कर (मा मृथाः) मत अल्प आयु में मरना । (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ८ ॥

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः ।

व्य॑हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण॑ समायुषा ॥ ९ ॥

१ "चन्द्रमा मनः" [ऐ० आ० २।२।५]

२ "प्राणाः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः [प्रश्नोपनिषद्]

(प्राणतां प्राणेन) प्राण लेते हुए बलवानों के प्राण के समान (प्राण-प्र-अन) अपने प्राण प्रकृष्ट जीवन धारा कर (इह-एव-भव) इस शरीर में हो-रह (मामृथाः) मत मर (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ ९ ॥

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन ।

व्य॑हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण॑ समायुषा ॥ १० ॥

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता॑ वयम् ।

व्य॑हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण॑ समायुषा ॥ ११ ॥

इन दोनों मन्त्रों की एक वाक्यता है, 'उदस्थाम्' क्रिया को लेकर दोनों का एक साथ अर्थ करते हैं ।

(आयुषा-उद्) आयु से उन्नत हो (आयुषा सम्) आयु से संस्थित संयुक्त हों पूर्ण आयु को प्राप्त हों (ओषधीनां रसेन) ओषधियों के रस से नीरोग रहें (व्यहम्) पूर्ववत् तथा (पर्जन्यस्य वृष्ट्या) मेघ की वृष्टि से अन्य जल प्राप्त कर (वयम्-अमृताः) हम अमृत-असमय मृत्यु से रहित हुए (आ-उदयम्) समन्ताप से ऊपर उठें (व्यहम्) पूर्ववत् ॥ १० ॥ ॥ ११ ॥

स्वामी ब्रह्ममुनिकृत भाषा भाष्य

अथर्व वेद का तृतीय काण्ड समाप्त ॥

पुरूरवा और उर्वशी का संवाद

वक्तव्य—ऋग्वेद दशम मण्डल के ९५ वें सूक्त में इन का परस्पर संवाद आता है जिसका भाष्य हमने परोपकारिणी सभा अजमेर के लिये किया है उस भाष्य का एक सन्देश्य (नमूना) समझिए । सायणभाष्य में यहाँ अश्लील चर्चा प्रस्तुत करी है परन्तु हमारे भाष्य में गृहस्थ का ऊंचा आदर्श प्रतीत होता है । यास्काचार्य ने अपने निरुक्त ग्रन्थ में इस के दो अंशों का स्पर्श किया है एक में तो पुरूरवा से मेघ और उर्वशी से विद्युत् अर्थ समझा जा सकता है दूसरे अंश में गृहस्थ की चर्चा स्पष्ट शब्दों में प्रकाशित की है । हमने यहाँ केवल भाषाभाग गृहस्थ परक प्रस्तुत करना है । पुरूरवा-बहुप्रवचनकर्ता स्नातक और उर्वशी सद् गृहस्थ की कामना करने वाली ब्रह्मचारिणी विवाहिता जो निम्न प्रकार है—

हये जाये नमसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु ।

न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन्परतरे चनाहन् ॥१॥

(हये) गतिशील वंश को बढ़ाने वाली (जाये) पत्नी (घोरे) दुष्टों को दुःखप्रद भयङ्कर, (मनसा तिष्ठ) मनो भाव-मनो योग से गृह में रहे (मिश्रा) परस्पर मेल-मिलाप वाले (वचांसि) वचनों को अवश्य (कृणवावहै) सङ्कल्पित करे-बोलें (नौ) हम दोनों के (एते) ये (अनुदितासः) न प्रकट कर योग्य गोपनीय (मन्त्राः) विचार (मयः-न करम्) सुख क्या नहीं करते हैं-नहीं करेंगे-निश्चित करेंगे (परतरे-अहम् नुचन) अन्तिम किसी दिन अवश्य करेंगे-सुसन्तान प्राप्ति पर ॥ १ ॥

भावार्थ—योग्य युवक युवति का विवाह होना चाहिए स्नेहवन्धन सन्तानप्राप्ति के लिये शुभ है ॥ १ ॥

किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषुमषसामग्रियेव ।

पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वार्त इवाहमस्मि ॥२॥

(एता वाचा किं कृणव) इस मन्त्रणा वाणी से क्या करें-करेंगे (तव-अहम्) तेरी मैं (उषसाम्) उषाओं में तेजस्विनी नारियों में (उग्रिया-इवा) उषा जैसी श्रेष्ठा (प्राक्रमिषम्) तेरे अनुकूल चलती हूँ (पुरूरवः) हे बहुत वक्ता पति देव ? (पुनः-अस्तं परेहि) विशेष सदन को प्राप्त हो (वातः-इव) वायु के समान (दुरापना) दुष्प्राप्या (अहम्-अस्मि) मैं हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्रणा वाणी के अनन्तर-विवाह हो जाने पर पति की पत्नी बन जाती है तब उषा जैसे सूर्य के साथ चला करती है ऐसे पति के अनुकूल चलती है-चलना चाहिए ॥ २ ॥

इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः ।

अवीरे ऋतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः ॥३॥

(इषुधेः) वाणकोश से (असना) फेंका जाने वाला (इषुः) बाण (श्रिये न) विजय लक्ष्मी-गृहस्थ शोभा के लिये तुझ भार्या के बिना समर्थ नहीं होता (रंहिः-न) मैं बलवान् भी तेरे सहयोग के बिना (गोषाः-शतसाः) बहुत भूमि का बहुत धन का भोक्ता (अवीरे-उरा ऋतौ) तुझ वीर पत्नी रहित महात् यज्ञ कर्म में (न दविद्युत्) नहीं प्रकाशित होता है (धुनयः) अयोग्य विचारों को विधुनन-नष्ट करने वाले सङ्कल्प तुझ-मित्र बिना (मायुम्) मेरे शब्द-आदेश (न चितयन्त) नहीं विचारते हैं । तेरे सहयोग के बिना

॥ ३ ॥

भावार्थ—घर की शोभा गृहिणी के बिना नहीं है । बलवान् धनवान् होते हुए भी पुरुष विधिपूर्वक विवाहित पत्नी के गृहस्थ चालन में समर्थ नहीं होता अपने आन्तरिक विचारों पर विजयपाने के लिये पत्नी के सहयोग की आवश्यकता है मित्र भी साथ देते हैं ॥ ३ ॥

सा वसु दधती श्वशुराय वय उषो यदि वष्टयन्तिगृहात् ।

अस्तं ननक्षे यस्मिञ्चाकन्दिवा नक्तं श्नाथिता वैतसेन ॥ ४ ॥

(यदि सा-उषः) यदि वह तेजस्विनी भार्या “उषः सुलुक्” (श्वशुराय) कुत्ते के समान हिंसक व्यभिचारी जार के लिये “शृ हिंसायाम्” [ऋचादि०] उससे ‘दुरच् प्रायय’ औणादिक (वसुः-वयः) वास-अन्न (दधती) धारण करती है-देती है (अन्तिगृहात्) घर में (वष्टि) चाहती है (अस्तं ननक्षे) घर को व्याप जाता है (यस्मिन्) जिस घर में (दिवानक्तम्) दिन रात (चाकन्) सम्भोग की इच्छा करता है (वैतसेन) पुरुषेन्द्रिय के द्वारा (शनथिता) हिंसित या ताड़ित होती है ॥ ४ ॥

भावार्थ—यौवन सम्पन्न नव विवाहित स्त्री किसी अज्ञात व्यभिचारी जार को घर में वास या भोजन भूल कर न दे नहीं तो घर पर अधिकार कर लेगा और दिन रात कामवश उसे अपनी जनन इन्द्रिय से ताड़ित करेगा ॥४॥

त्रि स्म माह्नः शनथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि ।

पुरूरवोऽनु ते केतमायं राजा मे वीर तन्वःस्तदासीः ॥५॥

(उत पुरूरवः) हां ! हे बहुत प्रशंसनीय वक्ता ! यदि मैं भूल में ऐसा कर बैठती (मा) मुझे (अह्नः-त्रिः) दिन में तीन बार-बहुत बार (वैतसेन) अपनी जनन इन्द्रिय से “शेषो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य-हि स्म माह्नः शनथयो वैतसेन” [निरु० ३ । १२] (शनथयःस्म) ताड़ित करे-पीड़ित करे यह सम्भावना है (अव्यत्यै मे) अविपरीता-अनुकूल हुई मुझ को (पृणयासि) तृप्त कर ध्यान रख कोई व्यभिचारी जार न घुस सके (ते केतमनु) तेरे निर्देश के अनुसार (आयम्) मैं पत्नी प्राप्त हुई हूं (तत्) इस हेतु (वीर) हे वीर पति (मे तन्वः-राजा-आसीः) तू आत्मा का-आत्मीय राजा है ॥ ५ ॥

भावार्थ—गृहपत्नी या स्त्री घर में किसी अज्ञात पुरुष व्यभिचारी को वास भोजन न दें वह यदि बल पा गया तो दिन रात अपनी जनन इन्द्रिय से संभोग में धकेल पीड़ित करेगा पति भी अपनी पत्नी की सर्व प्रकार रक्षा करे और अज्ञात या पर पुरुष से अधिक सम्पर्क न रखे ॥ ५ ॥

या सुजूणिः श्रेणिः सुम्नआपिहृदेचक्षुर्न ग्रन्थिनी चरण्युः ।

ता अञ्जयोऽरुणयो न सस्रुः श्रिये गावो न धेनवोऽनवन्त ॥६॥

(या) जो पत्नी (सुजूणिः) अच्छी शीघ्रकारी (श्रेणिः) पति की आश्रयदात्री (सुम्ने-आपिः) सुख में प्रेरित करनेवाली (हृदे चक्षुः) जलाशय में नेत्रवाली अर्थात् गम्भीरदृष्टिवाली (न) और (ग्रन्थिनी) गृह वस्तुओं और कामों को ठीक जोड़ने वाली (चरण्युः) यथावत् व्यवहार करनेवाली (ताः) वे ऐसी पत्नियाँ देवियाँ (अञ्जयः) कमनीय (अरुणयः) सुदर्शनीय तेजस्विनियाँ (श्रिये) समृद्धि के लिये (सस्रुः) यत्नशील (धेनवः) दूग्ध देने वाली (गावः-न) गौओं के समान सुख को दूहने वाली (अनवन्त) अपने पति की प्रशंसा किया करती है या किया करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—पत्नी शीघ्र कार्य करने वाली पति का सहारा सुख में प्रेरित करने वाली गम्भीरदृष्टिवाली कार्यों की उचित योजना बनाने वाली गृह व्यवहार कुशल तेजस्वी कमनीय गृह समृद्धि में यत्नशील दूध देने वाली गौओं के समान सुख का दोहन करने वाली पतिप्रशंसक हो ॥ ६ ॥

समस्मिञ्जायमान आसत् ग्ना उतेमवर्धन्नद्यः स्वगूर्ताः ।

महे यत्त्वा पुरुरवो रणायार्वर्धयन्दस्युहत्याय देवाः ॥ ७ ॥

(अस्मिन् जायमाने) विवाह संस्कार द्वारा इस बहुत वक्ता पत्नी-प्रशंसक पति हो जाने पर (ग्नाः) कुल भार्यायें (सम्-आसत्) सङ्गत होती हैं । (उत-ईम्) और इसको (स्वगूर्ताः-नद्यः) स्वगति वाली नदियों के समान (अवर्धयन्) बढ़ाती हैं बढ़ाई देती हैं (पुरुरवः) हे बहुत वक्ता बहुत प्रशंसक (यत्) जबकि (त्वा) तुझे (देवाः) विद्वान् जन-ऋत्विग् लोग (दस्युहत्याय) व्यभिचारी की हत्या के लिये (रणाय-अवर्धयन्) संग्राम करने के लिये तुझे बढ़ावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—विवाह संस्कार द्वारा जब स्त्री का पति बन जाता है तो स्त्रियां सज्जत होकर बधाई देती हैं तथा विद्वान् जन ऋत्विज घर में घुस बैठने वाले व्यभिचारी जार को बाहिर निकाल देने में सहायक प्रोत्सहायक बने ॥ ७ ॥

सचा यदासु जहतीष्वत्कममानुषीषु मानुषो निषेवे ।

अप स्म मत्तरसन्ती न भुज्युस्ता अत्रसत्रथस्पृशो नाश्वाः ॥८॥

(यत्) जब (सचा) साथ मिलकर (अत्कम्) उस आततायी अत्ता सम्भोगी व्यभिचारी जार को देख कर (आसु जहतीषु) इन घर छोड़ भागने वाली स्त्रियों में (अमानुषीषु) मनुष्यसम्पर्करहित पवित्र आचरण वालियों में (मानुषः-भुज्युः) मैं मनुष्यों मैं श्रेष्ठ पालक पति (ताः-निषेवे) उनकी निरन्तर सेवा-रक्षा करूँ ऐसा दृढ सङ्कल्प करे । (यत् मत् स्म) मेरे पास से (अपत्तरसन्ती) व्याध के भय से भागती हुई हरिणी की भांति (न-अत्रसत्) न भयकरे उस व्यभिचारी जार से (रथस्पृशः-अश्वाः-न) रथ में युक्त-जुड़े हुए घोड़ों के समान पत्नियां घर में दृढ़ रहे-भय न करे घर को वहन करे ॥८॥

भावार्थ—बलात् सम्भोग करने वाले व्यभिचारी जार के भय से जब पत्नियां स्त्रियां भागने लगे तो बलवान् पति पूर्ण आश्वासन दे उन्हें सब प्रकार रक्षा से रखें ॥ ८ ॥

यदासु मर्तो अमृतासु निस्पृक्सं क्षोणीभिः ऋतुभिर्न पृङ्क्ते ।

ता आतयो न तन्वः शुम्भत् स्वा

अश्वासो न क्रीळ्यो दन्दशानाः ॥९॥

(यत्) जब (आसु-अमृतासु) इन अमृत सुख देने वाली स्त्रियों में (निस्पृक-मर्तः) नियम से स्पृहा-इच्छा करता हुआ पति (क्षोणीभिः) विविध मधुर शब्दों द्वारा (न) और (ऋतुभिः) रक्षा कर्मों द्वारा (सम्पृक्ते) सम्पर्क करता है (ताः) वे स्त्रियां (आतयः-न) कपिञ्जल-तित्तिर पक्षियों के

समान मधुर बोलती हुई उस पति के लिये (स्वाः-तन्वः) अपने शरीरों को (शुम्भत) शोभित करती हैं-आत्मभावों से समर्पित करती हैं (दन्दशानाः) हंसते हुए (क्रीडयः) खेलते हुए (अश्वासः-न) घोड़ों के समान अपने की शोभित करती हैं ॥ ९ ॥

भावाार्थ—स्त्रियां अमृत सुख देने वाली होती हैं पति नियमित इच्छा करता हुआ मधुर शब्दों रक्षा कर्मों से सम्पर्क करता है तो वे भी मधुरभाषी पक्षी के समान मधुर बोल अपने शरीर को सुभूषित कर आत्मा को समर्पित करती हैं और दिनोंदिन हंसती खेलती हुई पति के सुख का कारण बनती हैं इन ऐसी स्त्रियों की सदा इच्छापूर्ति और रक्षा करनी चाहिए ॥ ९ ॥

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि ।

जनिष्ठो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ॥१०॥

(या-उर्वशी) जो बहुत सुख भोगों को भोगती भुगाती हुई प्राप्त होती है वह बहुत कमनीय स्त्री (विद्युत्-न पतन्ती) विद्युत् की भांति सुखवृष्टि बरसाती हुई (दविद्योत्) जो अपनी गुणों से घर में चमकती हुई (मे) मेरे लये-मुझ गृहपति के लिये (अप्या काम्यानि भरन्ती) आप्तव्य कमनीय सुखों को धारण करती हुई वर्तमान है (अपः-नर्यः-सुजातः-जनिष्ठ) मानव के आन्तरिक जलों में नरहित-नर के लिये उपयुक्त शुक्र धातु सुप्रसिद्ध पुत्ररूप में रस के अन्दर उत्पन्न होता है (उर्वशी दीर्घम्-आयुः प्रतिरत) बहुत कमनीय स्त्री गृहपति की आयु को बढ़ाती है संयम सदाचार से रहती और रखती हुई ॥ १० ॥

भावाार्थ—आदर्श पत्नी बहुत सुख भोगों को भोगने और भुगाने वाली होती है, घर में सुख की वृष्टि करती है अपने गुणों से प्रकाशमान होती हैं ऐसी पत्नी मानव को शुभ कर्म द्वारा प्राप्त होती है, मानव के अन्दर जो जीवन रस है उससे पुत्र की प्राप्ति कराती है, अच्छी पत्नी परिवार में आयु का विस्तार करती है ॥ १० ॥

जज्जिष इत्था गोपीथ्याय हि दधाथ तत्पुरूरवो म ओजः ।

अशासं त्वा विदुषी सस्मिन्नहन्न म आशृणोः किमभ्युवदासि ॥११॥

(पुरूरवः) हे बहुत शुभ बोलने वाले ! (इत्था) सत्य तू (गोपीथ्याय हि जज्जिषे) गृहस्थ रस पान के लिये अवश्य समर्थ है (मे-ओजः-दधाथ) मेरे में पुत्रोत्पत्तिविषयकं सामर्थ्य वीर्यं को धारण करता है (विदुषी त्वा-अशासम्) में विदुषी होती हुई तुझे कहती हूं (सस्मिन्-अहन्) सब दिन सारे दिन में (मे न-अशृणोः) मेरे लिये नहीं सुनता-स्वीकार करता है (किम्-अभ्युक्-वदासि) क्या तू अभोक्ता या अरक्षक हुआ बोलता है ॥११॥

भावार्थ—सच्ची सदाचारिणी पत्नी पति को गृहस्थजीवन की मर्यादा बतावे-सुझावे कि गृहस्थाश्रम केवल भोग का आश्रम नहीं हैं सन्तानीत्पत्ति के लिये है कामवासना पूरी करने के पीछे न पड़ना चाहिये, ठीक है पति भोग का भूखा है परन्तु पुत्र का इच्छुक होने से कामवासना दुःख का निमित्त नहीं, केवल काम वासना दुःखदायक है ॥ ११ ॥

कदा सूनुः पितरं जात इच्छाच्चक्रन्नाश्रु वर्तयद्विजानन् ।

को दम्पती समनसा वि यूयोदध यदग्निः श्वशुरेषु दीदयत् ॥१२॥

(कदा) कब (जातः) उत्पन्न हुआ (सूनुः) पुत्र (पितरम्) पिता को (इच्छात्) चाहे-पहिचाने (चाकम्) रोता हुआ पुत्र (विजानम्) पिता को जानता हुआ (अश्रु) आंसु (न वर्तयात्) न निकाले-न बहावे-उसके पास आकर शान्त हो जावे (कः) कौन पुत्र (समनसा) मन के साथ या मनोयोग से (दम्पती) भार्या पति-स्व माता पिता को (वि यूयोत्) विवेचित करे ! कोई नहीं (अघ) अनन्तर (अग्निः) कामाग्नि (श्वशुरेषु) कुत्ते के समान हिंसित करने वाले, जा र व्यभिचारियों में (दीदयत्) दीप्त होती है, तब केवल कामातुर व्यभिचारी अकस्मात् पिता हुआ पुत्र को स्नेह

भावार्थ—पुत्र उस पिता को चाहता है जो पुत्रकामना से उसे उत्पन्न करता है उसके पास रोता हुआ शान्त हो जाता है केवल व्यभिचारी कामातुर से अकस्मात् उत्पन्न हुए को वह स्नेह नहीं करता है पुनः पुत्र उसे कैसे चाहे, अतः पुत्र की इच्छा से गृहस्थजीवन या गृहस्थाश्रम निभाना चाहिये ॥ १२ ॥

प्रति ब्रवाणि वर्तयते अश्रु चक्रन्न क्रन्ददाध्वै शिवायै ।

प्र तत्तै हिनवा यत्तै अस्मे परेह्यस्तं नहि मूर मापः ॥१३॥

(प्रति ब्रवाणि) पुनः कहती हूँ (चक्रन्) पुत्र क्रन्दन करता हुआ- (न) सम्प्रति (अश्रु) आंसुओं को (वर्तयते) बहायेगा (क्रन्दत्) रोता हुआ (शिवायै) कल्याण करने वाली माता के लिये (आध्वे) स्मरण करेगा-चिन्तन करेगा (ते) तेरा (तत्) वह सन्तान-पुत्र (अस्मे) हमारे पास है (प्रति हिनव) तुझे सोंप दूँ-देदूँ तो तेरे पास न रहेगा-रोएगा ही, मुझ माता के बिना, अतः (अस्तं परा-इहि) मेरे साथ गृह-सद्गृहस्थाश्रम को प्राप्त हो (मूर) मेरे विना मुग्ध जन ! (मा) मुझे (नहि) नहीं प्राप्त करेगा यदि जार होकर, मेरी कामना करेगा यह धर्म नहीं, अतः तुझे कभी जार कर्म न करना चाहिए ॥ १३ ॥

भावार्थ—कामुक जार मनुष्य के पास उस से उत्पन्न पुत्र न ठहरेगा क्योंकि पुत्रभाव से उसे उत्पन्न नहीं किया अतः उसके लिये पुत्रस्नेह न होगा, ऐसे जार व्यभिचारी के साथ कुमारी को सम्बन्ध न जोड़ना चाहिए वह कभी सच्चा स्नेह नहीं कर सकता है वह कभी न कभी धोका देगा ॥ १३ ॥

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ ।

अद्या शयीत् निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासौ अद्युः ॥१४॥

(सुदेवः) हे उर्वशी पत्नी तेरे विना सुख से खेलने वाला बहु प्रशंसक पति (अद्य) आज-सम्प्रति (अनावृत्) अनाश्रित हुआ (प्रपतेत्) गिर पड़े-

मूर्च्छित हो जावे (परावतम्) दूर देश को (परमाम्) दूर दिशा को (गन्तवै-उ) जाने को उद्यत होवे (अघ) अनन्तर-फिर (निऋतेः) पृथिवी के (उपस्थे) उपस्थान-कोने या खड्डे में (शयीत) शयन करे जावे-निष्क्रिय हो जावे-मर जावे (अघ) अनन्तर-पुनः (एतम्) इसको-मुझ को (रभसासः) महात् (वृकाः) भेड़िये आदि मांसभक्षक पशु (अद्युः) खा डालें ॥ १४ ॥

भावार्थ—अन्यथा मोह करने वाले निराश्रित होकर किसी भी देश दिशा में भूमि के गहन गर्त स्थान में आत्महत्या कर लेते हैं अथवा निराश होकर ऐसे निष्क्रिय हो जाते हैं कि उन जीते हुआओं को भी मांसभक्षक जन्तु खा जाते हैं, अतः अन्यथा मोह करना उचित नहीं शास्त्रविधि से धर्मानुसार पति पत्नी सम्बन्ध होना चाहिए ॥ १४ ॥

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा

त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन् ।

न वै स्त्रैणानि सख्यानि

सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ॥१५॥

(पुरुरवः) हे बहुभाषी ! (मा मृथाः) मत मर (मा प्रपत) मत कहीं खड्डे आदि में गिर (मा त्वा) न तुझे (अशिवासः) अहितकर (वृकासः) मांसभक्षक भेड़िये (अक्षन्) खा जावें (न वै) न ही (स्त्रैणानि) स्त्रीसम्बन्धी (सख्यानि) सखीभाव-स्नेह मोह (सन्ति) होते हैं-स्थिर होते हैं हितकर होते हैं (एता) ये तो (सालावृकाणाम्) वेग से आक्रमण करने वाले भेड़ियों के (हृदयानि) हृदय जैसे क्रूर हैं-हानिकर हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य कामी बन कर आत्महत्या करते हैं अपने को मांस-भक्षक पशुओं तक समर्पित कर देते हैं ऐसा करना जीवन की सफलता नहीं है, स्त्रियों में आसक्ति कामवश स्नेह स्थायी नहीं बनानी चाहिए वहाँ स्थायी नहीं

होता अपितु आक्रमणकारी भेड़ियों के हृदय जैसा उनका हृदय जीवन नाशक होता है, अतः सद् गृहस्थ बनकर पुत्रीत्पादन को लक्ष्य रखना चाहिए ॥ १५ ॥

यद्विरूपाचरं मत्येष्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्रः ।

घृतस्य स्तोत्रं सकृदह्म आशनां तादेवेदं तातृपाणा चरामि ॥१६॥

(यत्) जिस से कि (विरूपा) पूर्व से विमुख अर्थात् पूर्व ब्रह्म-चारिणी से विरूप गृहिणी भाव को प्राप्त हुई (अचरम्) सेवन करती हूँ (मत्येषु) पुरुषों में-पुरुषों के सम्पर्क में एक की पत्नी होकर (अवसम्) बसती हूँ-वसूँ (शरदः) शीतकालीन (चतस्रः-रात्रीः) चार रात्रियाँ जिनमें तीन रजस्वलावाली फिर एक गर्भाधान वाली को वस रही हूँ-वसूँ, (अह्नः) दिन के (सकृत्) एक बार ही (घृतस्य) मानव-बीज वीर्य के (स्तोत्रम्) अल्प भाग को (आशनाम्) भोगती हूँ-भोगूँ (तात्-एव) उतने मात्र से ही (इदं तातृपाणा) इस समय तृप्त हुई (चरामि) विचरती हूँ-विचरूँ ॥१६॥

भावार्थ—कुमारी ब्रह्मचारिणीरूप को छोड़कर गृहिणी के रूप में आती हूँ या आया करती हूँ पुरुषों के सम्पर्क में किसी एक की पत्नी बनकर रहती हूँ-रहना होता है, पतिसङ्ग केवल शीतकाल की चार रात्रियों का होता है तीन रजोधर्म की पति के सङ्ग रहने की और चौथी गर्भाधान की, केवल एक बार मानव बीज-वीर्य का अल्प भाग सन्तानार्थ लेकर सन्तान की उत्पत्ति तक तृप्त रहना चाहिए-संयम से रहना चाहिए ॥ १६ ॥

अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः ।

उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे ॥१७॥

(अन्तरिक्षप्राम्) मेरे आत्मा को पूरण करने वाली तृप्त करने वाली (रजसः-विमानीम्) रञ्जनात्मक गृहस्थ सुख की निर्माण करने वाली (उर्वशीम्) बहुत कमनीय भार्या को (वसिष्ठः) तेरे अन्दर अत्यन्त बसने वाला मैं पति (उपशिक्षामि) अपना वीर्य समर्पित करता हूँ (सुकृतस्य)

शुभकर्म-संयम-यथावत् आचरित ब्रह्मचर्य की (रातिः) फलरूप दानक्रिया (त्वा) तेरे अन्दर (उपतिष्ठात्) उपस्थित रहे-सन्तान बनावे (निवर्तस्व) निवृत्त हो (मे) मेरा (हृदयम्) हृदय (तप्यते) पीड़ित होता है तेरे पास रहने से अतः जा ॥ १७ ॥

भावार्थ—पत्नी पति के आत्मा को तृप्त करती है रञ्जनीय गृहस्थसुख निर्माण करती है कमनीय है अतः पति उसके अन्दर अत्यन्त राग से बसा रहता है वह संयम से यथावत् पालित ब्रह्मचर्य के फलरूप वीर्य को पत्नी के समर्पित करता है जो उसके अन्दर उपस्थित हो गर्भ पुत्र रूप में पृष्ठ होता है, गर्भ स्थित हो जाने पर पत्नी को पतिगृह से पिता भ्राता आदि के यहाँ चला जाना चाहिए जिससे गर्भ की रक्षा पुत्रोत्पत्ति के योग्य हो जावें, पति के पास न रहे, पास रहने से पति कामभाव से पीड़ित होता है उसके द्वारा गर्भपात होने की सम्भावना है ॥ १७ ॥

इति त्वा देवा इम आहुरैळु यथेमेतद्भवसि मृत्युबन्धुः ।

प्रजा ते देवान्हृविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे ॥१८॥

(ऐल) हे वाणी में कुशल बहुवक्ता पति ! (इमे देवाः) ये विद्वान् जन (त्वा) तुझे (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं (ईम्-एतत्) यह कि (यथा) जैसे (मृत्युबन्धुः) मृत्यु जिसका बन्धु है-पीड़ा देने वाला नहीं है ऐसा तू (भवासि) हो जावेगा मुझे से विरक्त होकर (ते) तेरा (प्रजा) सन्तति-पुत्र (हृविषा) अन्नादि से (देवान्) विद्वानों का (यजाति) सत्कार करेगा-तेरी प्रसिद्धि करेगा (त्वम्-अपि) तू भी (स्वर्ग-उ) मोक्ष में स्थिर (मादयासे) हर्ष-आनन्द को प्राप्त करेगा ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य गृहस्थ से विरक्त होकर विद्वानों के सत्कार का पात्र बन जाता है और मृत्यु भी उसका मित्र बन जाता है जो अपने विकराल स्वरूप को छोड़ देता है पीड़ा नहीं पहुँचाता है, मोक्ष में स्थिर आनन्द को भोगता है उसकी सन्तान अच्छा कर्म करते हुए संसार में उसके यश को स्थिर रखते है यह गृहस्थ आश्रम का परमफल है ॥ १८ ॥

माण्डूक्योपनिषद् मुनिभाष्य

ओ३म् की व्याख्या और उपासनारोते

भाष्यकार तथा प्रकाशक

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

प्राग्वचन

नवीन वेदान्ती जन इस उपनिषद् को अपने अद्वैत मत का मूल मानकर अर्थ करते हैं परन्तु हम इसका अर्थ इसकी मौलिकता का अनुसरण करते हुए करेंगे ।

१—आचार्य (ग्रन्थकार) की शैली की रक्षा करते हुए अर्थात् मन्त्रों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा शब्दों के पूर्वापर सामञ्जस्य एवं रचनाशैली का ध्यान रखते हुए ।

२—उपनिषदों वेदों की अध्यात्म शाखाएं हैं जो शाखी (वेदरूप वृक्ष) के अनुकूल होनी चाहिए अतः वेदानुसारता को भी समक्ष रखा जाएगा ।

३—इस उपनिषद् में ओम् की व्याख्या है, ओम् उपास्य देव है “ओम् क्रतो स्मर” (यजु० ४० । १६) “ईश्वरप्रणिधानाद्वा, तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्” (योग । समाधिपाद २३, २७, २८) उपासनापद्धति या उपासनामार्ग योग के समन्वय को भी लक्ष्य में रखा जावेगा ।

—स्वामी ब्रह्ममुनि परित्वाजक

माण्डूक्योपनिषद् मुनिभाष्य

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं
भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव यच्चान्यत्रिकालातीतं
तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

अर्थ—(ओम्-इति-एतत्-अक्षरम्) 'ओम्' यह जो वस्तुरूप है या जिसे 'ओम्' कहते हैं वह अक्षर-न क्षर-न क्षीण होने वाला-गुणकर्मस्वभाव से परिवर्तित न होने वाला एकरस निर्विकार अविनाशी एवं व्यापक' चेतन देव है। जैसे कोई कहता है कि 'अग्निरिति प्रज्वलितपदार्थः' अग्नि जो है वह प्रज्वलित पदार्थ है यहां कहने वाले का अभिप्राय है मुख से उच्चरित या स्याही आदि से लिखित अग्नि (शब्द) जलता हुआ पदार्थ नहीं किन्तु 'अग्नि' जो वस्तुरूप है वह प्रज्वलित पदार्थ है, इसीप्रकार ओम् जो वस्तुरूप है वह अक्षर-न क्षीण होने वाला अर्थात् सत्यगुणकर्मस्वभाववाला एकरस निर्विकार और व्यापक है, न कि मुख से उच्चरित या स्याही आदि से लिखित जैसे इस उपनिषद् में 'अक्षर' शब्द ब्रह्म के लिए आया है वैसे ही वेद में भी जहाँ यह 'अक्षर' शब्द है वहाँ स्पष्ट भेदरूपसे ही ब्रह्म, जीव और जगत्कारण वर्णित है। "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्तद्विमे समासते ॥ (ऋ० १।१६।४३९) अर्थात् 'परम व्यापक अक्षर में सारे अग्नि आदि देव रखें हैं जो उसको नहीं जानता वह ऋग्वेदादि से क्या करेगा। जो उसे जानते हैं वे ही उसमें समागम करते हैं'। यहां अक्षर शब्द से ब्रह्म, देव शब्द से अग्नि आदि जगत्कारण और जो उसे नहीं जानता या जो जानता है ऐसे कथन से ब्रह्म के जानने के अधि-

१ अक्षरं न क्षरं विद्यादश्नोतेवा सरोऽक्षरम्" (महाभाष्य) 'अश्-सर्'
(उणादि)

कारी जीव का वर्णन है एवं जीव और जगत्कारण से भिन्न अक्षर शब्द से ब्रह्म को बताया है ।

(इदं सर्वं तस्य-उपव्याख्यानम्) यह सब विकारात्मक और ज्ञानात्मक जगत् 'विकारात्मक-पृथिवी आदि लीक लोकान्तर' और ज्ञानात्मक-वेद सत्य शास्त्र^३ उस ओम्रूप वस्तुका समीपी व्याख्यान अर्थात् उसका यथावत् बोध कराने वाला व्याख्यान है जैसे किसी कार्यात्मक वस्तु में क्रिया या ज्ञान से उसके बनाने वाले का बोध होता है कि एवंगुणसम्पन्न इसका निर्माता है तथैव यह कार्यरूप जगत् भी इस अपने प्रदत्तक ओम् को भली भांति जानाता है इस कथन से ओम् उस से भिन्न वस्तु है क्योंकि यह जगत् उस ओम् का उपव्याख्यान कहा गया है । एवं यह भाव दर्शाया है वहां स्पष्ट भेदरूप ही वर्णन है, जैसे "एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः-की महिमा और वह पुरुष इस महिमा से महात् है एवं यही अभिप्राय इस उपनिषद् में है, उपव्याख्यान और महिमा दोनों पर्याय हैं वैदिक परिभाषा में महिमा औषनिषद् परिभाषा में उपव्याख्यान समझे । जगत् ब्रह्म नहीं ।

(भूतं भवत्-भविष्यत्-इति-सर्वम्-ओङ्कारः-एव) भूत, वर्तमान, भविष्यत् इन सब कालों से युक्त-भूत आदि सर्वकाल लक्षणसहित-भूत आदि सर्वकालों में स्थिति जिसकी है ऐसा अपने स्वरूप से विराजमान अर्थात् न केवल भूतलक्षण न वर्तमानमात्र न भविष्यत्-लक्षण ही प्रत्युत त्रिकालरूप ओङ्कारात्मक ब्रह्म ही है, कारण कि इस परिवर्तनशील जगत् में कोई वस्तु अपने नित्य और स्वतन्त्र व्यापार से सर्वकालस्थ नहीं है यदि भूत में थी अब नहीं है अब है आगे न रहेगी भविष्य में होगी तो अब नहीं है किन्तु परमात्मा ही जीवों को कर्मानुसार सुख दुःख तथा मुक्तों को आनन्द में प्रवृत्त कराता हुआ अपनी एकरस शुद्ध अवस्था से त्रिकालरूप में विराजमान है यहां नवीन वेदान्तियों का जगत् शब्द का अध्याहार करके तीनों कालों में उत्पन्न जगत् को

१ "द्यावाभूमि जनयन् देव एकः" (यजु० १७ । १९)

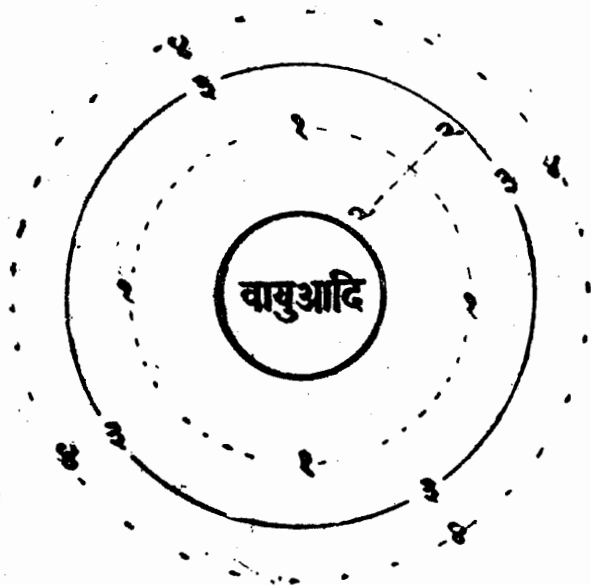
२ "तस्माद्-यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे" (यजु० ३१ । ३)

ओम् ब्रह्म बतलाना आचार्य की शैली के विपरीत है आचार्य ने पूर्व कथन 'इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' में इस सब जगत् को उस का उपव्याख्यान महिमा बतलाया है। अतः यहां तो उसे त्रिकालरूप बताना ध्येय है जैसे वेद में कहा है कि "यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति । स्वयंस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥" (अथर्ववेद) अर्थात् वह परमात्मा सब भूत आदि कालों को अपने अधिभूत करके स्थित है। इस वचन के अनुसार उपनिषद् में वर्णन है, वेद में तीन 'च, च, च' शब्दों से तीनों कालों का समुच्चय किया है एक काल की केवलता को हटाने के लिये और उपनिषद् में 'इति सर्वं' शब्द से संग्रह है।

(यत्-च-अन्यत्) और जो कुछ उक्त उपव्याख्यानरूप जगत् से पृथक् है ('तत्-अपि-ओङ्कार-एव) वह भी ओंकार ही है, यह अगला वचन सम्बन्ध रखता है अर्थात् जगत् की अवधि या सीमा को उल्लङ्घन करके जो कोई भी वस्तु पृथक् हो सकती है वह ओम् [परमात्मा] ही है, अन्य नहीं कारण कि अन्य वस्तु में ऐसे सामर्थ्य का अभाव है। आकाश भी व्यापक कहा जाता है परन्तु पूर्णरूप से नहीं पूर्णरूप से सर्वव्यापक तो परमात्मा ही है जो कि आकाश से भी परे है वेद में कहा भी है "त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः" (ऋ० १।५२।१२) अर्थात् हे परमात्मन् तू इस आकाश के भी पार में है। ऋषि दयानन्द ने भी लिखा है "हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! आकाश लोक के पार में तथा भीतर अपने ऐश्वर्य और बल से विराजमान होके (आर्याभिविनय^१) एवं वैज्ञानिक रीति से भी यह ही सिद्ध होता है-अत्यन्त अणुपरिमाण और अत्यन्त महत्परिमाण की वस्तु गोल आकार धारण करती है अत एव छोटे से छोटा कण या जल-बिन्दु गोल होता है एवं बड़े से बड़ा पदार्थ गोल होता है। पृथिवीगोल, सूर्य-

१ अन्यत्र भी वेद में बाहिर ब्रह्म का ही अवधारण किया है, जैसे "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" (यजु० ४०।५) अर्थात् वह ब्रह्म इस जगत् के अन्दर है और वह ही इस सब प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत् के बाहिर है।

है ही और जगत् जब प्रकृतिरूप में चला जायगा तब वह प्रकृति अत्यन्त महत्परिमाण में एकरूप हो जाने से गोलाकार ही रहेगी यह सिद्ध है पुनः “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुः” (तैत्तिरीयोपनिषद्) उस गोलाकार प्रकृतिरूप से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु आदि, इसके लिए देखो निम्न चित्रः—



यहां चित्र में मध्य गोलाकार वायु आदि है और उसके आस पास बड़े गोलाकार के भीतर आकाश है जो कि अवकाशरूप में उत्पन्न हुआ है “निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्” (वैशेषिक) जहां से निकले या जहां प्रवेश करे वह आकाश है, बस जब यह है तो देखो चित्र में आकाश वह १ ही है और वह यहां ३ तक (परिधि तक) कारण कि यहां २ से ही परमाणु निकले हैं और और प्रलयकाल में उनके प्रवेश होने की परम अवधि भी यहां

३ तक ही है तो बाहिर यह ४ क्या वस्तु है ? आकाश तो यह है ही नहीं कारण कि यहां से न तो परमाणु निकले हैं और न ही प्रलय में यहां तक प्रवेश कर सकते हैं अतः यह ब्रह्म ही है । इस प्रकार जगत् से बाहिर ब्रह्म ही है, वास्तव में आकाश भी जगद् के अन्तर्गत ही है गतिरूप क्रिया से यह निष्पन्न होता है और गति भी यहां ३ से ही आरम्भ होती है एवं आकाश जगत् से बाहिर नहीं है ।

(त्रिकालातीतम्) 'तत्-अपि-ओङ्कारः-एव' तीनों कालों को जो उल्लङ्घन किए हुए है-तीनों कालों की मर्यादा से जो बाहिर है वह भी ओम् ब्रह्म ही है अन्य पदार्थ नहीं क्योंकि काल व्यापारक्रिया के साथ सम्बन्ध रखता है क्रिया के होते हुए वर्तमान काल पहिले को भूत आगामी को भविष्यत् काल समझा जाता है सो आकाश से बाहिर क्रिया का आरम्भ नहीं है देखो चित्र में अंक २, अतः वहां कालगति न होने से कालातीत ओम्-ब्रह्म ही है ।

आशय—ओम् जो वस्तुरूप है जिसे ब्रह्म या परमात्मा कहते हैं वह एकरस निर्विकार अमर अविनाशी और सर्वव्यापक है यह सारा जगत् उसकी महिमा है वह महिमवान् त्रिकालरूप तथा जगत् से और तीनों कालों से भी भिन्न है । इस प्रकार पूर्वकथन में सगुण और उत्तर कथन में निगुणं वर्णन किया गया है ॥

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

अर्थः—(एतत् सर्वं हि ब्रह्म) यह ओम् समुदायरूप से या अलग अलग अवयव रूप से 'अ, उ, म्' सब ही ब्रह्म है (अयम्-आत्मा ब्रह्म) यह यह 'चेतन' वस्तु ब्रह्म है (सः-अयम्-आत्मा-चतुष्पात्) वह यह 'चेतन' वस्तु ब्रह्मात्मा चार अवस्था वाला है ।

विशेष—पाद शब्द का पैर ही अर्थ नहीं है किन्तु अन्य अर्थ भी हैं । मूर्त जड वस्तुओं में 'पाद' शब्द अंशार्थ चेतन-मूर्त (चेतनावान् मूर्त) में अङ्गार्थ और अमूर्त चेतन में अवस्थार्थ में आता है 'पद = गती' पद धातु गति

अर्थ में है और गति के ज्ञान, गमन, प्राप्ति अर्थ हैं अतः उक्त चारों अर्थों में प्रयुक्त होता है उदाहरण निम्न प्रकार है—

१—मूर्तजड वस्तुओं में अंशार्थ पाद शब्द प्रयुक्त होता है, प्राप्ति अर्थ को लेकर। प्राप्त होता है यथावस्थित वस्तु जिसके द्वारा वह पाद उसका अंश, जैसे चतुष्पात् पर्यङ्क आदि अर्थात् पलङ्ग चारपाओं का फलिका चार पाए की तिपाई तीन पाए की आदि आदि। यहां पाद शब्द आधारभूत अंश के लिये आया है। ग्रन्थ में पाद शब्द अंशार्थ में जैसे अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय का चतुर्थ पाद। क्वचित् क्वचित् चतुर्थ अंश का वाचक जैसे 'सपादप्रस्थं दुग्धम्' पावसहित सेर दूध, यहां चतुर्थ अंश में आया है।

२—मूर्तचेतन या चेतनावान् मूर्त में अङ्गार्थ पाद शब्द गति को लक्ष्य करके प्रयुक्त है यह प्रसिद्ध है ही जैसे 'द्विपाद् मनुष्यः-पक्षी च' "चतुष्पादो गर्भिण्या" (अष्टाध्यायी २।१।७१) दो पाँव का मनुष्य और पक्षी चार पाँव का पशु इत्यादि।

३—अमूर्त चेतन में पाद शब्द अवस्वार्थ होता है यहां ज्ञान अर्थ अभीष्ट है, जाना जाता है अनुभव किया जाता है साक्षात्कार किया जाता है वह पाद कहलाता है। जो कि इस स्थान पर 'सोऽयमात्मा चतुष्पात्' वचन में है, आत्मा [ब्रह्मात्मा] अमूर्त और चेतन है इस में अन्य अर्थ घट नहीं सकता है अतः यहां पाद शब्द अवस्था का वाचक है।

उपनिषद् के प्रस्तुत वचन 'सोऽयमात्मा चतुष्पात्' में पाद शब्द अङ्गार्थ में नहीं है यह बात भूमिका में बतलाए प्रस्तुत उपनिषद् भाष्य के आधाररूप ईश्वरानुकूल्य, आचार्यशैली-रक्षा और वेदानुसारता से भी सिद्ध होती है।

ईश्वरानुकूल्य—

ईश्वर सर्वव्यापक और अजन्मा है उसमें अङ्गरूप पाद-लक्षणा नहीं घटती है यदि ईश्वर में अङ्गरूप पाद लक्षणा हो तो वह काल से ऊर्ध्व एवं

सर्वव्यापक और अजन्मा न हो सकेगा कारण कि कोई भी अङ्गवान् काल से विनष्ट होने वाला एक देशी और जन्म लेने वाला ही होता है ।

आचार्यशैलीरक्षा—

आचार्य ने तृतीयपाद को सर्वेश्वर सर्वज्ञ आदि नामों से कहा है और चतुर्थपाद को तो शान्त केवल आत्मतामें वर्तमान हुआ बतलाया है, अङ्गरूप पाद सर्वेश्वर सर्वज्ञ शान्त केवल आत्मा में नहीं होता है अतः आचार्यशैली भी स्पष्ट जनाती है कि यहां पाद शब्द अङ्गरूप नहीं है ॥

वेदानुसार—

वेद में ईश्वर को 'अकाय' अर्थात् शरीररहित कहा है, जब शरीर ही नहीं तब पाद शब्द अङ्गार्थ में हो ही नहीं सकता । अन्यत्र उपनिषद् में भी यह बात स्पष्ट करदी गई है "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" (श्वेताश्वतरोप० ३ । १९) ईश्वर के अङ्गरूप हाथ-पांव नहीं है । कदाचित् कोई कहने लगे कि वेद में ईश्वर में अङ्गरूपवाद-पांव का भी वर्णन मिलता है जैसे "विश्वतोऽधुस्त विश्वतोऽधुस्त विश्वतोऽधुस्त विश्वतोऽधुस्त" (ऋ० १० । २१ । ३) वहां परमेश्वर के सब ओर नेत्र सब ओर मुख सब ओर बाहु सब ओर पांव बतलाए हैं । यह भ्रम है कि इस मन्त्र में ये नेत्र मुख बाहु पांव स्थूल अङ्गरूप हैं जबकि पूर्व में हमने वेद से बतलाया कि ईश्वर 'अकाय' है फिर अङ्गरूप में नेत्र मुख बाहु पांव कैसे हो सकते हैं और सब ओर नेत्र साथ ही सब ओर मुख सब ओर बाहु पुनः सब ओर पांव कैसे सम्भव है । क्या जहां पांव है वहां आंख और जहां आंख वहां पांव भी हो सकता है फिर सारे अङ्ग सब जगह वह बात अङ्गरूप से कथन नहीं की गई है शक्तिरूप से की गई है वह उन उन अङ्गों का काम करने की शक्ति रखता है जैसा पूर्व कहे एक उपनिषद्वचन से भी बतलाया है वह पांवरहित है पर चलने वाला है हाथ से रहित है पर पकड़ने वाला है अङ्गरूप से ईश्वर में सब ओर पांव आदि नहीं हो सकते ।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः

स्थूलभृग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

अर्थ—(जागरितस्थानः) जागरितस्थान जिसका है वह जागरित-स्थानी या जागरितप्रवृत्तिवाला (वहिःप्रज्ञः) बाहिर प्रज्ञा जिसकी है—व्यक्त कार्यरूप जगत् में बुद्धि रखने वाला (सप्ताङ्गः) सात अङ्ग जिसके हैं वह सात अङ्गवाला (एकोन-विंशतिमुखः) उन्नीस प्रमुख मुखवत् प्रधानशक्तियां जिसकी हैं—उन्नीसप्रमुखशक्तिवाला (स्थूलभुक्) स्थूलजगत् को पालने वाला^१-स्थूलजगत् का पालक रक्षक (वैश्वानरः) सबका नायक नियन्ता चालक (प्रथमः पदः) वह ऐसे लक्षण युक्त प्रथमावस्थावाला या प्रथमप्रकार से समझा जाने वाला या प्रथम साक्षात्कार में आने वाला ओङ्कार का वाच्यरूप ब्रह्म है यह एक दर्शन है ।

ब्रह्म का ज्ञान करने में यही प्रथम निश्चय है । शिष्य के सम्मुख गुरु जी बालक आदि खिलौना बनाकर उस से पूछता है कि बच्चा यह खिलौना किसने बनाया ? शिष्य कहता है गुरु जी अभी मेरे सम्मुख आपने बनाया है । पुनः गुरु पूछता है तो फिर यह तुम्हारा और मेरा शरीर तथा सूर्य आदि पदार्थ किसने बनाए हैं ? तब शिष्य मन में विचार कर कहता है कि हां, इन सब का बनाने वाला है तो सही पर वह कैसा है यह मैं नहीं जानता हूं पुनः गुरु इस 'जागरित स्थानः' मन्त्रानुसार लक्षणों से जनाता है और क्रमशः उच्चसीमा तक ले जाता है । अथवा कोई मननशील तथा कार्य-कर्ता के सम्बन्ध को जानने वाला जन प्रातः सायं जंगल में कहीं एकान्त शान्त स्थान में विराजमान हो विविध जाङ्गलिक पदार्थों नदी पर्वतों तथा उदय और अस्त होते हुए सूर्य

१ "भुज पालनाभ्यवहारयोः" (रुधादि) भुज धातु पालने और भोगने अर्थ में है । यहां यह पालन अर्थ में है भोगने अर्थ में नहीं कारण कि वेद में ईश्वर को न भोगने वाला कहा है "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" यहां रूपकालङ्कार से बतलाया है कि जीवात्मा परमात्मारूप दो पक्षी प्रकृति एवं प्राकृतिक जगत् रूप वृक्ष पर बैठे हैं उनमें से जीवात्मा उसके फल को भोगता है और परमात्मा नहीं भोगता है ।

एवं अन्य नक्षत्र तारों ग्रह सितारों को देख कर मन में निश्चय करता है कि हां है इस जगत् का बनाने वाला है परन्तु वह किस अवस्था में है कैसा है यह विचार करने लगता है तो उस जगत्कर्ता जगदीशदेव का प्रथम गुण उसके सामने आता है 'जागरितस्थानः' जागरित स्थानी-जागरितप्रवृत्तिवाला-जैसा कि मैं किसी कार्य को करता हुआ या किसी को बनाता हुआ होता हूँ तो जागरिता बस्थाबाला होता हूँ ऐसा ही वह भी है पुनः दूसरा गुण सामने आता है 'बहिःप्रज्ञः' अपने से भिन्न प्रकटीभूत जगत् में बुद्धि जिसकी लगी है ऐसा वह है पश्चात् तीसरा गुण उपस्थित होता है 'सप्ताङ्गः' सात अङ्गों वाला वह है जिस प्रदेश में चेतन वस्तु प्रविष्ट होकर नियन्ता बन विराजता होता है वह उसका अङ्ग समझा जाता है, जब यह है तो वैदिक शब्दों में भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्य, सातलोकः हैं ये भू आदि नाम लोकप्रदेश या लोकक्षेत्र या लोकमण्डल हैं जो कि समस्त दृश्य अदृश्य विश्व या खगोल के सप्तस्तर सात परिधिप्रदेश हैं जिन में अनन्त पिण्ड हैं परन्तु भूपरिधि या भूस्तर के समस्त पृथिवीपिण्डों के सात विभाग जातिरूप से हैं । एवं इन भूलोक आदि में ब्रह्म व्यापक होकर इनका नियन्ता है कारण कि यदि ब्रह्म पृथिवीलोक या भूलोक में ही हो तो सूर्य लोक या स्वः-लोक में न हो तो वहां कौन कार्य करे एवं सूर्य लोक या स्वः-लोक में ही हो तो पृथिवीलोक या भूलोक में कौन कार्य करेगा तथा एकदेशी होने से एकदेशीय उपाधियां भी ब्रह्म को लग जावेंगी अतः अङ्गरूप भू आदि सात लोकस्तरों में व्यापक होकर वह सप्ताङ्ग है । पश्चात् चतुर्थ गुण प्रतीत हो जाता है 'एकोनविंशतिमुखः' उन्नीसमुख-उन्नीस-प्रमुखशक्ति वाला है । जैसे मैं कुछ कार्य करता हूँ तो मेरे पांच कर्मेन्द्रियां पांच ज्ञानेन्द्रियां मन बुद्धि चित्त अहङ्कार और पांच स्थूलभूतों से युक्त होकर करता हूँ एवं उस ब्रह्म के भी ये साधन हैं अङ्गरूप से नहीं पर शक्तिरूप से अवश्य हैं, वेद में कहा भी है, "विश्वतचक्षुरस्त विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरस्त विश्वतस्पात् ।" (ऋ० १० । ८१ । ३) 'सब ओर आंख वाला, सब ओर मुखवाला सब ओर भुजावाला और सब ओर पैरवाला वह ब्रह्म है' । सब ओर आंख सब ओर मुख सब ओर भुजा सब ओर पैर अङ्ग रूप होना असम्भव है । एक ही अङ्ग

का सब ओर होना असम्भव है पुनः आंख जहां, वहां पैर भी जहां पैर वहां आंख या हाथ आदि होने की तो कथा ही क्या । पुनः पञ्चम गुण का परिचय होता है 'स्थूलभुक्' स्थूल जगत् का पालक स्थापक है यदि ऐसा न हो तो सब पिण्ड परस्पर टकराकर नष्ट भ्रष्ट हो जावें अन्त में छठा गुण उपलब्ध होता है 'वैश्वानरः' सब का नायक या चालक नेता ड्राईवर की भाँति है किस पिण्ड को किस गति से कितने परिधिप्रदेश में चलना है सब गति विधि का नेता वह ब्रह्म है । बस यह है प्रथम प्रकार से समझ में आनेवाला ब्रह्म या ब्रह्म का प्रथमदर्शन वा प्रथम साक्षात्कार, गुणों के प्रत्यक्ष से ही गुणी का प्रत्यक्ष समझा जाता है । ब्रह्म के इस प्रथम दर्शन में निमग्नमनवाले की समाधि त्रितर्करूपा-नुगम समाधि कहलाती है ॥ ३ ॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः

प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

अर्थः—(स्वप्नस्थानः) स्वप्नस्थान जिसका है—स्वप्नस्थानी स्वप्न-प्रवृत्तिवाला-विचारप्रवृत्तिवाला (अन्तःप्रज्ञः) अन्तर्गत सूक्ष्म जगत् में जिसकी बुद्धि लगी है ऐसा वह (सप्ताङ्गः) पूर्ववत् परन्तु सूक्ष्म सप्ताङ्ग वाला (एकोनविंशतिमुखः) पूर्ववत् पर सूक्ष्म उन्नीस प्रमुख शक्ति वाला (प्रविविक्तभुक्) प्रविवेचनगत-सूक्ष्म जगत् का पालक संस्थापक (तैजसः) तेजः स्वरूप-बिजुली के समान 'तेजस् ही तैजस है स्वार्थ में अणु प्रत्यय' (द्वितीयः पादः) द्वितीयावस्था वाला-द्वितीय प्रकार से समझा जाने वाला द्वितीय उपाय से साक्षात् किया जाने वाला वह ब्रह्मात्मा [ओंकार का वाच्य] है ।

जङ्गल में गये हुए मननशील उपासक की बुद्धि ओंकारात्मा ब्रह्मात्मा में आगे गति करती है उसकी विचारधारा आगे बढ़ती है जब कि यह जगत् न बना था इस स्थूलरूप में न था तो यह ब्रह्मात्मा किसी अवस्था में था उस समय भूलोक या पृथिवीगोल पर प्राणी और वनस्पति नहीं उत्पन्न हुए थे पृथिवी में उनके उपजाने का स्नेह धर्म भी नहीं आया पर्वत भी ठोस बन पृथिवी की परिधि से बाहिर नहीं आए थे और समुद्ररूप जल का महागर्त भी

नहीं प्रकट हुआ था किन्तु पृथिवी लिलबिल मृदु और मेघसमान सूक्ष्म गोल रूप में घूम रहा था एवं सारे आकाशीय पिण्ड इसी प्रकार सूक्ष्म बने हुए थे सूर्य केवल विस्तृत ज्योतिर्मय-मात्र फैला हुआ था उस अवस्था में वह परमात्मा विचारप्रवृत्ति वाला अन्तर्गत सूक्ष्म जगत् में बुद्धि रखने वाला भू आदि सूक्ष्म हुए लोकों को व्याप्त हुआ हुआ सूक्ष्मरूप उन्नीस प्रमुख शक्ति वाला पञ्च सूक्ष्म भूतों तन्मात्राओं से युक्त शक्तिवाला सूक्ष्म जगत् का पालक संस्थापक तेजः स्वरूप विद्युद्रूप यह द्वितीयावस्थावाला ब्रह्मात्मा है। ब्रह्म के इस द्वितीय दर्शन में निमग्न हुए मनवाले की समाधि विचाररूपानुगम समाधि कहलाती है यह सूक्ष्म जगत् में ब्रह्मदर्शन है ॥ ४ ॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते

न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् ।

सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो

ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

अर्थः—(यत्र) जिस अवस्था में (सुप्तः) सोया हुआ (न कञ्चन कामं कामयते) किसी भी विषय को नहीं चाहता (न कञ्चन स्वप्नं पश्यति) न ही किसी विचार को अनुभव करता है (तत् सुषुप्तम्) वह सुषुप्त अवस्था है। इस प्रकार वह—

(सुषुप्तस्थानः) सुषुप्तस्थान जिस का है-सुषुप्तस्थानी-सुषुप्तप्रवृत्तिवाला (प्रज्ञानघनः-एव) प्रज्ञा है घनीभूत केन्द्रीभूत जिसकी ऐसा वह गूढप्रज्ञ (एकीभूतः) अनेक स्थूल सूक्ष्म पृथिवी आदि लोक 'नाम और रूप को छोड़कर' एक प्रकृति मात्र हो गए हैं जिसमें वह एकीभूत अर्थात् एकाङ्ग (आनन्दमयः-हि-आनन्दभुक्) अतिसूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति से बहुत अति-सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति का पालक रक्षक संस्थापक (चेतोमुखः) अन्तःकरण ही मुखवत् प्रमुख शक्ति है जिसकी वह चेतनस्वरूप (प्राज्ञः) ईक्षक या द्रष्टा 'प्रज्ञ ही प्राज्ञ वार्थ

में अण् प्रत्यय' (तृतीयः पादः) तृतीय उपाय से साक्षात् होने वाला वह ब्रह्मात्मा [ओङ्कारपद का वाच्य] है ॥

पूर्ववत् वही मननशील जङ्गल में स्थित हुआ पुनः विचारता है जबकि यह सूक्ष्म जगत्-पृथिवी आदि सूक्ष्म लोकमात्र भी नहीं बने थे केवल प्रकृति उसके सामने थी तो उस समय ब्रह्म किस अवस्था में था एवं निश्चय करता है कि वह सुषुप्तप्रवृत्ति वाला था अर्थात् न वह किसी पदार्थ के निर्माण की इच्छा करता है और न ही जीवों के उद्धार आदि के निमित्त कुछ विचारता है तथा अनेक पृथिवी आदि लोक एक प्रकृतिमात्र जिसमें हो गये अनेक पृथिवी आदि सत्ता से नाम और रूप को छोड़कर एक कारणाख्य प्रकृतिमात्र होकर वर्तते हैं जिसमें एवं वह गूढप्रज्ञ निरतिशयज्ञानस्वरूप और जो अव्यक्त अतिसूक्ष्म कारणाख्य प्रकृति से युक्त उसका पालक या स्थापक, चेतस्-अतःकरण-शक्ति जिसकी मुख्य शक्ति है ऐसा वह चेतोमुख और प्राज्ञ-ईक्षक या द्रष्टा अर्थात् प्रकृति को ईक्षण मात्र से सम्मुखी करता है ऐसा तृतीय अवस्थावाला या तृतीय प्रकार से समझा जाने वाला था तृतीय उपाय से निश्चय होने वाला वह यह ब्रह्मात्मा प्रकृति में ब्रह्मदर्शन यह आनन्दरूपानुगम समाधि है ॥ ५ ॥

विशेष—यहां तीसरे चौथे पांचवें मन्त्र में जागरित स्वप्न सुषुप्त व्यवहारों को देखकर कोई एक भाष्यकार जीवों के प्रति इन अवस्थाओं को लगाते हैं परन्तु ऐसा करना सर्वथा अयुक्त है क्योंकि वैश्वानर आदि शब्द मुख्य-तया ब्रह्म के लिये प्रयुक्त होते हैं जीवों के लिये नहीं तथा आचार्य की शैली के अनुसार भी ब्रह्म ही की ये अवस्थाएं इस उपनिषद् में समझी जाती हैं कारण कि 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्' अवस्थाओं का यह उपक्रम वचन है इसमें ओम् को ब्रह्म कहा और ब्रह्मात्मा की उक्त चार अवस्थाएं हैं ऐसा कहा एवं आगे उपसंहार वचन 'सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कार अधिमात्रं पादा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति' में भी यह बात स्पष्ट है उस चार अवस्था वाले ब्रह्मात्मा ओम् को चार अवस्था वाला ब्रह्मात्मा तथा चार अवस्था वाले ब्रह्मात्मा की चारों अवस्थाओं को ओम् की अकार आदि मात्राओं

में घटाया जिस ओम् को ब्रह्मात्मा बतलाया गया था । ऋषि दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश में लिखा है “ओ३म् यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है ।” अतः ओ३म् सांसारिक पदार्थों का संघात या जीवों को मान लेना और कहना अयुक्त ही है । ब्रह्मात्मा की जागरित आदि अवस्थाएं होती हैं—

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।

यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥

(मनु० १ । ५२)

अर्थात् जिस समय वह परमात्मदेव जागता है उस समय यह प्रसिद्ध व्यापार में होता है और जिस समय वह सोता है तब छिप जाता है । लौकिक एवं ज्योतिष सिद्धान्त भी है जब तक सृष्टि है तब तक ब्राह्म दिन और जब तक प्रलय है तब ब्राह्म रात्रि कहलाती है अतः सृष्टिकार्य में उसका प्रवृत्त होना और उससे निवृत्त होना ही परमात्मदेव का जागना और सोना है ।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी सिद्ध है कि किसी चेतन व्यक्ति [चाहे ब्रह्म हो अथवा जीव] का जब स्थूल पदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है तब उसको जागरित और जब सूक्ष्मों के साथ होता है तो उस समय स्वप्न और जब अति-सूक्ष्म अव्यक्त के साथ सम्बन्ध होता हो तो सुषुप्ति समझी जाती है ये पारि-भाषिक अवस्थाएं हैं ।

(ग) जागरित स्थानो^१ वहिःप्रज्ञः^२ सप्ताङ्ग^३ एकोनविंशतिमुखः^४
स्थूलभुग्^० वैश्वानरः^६ प्रथमः पादः ॥ ३

स्वप्नस्थानो^१ ऽन्तःप्रज्ञः^२ सप्ताङ्ग^३ एकोनविंशति-मुखः^४ प्रविविक्त-
भुक्^५ तैजसो^६ द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

सुषुप्तस्थान^१ एकीभूतः^३ प्रज्ञानधनः^२ (एवानन्दमयोहि) आनन्दभुक्^५
चेतोमुखः^४ प्राज्ञः^६ तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

इन मन्त्रों में छः छः गुण सहकारी क्रमगत हैं पञ्चम मन्त्र में दो गुण वाक्यालंकार के लिये हेर फेर से रखे हुए हैं, हम इन क्रमगत सहकारी शब्दों को पृथक् रख कर कुछ विज्ञप्ति दर्शाते हैं—

१	जागरितस्थान	२	बहिःप्रज्ञ	३	सप्ताङ्ग	४	एकोर्नविशति- मुख	५	स्थूलभुक्	६	वैश्वानर	पाद	प्रथम	द्वितीय	तृतीय
	स्वप्नस्थान		अन्तःप्रज्ञ		सप्ताङ्ग		एकोर्नविशति- मुख		प्रविविक्तभुक्		तैजस				
	सुषुप्तस्थान		प्रज्ञानधन (गूढप्रज्ञ)		एकीभूत (एकाङ्ग)		चेतोर्मुख		आनन्दभुक्		प्राज्ञ				

इन शब्दों की क्रमिक (क्रमबद्ध) और व्याकरणरूपी विज्ञप्ति को मीमांसा द्वारा रखते हैं वह यह कि—

(१) “जागरित स्थान^१, स्वप्नस्थान^२, सुषुप्तस्थान^३” ये बहुव्रीहि समास में युक्त हैं ।

(२) बहिप्रज्ञः^१, अन्तःयज्ञ^२, प्रज्ञानघन^३ (गूढप्रज्ञ)” ये तीनों भी व्याकरण की व्युत्पत्ति में पूर्ववत् बहुव्रीहि समास में युक्त हुए समान हैं

(३) प्र० सप्ताङ्ग^१, द्वि० सप्ताङ्ग^२, एकीभूत [एकाङ्ग] पूर्ववत् बहुव्रीहि समास में व्याकरण की व्युत्पत्ति में समान है ।

(४) प्र० एकोनविंशतिमुख^१, द्वि० एकोनविंशतिमुख^२, चेतोमुख^३” पूर्ववत् बहुव्रीहि समास में समान हैं ।

(५) स्थूलभुक् प्रविविक्तभुक्^२ आनन्दभुक्^३ ये तीनों व्याकरण की व्युत्पत्ति से उपपद तत्पुरुष समास में हैं ।

(६) ‘वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, ये तीनों शब्द व्याकरण की व्युत्पत्ति से स्वार्थ में तद्धित अण् प्रत्ययान्त हैं अर्थात्—

विश्वानर + अण् स्वर्थे = वैश्वानरः (अग्निरूप)

तेजस् + अण् ” = तैजसः (विद्यच्छरूप)

प्राज्ञ + अण् ” = प्राज्ञः (आदित्यरूप)

क्रमबद्ध अवस्था में “नायक-नेता^१, उत्तेजक-उत्तेजिता^२ दर्शक-द्रष्टा^३ (ईक्षक)” के बोधक हैं कारण कि किसी भी कार्य के सम्पादन करने में जब कोई चेतन प्रवृत्तिमार्ग में आता है तो प्रथम दर्शक-द्रष्टा फिर उत्तेजक-उत्तेजिता पश्चात् नायक नेता होता है अर्थात् अपने से भिन्न पदार्थ के साथ वर्तमान होने में ये औपाधिक (उपाधि से हुई) या नैमित्तिक अवस्थाएं समझें कारण कि कर्त्ता प्रथम किसी वस्तु को ज्ञानपूर्वक देखता है^१ कि यह अमुक वस्तु है और तदनन्तर उसका भेदन-छेदन^२ करके अवस्थाविशेष में कर देता है पश्चात् अभीष्ट निर्मिति (सृष्टि) में लाकर उ प्रयोग करता है, यह हुआ प्रवृत्ति-मार्ग ।

निवृत्तिमार्ग में ये ही तीनों रूप प्रतिकूलता से होते हैं अर्थात् प्रथम नायक-नेता फिर उत्तेजक-उत्तेजिता पश्चात् दर्शक द्रष्टा होकर निवृष्ट हो जाता है कारण कि समयानुसार अभीष्ट उपयोग^१ हो जाने पर उस निर्मिति (सृष्टि) को निष्प्रयोजन (रद्दी) समझ नष्ट-भ्रष्ट^२ करने लगता है तब वह पूर्व जैसे सृष्टि-आकार में न रहकर भेदनछेदन अवस्थाविशेष में आता है और वह अवस्था विशेष भी पूर्व सृष्टि के लिये हुई थी अतः उस स्थिति में भी उसे नहीं रखना चाहता तब उससे भी निवृत्त हो जाता है^३ और वह वस्तु भी अपने कारणरूप प्रकृतिस्वरूप में आजाती है । इससे क्रमगत चेतन पदार्थ की अपने से भिन्न वस्तु के साथ वर्तमान तीन औपाधिक या द्वैत अवस्थाएं होती हैं ।

अब पांचवें क्रम पर विशेष विचार देखें—

(५) क्रम “स्थूलभुक्”, प्रविविक्तभुक् [प्रविवेचनगतभुक् = सूक्ष्मभुक्], आनन्दभुक् [अव्यक्तभुक् = कारणभुक् = प्रकृतिभुक्] है ।”

यहां आनन्द शब्द अव्यक्त-कारण प्रकृति के लिये हैं यह आचार्य की शैली से स्पष्ट है । आचार्य ने प्रथम स्थूल लिखा पुनः “प्रविविक्त = सूक्ष्म पुनः आनन्द अतः क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होते हुए अव्यक्त प्रकृति को सिद्ध करता है ।

(ख) सुषुप्ति की नींद का सोना आनन्द की नींद का सोना प्रसिद्ध है सुषुप्ति कारणशरीर अर्थात् प्रकृति के आधार पर होती है, ऋषि दयानन्द ने भी लिखा है “तीसरा कारण शरीर जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढनिद्रा होती है” (सत्यार्थप्रकाश)

(ग) ‘आनन्दभुक्’ शब्द यहां लाक्षणिक तीन अवस्थाओं के अन्तिम सुषुप्तावस्था का है एवं कोशों में अन्तिम कोश ‘आनन्दमय’ है इस प्रकार आनन्दमय कोश और आनन्दभुक् समानरूप है आनन्दमय कोश का आधार कारण प्रकृति है यह ऋषि दयानन्द ने लिखा है ।

अब लीजिये उपासनाशास्त्र की अनुसारता जो आनन्द के अव्यक्त कारण प्रकृति अर्थ में विशेष प्रमाण है । इस उपनिषद् में ओ३म् रूप उपास्य

ब्रह्मात्मा की चार अवस्थाएं बतलाई हैं उन अवस्थाओं में उपासक या अभ्यासी की चार प्रकार की समाधियां होती हैं उन्हें निम्न योगसूत्र और व्यासभाष्य में तुलना करके देखें—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः ॥

(योग० समाधि० । १७)

अर्थात् “वितर्कारूपानुगम, विचाररूपानुगम, आनन्दारूपानुगम, अस्मितारूपानुगम” ये चार सम्प्रज्ञात समाधि होती हैं। एवं “स्थूलभुक् वैश्वानर” की उपासना से वितर्कारूपानुगम, “प्रविविक्तभुक्-तैजस” की उपासना से विचाररूपानुगम, “आनन्द-भुक् प्राज्ञ” की उपासना से आनन्दारूपानुगम, और आगामी “एकात्मप्रत्ययसार” की उपासना से अस्मितारूपानुगम समाधि होती है। अब इस बात को अर्थसहि व्यासभाष्य द्वारा स्फुट करते हैं—

वितर्कश्चित्तस्थालम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः। आनन्दो ह्लादः। एकात्मिका संविदस्सिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति (व्यास भाष्य) देखो कोष्ठक पृष्ठ २९६, २९७

इस प्रकार विवेचन से ‘आनन्दभुक्’ को अव्यक्तभुक् प्रकृतिभुक् कारण-भुक् कहा जा सकता है। यहां उपनिषद् में आया आनन्द शब्द अव्यक्त प्रकृति या कारण का अर्थ रखता है। लोक में भी गहराई या मूल कारण में पहुँचने पर कहा जाता है कि अब मुझे आनन्द प्राप्त हुआ है।

चेतन व्यक्ति का प्रवृत्तिमार्ग में प्रथम ‘कारणशरीर’ फिर ‘सूक्ष्मशरीर’ पश्चात् ‘स्थूलशरीर’ होता है तथा निवृत्तिमार्ग में ‘प्रथम स्थूल शरीर’ को त्यागता है फिर ‘सूक्ष्मशरीर’ को पश्चात् ‘कारण शरीर’ को भी त्याग देता है।

जिस प्रकार दार्शनिकों का सिद्धान्त है कि यह अस्मदादिकों का शरीर भी (व्यष्टिरूप से) सृष्टि या संसार है एवं औपनिषद् सिद्धान्त में यह दृश्य और अदृश्य सम्पूर्ण संसार ब्रह्मात्मा का शरीर है—

उपास्य संख्या	विवरण	उपास्य का स्वरूप	समाधि का स्वरूप
१	व्यास— भाषार्थ—	वितर्कश्चित्तस्थालम्बने स्थूल आभोगः चित्त के सम्मुख स्थूल पदार्थों से लक्षणा में आया स्वरूप वितर्क कहलाता है। एवं 'स्थूलभुक्' उपास्य वितर्क है।	तत्र चतुष्टयानुगतः प्रथमः समाधिः सवितर्कः। उन चारों में से प्रथम समाधि सवितर्क है। एवं 'स्थूलभुक्' उपास्य से 'सवितर्क' समाधि होती है।
२	व्यास— भाषार्थ—	सूक्ष्मो विचारः। चित्त के सम्मुख सूक्ष्म पदार्थों से लक्षणा में आया हुआ स्वरूप विचार कहाला है। एवं 'प्रविविक्तभुक्' उपास्य 'विचार' है।	(तत्र चतुष्टयानुगतः) द्वितीयः (समाधिः) वितर्कविकलः सविचारः। (उन चारों में से) द्वितीय (समाधि) वितर्कानुगम से आगे बढ़ी हुई सविचार है। एवं 'प्रविविक्तभुक्' उपास्य से 'सविचार' समाधि होती है।

	व्यास—	आनन्दो ह्लादः ।	(तत्र चतुष्टयानुगतः) तृतीयः (समाधिः) विचारविकलः सानन्दः ।
३	भाषार्थ—	चित्त के सम्मुख अव्यक्त अर्थात् कारण पदार्थ से लक्षणा में आया स्वरूप आनन्द कहाता है । एवं 'आनन्दभुक्' उपास्य 'आनन्द' है ।	(उन चारों में से) तृतीय (समाधि) विचारानुगम से आगे बढ़ी हुई 'सानन्द' है । एवं 'आनन्दभुक्' उपास्य से 'सानन्द' समाधि होती है ।
	व्यास—	एकात्मिका संविदस्मिता ।	(तत्र चतुष्टयानुगतः) चतुर्थः (समाधिः) तद्विकलोऽस्मितामात्र इति ।
४	भाषार्थ—	केवल आत्मा से लक्षणा में आया हुआ स्वरूप 'अस्मिता' कहाता है । एवं आगामी 'एकात्म प्रत्ययसार' उपास्य 'अस्मिता' है ।	(उन चारों में से) चतुर्थ (समाधि) आनन्दानुगम से आगे बढ़ी हुई 'अस्मितामात्र' है । एवं 'एकात्मप्रत्यय- सार' उपास्य से 'अस्मितामात्र समाधि होती है ।

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी
शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्थापः शरीरम् ॥

योऽनौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो० यस्याग्निः शरीरम् ॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्० यस्यान्तरिक्षं शरीरम् ॥

यो वायी तिष्ठन्० यस्य वायुः शरीरम् ॥

यो दिवि तिष्ठन्० यस्य द्यौः शरीरम् ॥

य आदित्ये तिष्ठन्० यस्यादित्यः शरीरम् ॥

जो दिक्षु तिष्ठन्० यस्य दिशः शरीरम् ॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठन्० यस्य चन्द्रतारकं शरीरम् ॥

य आकाशे तिष्ठन्० यस्याकाशं शरीरम् ॥

(बृहदारण्यको० अ० ३।ब्रा० ७।म० ३—१२)

एष सर्वेश्वर एव सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः

सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(एषः-सर्वेश्वरः) यह तृतीयावस्थावाला ब्रह्मात्मा सर्वेश्वर है कारण कि सब वस्तुओं पर जो ईश्वरत्व = स्वामित्व है वह इसी अवस्था वाले में अधिष्ठित है (एषः-सर्वज्ञः) यही तृतीयावस्थावाला सर्वज्ञ है समस्त वस्तुओं का ज्ञान तथा जीवों के समस्त कर्मकलाप का ज्ञान इसी अवस्थावाले में है (एषः-अन्तर्यामी) यही तृतीयावस्थावाला समस्त जड़ जङ्गम में अन्दर यमन नियमन करने वाला है (एषः-सर्वस्य योनिः) यही तृतीयावस्थावाला सब उत्पन्न वस्तुओं का कारण है (भूतानां प्रभवाप्ययौ हि) सब वस्तुओं का प्रभव = उत्पत्तिस्थान और अप्यय = लयस्थान यही है कारण कि यहां से उत्पत्ति करने वाली प्रवृत्ति आरम्भ होती है तथा यहां पर ही लय करने वाली निवृत्ति स्थान पकड़ती है ॥ ६ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं ना
प्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम् ।
एकात्मप्रत्यसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्रैतं चतुर्थं
मन्यते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

अर्थ—पूर्ववत् वही विचारशील मनुष्य जङ्गल में विराजमान ब्रह्म-
विचार में निमग्न प्रकृति के आधार पर आनन्दानुगम समाधि तक पहुँचा हुआ
आगे ब्रह्मसाक्षात्कार में प्रवेश करता है वह ब्रह्मात्मा जबकि प्रकृति को भी
लक्ष्य नहीं कर रहा था तब वह किस अवस्था में था तब मन्त्रगत भावों का
अन्तरात्मा में भान होता है (नान्तःप्रज्ञम्) उसे अन्तःप्रज्ञ नहीं कह सकते
दूसरी अवस्था वाला अन्तःप्रज्ञ था (न बहिःप्रज्ञम्) न बहिःप्रज्ञ कह सकते हैं
वह प्रथमावस्थावाला था (नोभयतःप्रज्ञम्) न दोनों से मिश्रित (न प्रज्ञान-
घनम्) न प्रज्ञानघन-गूढप्रज्ञ कह सकते हैं वह तृतीयावस्थावाला था (न प्रज्ञम्)
न द्रष्टा (न-अप्रज्ञम्) न अद्रष्टा कह सकते हैं किन्तु उसे (अदृष्टम्) अदृष्ट-
दृष्टि से परे (अव्यवहार्यम्) व्यवहार में न आने योग्य (अग्राह्यम्) ग्रहण
करने में अयोग्य (अलक्षणम्) लक्षण से परे (अचिन्त्यम्) चिन्तन में न
आने योग्य (अव्यपदेश्यम्) दूसरे को संकेतित करने या समझाने के अयोग्य
कह सकते हैं^१ (एकात्मप्रत्ययसारम्) एक = केवल^२ आत्मप्रत्यय आत्मा में

१ यहां तक इस तुरीयावस्थावाले का नेति नेति (ऐसा नहीं वैसा नहीं)
स्वरूप था ।

२ “एकशब्दोऽयं बह्वर्थः.....अस्त्येव-असहायवाची तद्यथा-एकाग्रनयः, एकह-
लानि, एकाकिभिः क्षुद्रकौर्जितमिति-असहायै रित्यर्थः” (व्याकरणमहा-
भाष्यम्)

लोक में भी ‘एक’ शब्द केवल अर्थ में प्रसिद्ध है, जैसे कोई पूछता है आपके
यहां कौन कौन पशु हैं उत्तर में कहता है एक गौवं ही हैं अर्थात् गौएं
ही हैं ।

प्रतीति-प्रतिभान-अनुभव ही सार-स्वरूप जिसका है' (प्रपञ्चोपशमम्) संसार के प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापार से पृथक् (शान्तम्) निर्विकल्प (शिवम्) कल्याण-रूप है । (अद्वैतम्) केवल (चतुर्थं मन्यन्ते) चतुर्थ-तुरीयावस्थावाले को मानते हैं अनुभवद्वारा जानते हैं ध्यानी योगी जन (सः-आत्मा) वह आत्म-स्वरूप में है (सः-विज्ञेयः) वह जानने योग्य-साक्षात् करने योग्य है ॥ ७ ॥

विशेषः—यहां तक ब्रह्मदर्शन की चार स्थितियां हुईं जोकि—

१—स्थूल जगत् में ब्रह्मदर्शन ।

२—सूक्ष्मजगत् में ब्रह्मदर्शन ।

३—अव्यक्त प्रकृति में ब्रह्मदर्शन ।

४—अपने आत्मा में केवल ब्रह्मदर्शन है ।

ये ऐसे ही हैं जैसे घृतरूप स्नेह का स्पर्श या अनुभव प्रथम दूध में दूसरे इस से अधिक मलाई में तीसरे उस से भी अधिक मक्खन में चौथे उस से भी अधिक घृत स्नेह है केवल स्नेह हाता है ।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा

मात्राश्च पादा अकार उकार मकार इति ॥ ८ ॥

अर्थः—(सः-अयम्-आत्मा) वह यह चार-अवस्थावाला ब्रह्मात्मा (अध्यक्षरम्-ओंकारः) अक्षरों में घटनेवाला-अक्षरों में कहा जाने वाला ओम् है, तथा 'अध्यक्षरम् ओंकारः' अक्षरों में घटनेवाला ओम् = 'सोऽयम्-आत्मा' वह यह चार अवस्थावाला ब्रह्मात्मा है । अर्थज्ञानकाल में अर्थ जानने वाले के

१ सार का अर्थ स्वरूप है "सृ स्थिरे" (अष्टा० ३ । ३ । १७) से सार शब्द बना है । किसी भी वस्तु का स्वरूप ही स्थिर होता है । यथा चेतना जीव में, जडत्व अप्राणी में और प्रकाश अग्नि में स्थिर है अर्थात् जीव चेतनस्वरूप है अप्राणी जडस्वरूप है अग्नि प्रकाशस्वरूप है ।

प्रति संज्ञा-संज्ञी का अभेद हो जाता है भेद तो तब तक प्रतीत होता है जब तक अर्थज्ञान न हो। जैसे जिस मनुष्य ने देवदत्त को न देखा हो उस ऐसे मनुष्य को यदि देवदत्त के पुकाराने को कहा जावे तो उस ऐसे पुकारते हुए अपरिचित मनुष्य के अन्दर 'देवदत्त' शब्दबुद्धि ही होती है प्रत्युत जब किसी ऐसे मनुष्य को पुकारने के लिये कहें जो देवदत्त को जानता हो तो 'हे देवदत्त' ऐसा पुकारते हुए उसके अन्दर उसकी आकृति वस जावेगी वह मानो आकृति का पुकारना है। इस प्रकार संज्ञा 'देवदत्त' और संज्ञी आकृतिमान् शरीररूप संज्ञी का अभेद हो जाता है (अधिमात्रं पादाः-मात्राः-च पादाः) मात्राधिष्ठित-मात्राओं में घटने वाली अवस्थाएं हैं और मात्राएं ही अवस्थाएं हैं पूर्ववत् अभेद से (अकारः-उकारः-मकारः-इति) अकार = अ, उकार = उ, मकार = म्, इति = मात्राओं का अभ्यासपूर्वक विराम' 'अमात्र' ये चारों पूर्वोक्त अवस्थाओं के संज्ञा अर्थात् शब्द रूप हैं एवं अवस्थाएं संज्ञी अर्थात् अर्थरूप हैं

॥ ८ ॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्ते-
रादिमत्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च
भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

वक्तव्यः—यहां से उपनिषद् के अन्त तक सम्बन्धप्रदशक वचन हैं। 'शब्द, अर्थ, सम्बन्ध' यह शब्दशास्त्र (व्याकरण) का अभिधेय है। उक्त तीनों इस उपनिषद् में स्पष्ट किये गए हैं, आकारादि मात्राओं से युक्त 'ओम्' शब्द का जागरित-स्थानादि चार अवस्थाओं से युक्त ब्रह्मात्मा अर्थ है यह तो पूर्व वचन में आचार्य ने दर्शा दिया अब आचार्य अकारादि मात्रारूप शब्द से जाग-

१ अभ्यासपूर्वक विराम अर्थात् चुप में और अभ्यास के विना चुप में भारी अन्तर है विना अभ्यास का चुप अन्धकारमय है और अभ्यासपूर्वक चुप संस्कारमय है यथा सार्थ मन्त्र श्लोक गान के अनन्तर चुप एक संस्कारमय आनन्दभरी चुप है।

रितस्थान आदि अवस्थारूप अर्थ का सम्बन्ध क्या है या इन दोनों का सम्बन्ध क्या है यह इस वचन से प्रारम्भ कर स्पष्ट करता है ।

अर्थ—(जागरितस्थानः-वैश्वानरः) प्रथमावस्थासम्बन्धी आदि और अन्त के शब्द लेकर आचार्य वर्णन करता है कि तृतीय मन्त्र में ब्रह्मात्मा को जो जागरितस्थानावस्था कह आए हैं वह (अकारः प्रथमा मात्रा) ओम् में 'अ' वर्णरूप प्रथम मात्रा है अर्थात् ओम् में 'अ' शब्द और ब्रह्मात्मा की जागरितावस्था अर्थ है । क्यों ?-(आप्तेः-आदिमत्वान्-वा) आप्ति-पूर्णता से और आदिमता-प्रथमता से उक्त शब्द और अर्थ से दोनों धर्म विद्यमान होने से प्रवृत्तिदृष्टि से आप्ति-पूर्णता और निवृत्तिदृष्टि से आदिमता-प्रथमता विद्यमान है अर्थात् जैसे जागरितस्थान अवस्थारूप अर्थ प्रवृत्तिदृष्टि-विकासदृष्टि-फैलाव की दृष्टि से आप्त है पूर्ण है इस से आगे अवस्थाओं की प्रवृत्ति-विकास या फैलाव नहीं है इसी प्रकार 'अ' मात्रा रूप शब्द ध्वनि भी प्रवृत्तिदृष्टि-विकास दृष्टि-फैलाव की दृष्टि से आप्त है पूर्ण है इस से आगे ध्वनिरूप मात्राओं की प्रवृत्ति विकास-फैलाव नहीं है । तथा जैसे जागरितस्थान अवस्था रूप अर्थ निवृत्तिदृष्टि-संकोचदृष्टि लयदृष्टि से आदिम-प्रथम है इससे पूर्व अवस्थाओं की निवृत्ति-संकोच-लयता नहीं है इसी प्रकार 'अ' मात्रारूप शब्दध्वनि भी निवृत्तिदृष्टि संकोच दृष्टि-लयदृष्टि से आदिम है-प्रथम है इससे पूर्व मात्राओं की निवृत्ति-संकोच-लयता नहीं है । ये आप्ति और आदिमता सम्बन्ध के रूप में शब्द और अर्थ दोनों में विद्यमान है अतएव आप्ति और आदिमता यहां सम्बन्ध है (आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् आदिः-च भवति यः-एवं वेद) अवश्य ही सर्वथा आप्तकाम हो जाता है प्रवृत्ति दृष्टि-विकास दृष्टि में और निवृत्तिदृष्टि-संकोचदृष्टि में आदि-प्रथमस्थितिवाला हो जाता है जागरितस्थान अवस्था और 'अ' मात्रा के समान जो इस प्रकार जानता है ।

विशेष—आचार्य ने इन सम्बन्धप्रदर्शक वचनों में दो प्रकार के सम्बन्ध बललाए हैं, एक शब्दशास्त्रसम्मत वैकारिक हेतुरूप दूसरा शब्दशास्त्रसम्मत

पारमार्थिक या उपासनाशास्त्रसम्मत उपास्याकारवृत्तिरूप । 'अ' शब्द, जागरितस्थान ब्रह्मात्मा अर्थ, इनका प्राप्ति और आदिमता सम्बन्ध है शब्द-शास्त्र सम्मत वैकारिक हेतुरूप हुआ । दूसरा उपासना शास्त्रसम्मत उपास्या-कारवृत्तिरूप आचार्य ने बतलाया है "आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् आदिश्च भवति य एवं वेद" इस प्रकार जानने वाले या उपासक के अन्दर भी उक्त सम्बन्धरूप 'प्राप्ति' और 'आदिमता' आजाती है अर्थात् ज्ञाता या उपासक भी वैसा ही हो जाता है । शब्दशास्त्र महाभाष्य में कहा है—

महान् देवः शब्दः महता देवेन नः साभ्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्
(महाभाष्य १ । १ । १)

अर्थात् शब्दस्वरूप जो महान् देव है उसके साथ हमारी समानता हो जावे इसलिये व्याकरण पढ़ना होता है ।

अब इस विषय के बोधार्थ देखें निम्न तालिका—

शब्दशास्त्र की तद्बोध	शब्द	अर्थ	सम्बन्ध (समानता) १
पारमार्थिकता में—	धारणा	ध्यान	(समाधि ध्येयाकार वृत्ति) २
योग की परिभाषा में—	उपास्य	उपासना	उपास्याकारता ३
ओपनिषद् विद्या में—	(ब्रह्म)	ब्रह्मध्यान	(ब्रह्माकारता)
” ”			

तालिका के अन्तिम क्रम में प्रमाण प्रदर्शित करते हैं—

(१) शब्दशास्त्र की तद्बोध पारमार्थिकता का प्रमाण तो 'महान् देवः शब्दः
....इत्यादि दे चुके ।

(२) योग की परिभाषा प्रमाण निम्न देखें—

“तदेवार्थमात्रानिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः” (योग० ३ । ३)
“ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति
ध्येयस्वभावावेशत्तदा समाधिरित्युच्यते” (व्यासभाष्यम्) “ध्यानसमाध्योरयं

भेदो ध्याने मनसो ध्यातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति (ऋषि दयानन्दः, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम्)

(३) औपनिषद् विद्या का प्रमाण—

“यदा पश्यः पश्यते स्वमवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः एवं परमं साम्यमुपैति (मुण्डको ३।१।३)

अर्थात् ध्यानी विद्वान् या उपासक जब उस जगदीश परमात्मदेव का साक्षात् करता है तो पुण्य पाप से छूट कर शुद्ध हुआ उपास्यरूप ब्रह्मात्मा के गुणसाम्य को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षा-

दुभयत्वाद् वोत्कर्षति ह वैज्ञानसन्ततिं समानश्च

भवति (नास्याब्रह्मवित् कुले भवति') य एवं वेद ॥ १ ॥

अर्थः—(स्वप्नस्थानः-तैजसः) पूर्वोक्त द्वितीयावस्थागत आदि और अन्त के शब्द लेकर आचार्य उपदेश करता है कि ब्रह्मात्मा की जो स्वप्नावस्था

१ यह कोष्ठान्तर्गत पाठ इस उपनिषद् से बाहिर का है, आचार्यशैली यहां सम्बन्ध प्रदर्शन में है यह पाठ सम्बन्ध से बाहिर है । अथवा यह पाठ सभी सम्बन्धप्रदर्शक मन्त्रों में होगा उपासक की महत्ता दर्शाने के लिए कि उपासक के योनिवंश या विद्यावंश में कोई नास्तिक नहीं होता है उसका प्रभाव उसके वंश पर पड़ता है, जैसे मुण्डकोपनिषद् में कहा है “स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । नास्याब्रह्मवित् कुले भवति” (मुण्डको० ३।२।९)

२ 'वा' पूर्ववत् समुच्चयार्थ में है ।

समानः-ये वर्तमान-समान-तरोजू

मानभ्या सह वर्तमान-समान

कह आए हैं वह (उकारः-द्वितीयमात्रा है) 'ओम्' में 'उ' वर्णरूप द्वितीया मात्रा है अर्थात् ओम् में 'उ' शब्द और ब्रह्मात्मा की स्वप्नावस्था है (उत्कर्षात्) उभयत्वात्-वा) उत्कर्ष-बढ़ते रहने और उभयत्व-मध्यत्व होने से उक्त शब्द और अर्थ में ये दोनों धर्म विद्यमान होने से प्रवृत्ति दृष्टि से उत्कर्ष-वृद्धि-बढ़ते रहना और निवृत्तिदृष्टि से उभयत्व-मध्यत्व विद्यमान है । अर्थात् जैसे स्वप्न-स्थानावस्थारूप अर्थ प्रवृत्तिदृष्टि-विकासदृष्टि-फैलाव की दृष्टि से उत्कर्ष में है-उत्थान में है-बढ़ रही है क्योंकि यहां की प्रवृत्तिदृष्टि-विकासदृष्टि फैलाव दृष्टि की पूर्णता नहीं है प्रत्युत आगे भी प्रवृत्ति या विकास होने वाला है ऐसे ही 'उ' मात्रारूप शब्द भी प्रवृत्तिदृष्टि-विकासदृष्टि फैलाव की दृष्टि से उत्कर्ष में है-उत्थान में है क्योंकि यहां प्रवृत्तिदृष्टि-विकास दृष्टि की पूर्णता नहीं है प्रत्युत आगे भी प्रवृत्ति या विकास होने वाला है । इस प्रकार शब्द और अर्थ में उत्कर्षरूप सम्बन्ध है । तथा जैसे स्वप्नस्थानावस्थारूप अर्थ निवृत्तिदृष्टि-सङ्कोच-दृष्टि-लयदृष्टि से उभयत्व-मध्यत्व-मध्य में वर्तमान है क्योंकि जागरितस्थाना-वस्था की विवृत्ति हो चुकी है दूसरी संख्या में यह है, ऐसे ही 'उ' मात्रारूप शब्द भी निवृत्तिदृष्टि-सङ्कोचदृष्टि-लयदृष्टि से उभयत्व-मध्यत्व-मध्य में वर्तमान है क्योंकि 'अ' मात्रा की निवृत्ति हो चुकी है । इस प्रकार शब्द और अर्थ में उभयत्व सम्बन्ध है । (उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तति समानः-च भवति यः-एवं वेद) निःसन्देह उन्नत करता है ज्ञानसन्तान-ज्ञानक्रम को 'प्रवृत्तिदृष्टि से-विकासदृष्टि से' और समान-दोनों ओर मानों से वर्तमान या मानों के साथ वर्तमान होता है तुला में मानों के मध्य या समानर साथ समाना सूची की भांति 'निवृत्तिदृष्टि से-सङ्कोचदृष्टि से-लयदृष्टि से' स्वप्नस्थानावस्था और 'उ' मात्रा के सहश जो उसका जानने वाला या उपासक है ॥

विशेषः—यहां पर पूर्व मन्त्र की भांति सम्बन्ध है । यह तो हुषा शब्दशास्त्रसम्मत वैकारिक सम्बन्ध है साथ में आचार्य ने पारमार्थिक सम्बन्ध भी कि इन शब्द और अर्थ को जान देने वाले या उपासक की ज्ञान-सहचरितावस्था जो हो जाती है वह 'उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तति समानश्च

भवति' कथन से बतलाया है ज्ञान को उन्नत करता है आगे बढ़ाता रहता है प्रवृत्तिदृष्टि-विकासदृष्टि से 'शब्द' और 'स्वप्नस्थानावस्थारूप अर्थ की भांति तथा समान-दोनों ओर मानों से वर्तमान उभयत्व को प्राप्त हो जाता है निवृत्ति-दृष्टि-सङ्कोचदृष्टि-लयदृष्टि से 'उ' शब्द और स्वप्नस्थानावस्थारूप अर्थ की भांति ॥ १० ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा
मितेरेपीतेर्वा मिनोति ह वा इद् ५ सर्वमपीतिश्च
भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

अर्थ—(सुषुप्तस्थानः प्राज्ञः) पूर्वोक्त तृतीयावस्थासम्बन्धी आदि और अन्त के गुणों को लेकर आचार्य दर्शाता है कि ब्रह्मात्मा की सुषुप्तस्थानी तृतीयावस्था कही है वह (मकारः-तृतीया मात्रा) 'ओम्' में 'म्' तृतीय मात्रा है 'ओम्' में 'म्' शब्द और ब्रह्मात्मा की सुषुप्तावस्था अर्थ है (मितेः-अपीतेः-वा) मिति-मापकता धर्म से और अपीति-लयता धर्म से उक्त शब्द है और अर्थ में ये दोनों धर्म वर्तमान होने से मिति और अपीति सम्बन्ध है अर्थात् जैसे सुषुप्तस्थानावस्थारूप अर्थ प्रवृत्तिदृष्टि-विकासदृष्टि-फैलाव की दृष्टि से मापक है मूलरूप सूचक या प्रवर्तक है इसी प्रकार 'म्' शब्द भी प्रवृत्तिदृष्टिविकास दृष्टि-फैलावदृष्टि से मापक है मूलरूप सूचक या प्रवर्तक है । शान्त बैठे मनुष्य की बोलने में प्रथम होठों के खुलनेरूप स्फुरणा होती है होठों की खुलने रूप स्फुरणा में 'म्' अवस्थित हुआ आगे उच्चरित होने वाले वाग्विषय (शब्द) का मापक मूलसूचक-प्रवर्तक बनता है कि कुछ बोलेगा या बोला जायगा तथा निवृत्तिदृष्टि-सङ्कोचदृष्टि-लयदृष्टि में अपीति-अन्तक है जैसे सुषुप्तस्थानावस्था रूप अर्थ निवृत्ति दृष्टि-सङ्कोचदृष्टि-लयदृष्टि से अन्तक या अन्तिम है आगे अन्त होने वाला कुछ नहीं है इसी प्रकार 'म्' शब्द भी निवृत्तिदृष्टि-सङ्कोच दृष्टि-लय-दृष्टि से अन्तक या अन्तिम है क्योंकि इससे आगे अन्त होने वाला कुछ भी नहीं है । इस प्रकार मिति-मापकता-मूल-सूचकता-प्रवर्तकता और अपीति-अन्तकता-अन्तिमता दोनों ये "शब्द और सुषुप्तस्थानावस्था ब्रह्म में सम्बन्ध है (मिनोति

ह वै-इदं सर्वम्-अपीति:-च भवति य:-एवं वेद) अवश्य ही लिङ्गरूपता से इस सब को जांच लेता है प्रवर्तक बन जाता है प्रवृत्तिदृष्टि से विकासदृष्टि से और अपने इन्द्रियादि संघात के अन्तिम रूप को सम्पादन कर लेता है 'म्' शब्द और सुषुप्तस्थानावस्थारूप अर्थ के समान जो इस प्रकार जानबे वाला या उपासक है ॥

विशेष—यहां पर भी आचार्य ने पूर्व की भांति सम्बन्ध को स्फुट किया है कि ओम् में 'म्' शब्द और ब्रह्मात्मा की सुषुप्तस्थानावस्था अर्थ है इन दोनों में मिति-मापकता-प्रवर्तकता और अपीति-अन्तकता-अन्तिमता सम्बन्ध है यह तो हुआ शब्दशास्त्रसम्मत वैकारिक सम्बन्ध साथ ही आचार्य ने पार-मार्थिक सम्बन्ध भी दर्शाया है कि इन शब्द और अर्थ को जानने वाले या उपासक की ज्ञानसहचरित अवस्था जो हो जाती है वह 'मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद' कथन से बतलाया है सब का मापक-प्रवर्तक हो जाता है प्रवृत्तिदृष्टि-विकास दृष्टि से और अपने संसार का अन्तिम स्वरूप सम्पादन करता है निवृत्ति दृष्टि-संझोच दृष्टि से 'म्' शब्द और सुषुप्तस्थाना-वस्थारूप अर्थ की भांति ।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः 'एकात्मप्रत्ययसारः' प्रपञ्चोपशमः
'शान्तः' शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मना-
ऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ १२ ॥

अथ—(अमात्रः) ओम् में जो यह 'अ' आदि मात्राओं का अभ्यासपूर्वक विरामरूप शब्द है-'अ' आदि मात्राओं का अर्थज्ञानानन्तर शान्त संस्कार रूप शब्द है वह (चतुर्थः-अव्यवहार्यः-एकात्मप्रत्ययसारः प्रपञ्चोपशमः शान्तः शिवोऽद्वैतः) चतुर्थ अव्यवहार्य अर्थात् 'नान्तःप्रज्ञ न बहिःप्रज्ञ' से नेति नेति करके कहा हुआ एकात्मप्रत्ययसार केवल आत्मा में साक्षात् मात्रा स्वरूप

वाला, प्रपञ्चोपशम, शान्त) शिवः; अद्वैत-केवलमात्र अर्थरूप है । यहाँ शब्द अर्थ और सम्बन्ध तीनों परमार्थ रूप हैं यहाँ शब्द भी अव्यक्त है अर्थ भी अव्यक्त है (एवम्-ओङ्कारः-आत्मा-एव) इस प्रकार यह 'ओम्' ब्रह्मात्मा ही है (संविशति-आत्मना-आत्मानं यः-एवं वेद यः-एवं वेद) जो इस प्रकार जानने वाला या उपासक है वह अपने आत्मा से ब्रह्मात्मा में संवेश करता है उससे तादात्म्य समागम सम्बन्ध करता है आत्मसाक्षात् करता है ।

विशेषः—ओम् ब्रह्मगायत्री है, गायत्री में २४ अक्षर होते हैं, इस ओम् गायत्री के चार पाद हैं अतः प्रत्येक पाद में छः छः अक्षर हैं । इस ओम् नामक ब्रह्मरूप गायत्री के चार पाद पीछे क्रमशः आए हैं प्रत्येक पाद में छः छः अक्षर भी आए हैं जैसे प्रथम पाद में 'जागरित स्थानो' बहिःप्रज्ञः^१ सप्ताङ्गः^२ एकोनविंशतिमुखः^३ स्थूलभुग्वै^४ श्वानरः^५ द्वितीयपाद में 'स्वप्न-स्थानो' अन्तःप्रज्ञः^२ सप्ताङ्गः^३ एकोनविंशतिमुखः^४ अविक्तभुक्^५ तैजसः^६ तृतीयपाद में 'सुषुप्तस्थान' प्रज्ञानधनः^२ एकीभूतः^३ चेतोमुखः^४ आनन्दभुक्^५ प्राज्ञः^६ चतुर्थपाद में 'नान्तःप्रज्ञ-अव्यपदेश्यम् [नकाररूप नेति नेति] एकात्मप्रत्ययसार^२ प्रपञ्चोपशम^३ शास्तः शिवम्^४ अद्वैतम्^५ ये छः छः गुणरूप छः छः अक्षर हैं ।

(ख) इस ओङ्कारोपासना में पातञ्जल योगानुसार सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात के भेद से दो प्रकार की समाधि अभीष्ट हैं । सम्प्रज्ञात के चार भेद हैं "वितर्कविचारा- नन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः" (योगदर्शन । समाधि १७ ।) वितर्करूपानुगम से जागरित स्थानी, विचारारूपानुगम से स्वप्न-स्थानी; आनन्दारूपानुगम से सुषुप्तस्थानी और अस्मितारूपानुगम से एकात्म-

प्रत्ययसार की उपासना होती है "एकत्मिका संविदस्मिता" (व्यासः) पश्चात् आगे अद्वैत तक पहुँच कर असम्प्रज्ञात समाधि हो जाती है "विराम-प्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" (योगदर्शन । समाधिपाद । सू० १८) अर्थात् वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम, अस्मितानुगम, समाधियों के अभ्यासपूर्वक विरामानुभव (विराम पद की प्राप्ति) निरोध संस्कारों से विशेष स्वरूप असम्प्रज्ञात समाधि है ।

इस उपनिषद् के "संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद" वचन से योग का भी निरूपण मिलता है, जैसे योगदर्शन में समाधि का लक्षण किया है कि "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" (योगदर्शन । समाधिपाद । सू ३) अर्थात् "अर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव"—"ध्यान ही अर्थमात्र-निर्भास = ध्येयाकार निर्भासस्वरूपशून्य जैसा अर्थात् ध्येयाकार वृत्ति = समाधि"। अथवा 'समाधि = ध्येयाकारवृत्ति' अतः ध्येयाकार वृत्ति बनाना ही समाधि प्राप्त करना है । इसी प्रकार यहां उपनिषद् में "संविशत्यात्मनाऽऽत्मानम् = य एवं वेद" अथवा "य एवं वेद = संविशत्यात्मनाऽऽत्मानम्" अर्थात् तादात्म्य-सम्बन्ध करता है अतमत्व शुद्ध स्वरूप से ब्रह्मात्मा में = जो ऐसे को जानता है, अथवा 'जो ऐसे को जानता है = तादात्म्य सम्बन्ध करता है आत्मत्व शुद्ध स्वरूप से ब्रह्मात्मा में' अतः आत्मत्वशुद्धस्वरूप से ब्रह्मात्मा में तादात्म्यसम्बन्ध करना = ध्येयाकारवृत्ति = अर्थमात्रनिर्भास = समाधि हुई । इस प्रकार इस तुरीयावस्थायुक्त ब्रह्मात्मा की प्राप्ति या उपासना का साधन ज्ञान (परवैराग्य) और योग (अभ्यास) का निर्देश यहां है । पूर्वोक्त जागरितस्थानी आदि लाक्षणिक अवस्थाओं की उपासना के लिये यहां ज्ञान (वैराग्य) और योग (अभ्यास) का स्वरूप सङ्केतित है [इस के लिये उपनिषद् के शब्द, अर्थ, सम्बन्ध का बोधक निम्न कोष्ठक पृष्ठ ३१० पर देखें—]

सं०	शब्द	अर्थ	हेतुरूप सम्बन्ध	उपासक के प्रति पार- मार्थिक सम्बन्ध
१	अ	जागरित स्थानी ब्रह्मात्मा	आप्तेरादिम- त्वद्वा	आप्नोति ह वै सर्वात् कामनादिश्च भवति य एवं वेद
२	उ	स्वप्न- स्थानी ब्रह्मात्मा	उत्कर्षाद्भयत्वाद्वा	उत्कर्षति ह वै ज्ञान- सन्तति समानश्च भवति य एवं वेद
३	म्	सुषुप्त- स्थानी ब्रह्मात्मा	मितेरपीतेर्वा	मिनोति ह वा इदं सर्व- मपीतिश्च भवति य एवं वेद
४	इति (त्रिमा- त्राभ्यास पूर्वक विराम)	एकात्म प्रत्यय सार प्रपञ्चो पशम ज्ञान्त शिव अद्वैत ब्रह्मात्मा	अव्ययहार्य एका- त्वप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम शान्त शिव अद्वैतता	संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद

कोष्ठक में 'शब्द, अर्थ' के हेतुरूप सम्बन्ध आचार्य के वर्णन किये हुए 'आप्तेः-आदिमत्वात्' 'उत्कर्षात्'-उभयत्वात्' 'मितेः-अपीतेः' दर्शाए हैं तथा उपासक के प्रति पारमार्थिक सम्बन्ध भी आचार्य ने दो दर्शाए हैं—'आप्नोति ह वै सर्वात् कामान्-आदिश्च भवति य एवं वेद' उत्कर्षति ह वै ज्ञान-सन्ततिम्-समानश्च भवति य एवं वेद' 'मिनोति ह वा इदं सर्वम्-अपीतिश्च भवति य एवं वेद' । इस पर निम्न मीमांसा देखें । इति